श्रीभाष्यम्

ब्रह्म-सूत्र

श्री १०८श्रीमद्रामानुजाचार्य प्रणित ।

देवनागरी

रसिकानुवाद

श्रीदुर्गाचरण शर्मा 'सांख्य' वेदान्त तीर्थ के

बंगानुवाद अवलम्बन से

प्रकाशक—

बाबू श्रीरामसुन्दरसिंह जी रईस ज़मीदार

गड़बेता ज़िला मेदनीपुर

१००१]   १९५१   [मूल्य ६)

पुस्तक मंगाने का पता—

श्रीरिपुदमनकुमार शरणजी

श्रीलक्ष्मण किला, श्रीअयोध्याजी, जिला फैजाबाद।

Shant Sharma Hiremath
"Kavyateerth"
शास्त्री तृ. वर्ष (Shastri III year)
S.M.V. B.H.U.

* आभास *

21

अवैदिक बौद्धादि धर्मों के आविर्भाव से भारत में जब एक विषम धर्म विप्लव उपस्थित भया, आपात-मधुर बौद्धमत के प्रबल आक्रमण से सुश्री सनातन वैदिक धर्म जब विपर्य्यस्त तथा कृष्ण पक्षीय शशिकला के न्याय प्रति दिन क्षयोन्मुख होते रहे; उसी समय भट्टकुमारिल तथा ज्ञान गुरु श्रीशंकराचार्य्यजी अविर्भूत होकर वेदोक्त कर्म और ज्ञान-पथों को प्रकटित करिके, उस अशास्त्रीय विप्लव को विदूरित करते भये। किन्तु, तब भी भक्त हृदय-धन, भावुक-कण्ठ मणि रूप विमलभक्ति मार्ग अज्ञान के अन्धकूप में निहित रहे; तब भी सम्प्रदाय शुद्ध सुविमल श्रीवैष्णव धर्म के उज्वल आलोक दिग् दिगन्त को उद्भासित नहीं किये; तब भी सन्तप्त मानव हृदय में भक्तिमय शान्ति-सलिल की सुशीतल धारा प्रवाहित नहीं भयो। जीवों के एकान्त प्रयोजनीय उस भक्ति रस को वितरण उद्देश्य से भक्त श्रेष्ठ, भावुक चुड़ामणि, दार्शनिक श्रीमद्रामानुजाचार्य्यजी अवतीर्ण होते भये। आप समझने लगे कि, जीवगण भगवदंश होते हुये भी श्री श्रीसीताराम जी के चिर सेवक, भगवान श्री श्रीसीतारामजी ही उनके मात्रसेव्य तथा भक्तिभावना ही उसका परम साधन। जीव चाहे कितना ही समुन्नत हो, भक्तिव्यतीत कोई भी कभी मुक्ति लाभ में समर्थ नहीं होता है।

आपके चिरवाञ्छित जो सिद्धान्त सो ब्रह्मसूत्र-वेदान्तदर्शन की व्याख्या श्रीभाष्य में अति निपुणता के साथ युक्ति, तर्क, श्रुति, स्मृति तथा पुराणादिकों के सहायता से, आप प्रतिपादन या संस्थापन कर गये हैं। परवर्तिभक्तसम्प्रदाय मूलतः आपही के युक्ति तर्कों पर निर्भर करिके अपने अपने सम्प्रदाय को समर्थन तथा पुष्टि साधन किये हैं।

जो लोग भक्ति मार्ग का प्रकृत तत्त्व को जानना चाहैं, उनके लिय तो 'श्रीभाष्य' अवश्य पाठ्य है ही; इसी की सहायता से वे लोग स्वीय साधन तत्त्व के अनेक गूढ़ मर्मों को सहज में जान सकते हैं।

और जो लोग ज्ञान गुरू श्रीशंकर स्वामीजी के अनुयायी, तिनके लिये भी 'श्रीभाष्य' का पठन पठान अत्यावश्यक। क्योंकि, विस्तृत समालोचना सहित विविध युक्ति, तर्क और प्रमाणों के साहाय्य से, अति गम्भीर भाव से श्रीशंकर-मत को खण्डन की चेष्टा इस 'श्रीभाष्य' में जैसी पायी जाती है तद्रूप और कुत्रापि दृष्ट नहीं होती है; सुतरां इसी के सहायता से वे लोग स्वमत की बलाबल-परीक्षा तथा उभय मतों के सामञ्जस्य और दोष गुणों के तुलना करने में यथेष्ट सुविधा या साहाय्य को पा सकते हैं।

श्री श्री भगवत् कृपा से आज उनहीं महानुभव श्री श्री रामानुजाचार्य्यजी प्रणीत सानुवाद श्रीभाष्य का प्रथम खण्ड प्रकाशित भया। इस खण्ड में ब्रह्मसूत्र की 'चतुः सूत्री' मात्र सन्निविष्ट है। कहना आवश्यक है कि यही 'चतुःसूत्री' ही श्री श्रीरामानुज-मत का सार सर्वस्व रूप आपके अभिप्रेत 'विशिष्टाद्वैतवाद' के अनुकूल तथा प्रतिकूल, में जितने प्रकार के युक्ति तर्क सम्भावित हो सकते हैं सो सभी की, आपने इसी 'चतुःसूत्री' में, विस्तृत समालोचना तथा मीमांसा भी कर दिये हैं। अधिक क्या कहूँ, केवल मात्र 'चतुःसूत्री'-पाठ से ही, आपके अभिमत 'विशिष्टाद्वैतवाद' सो क्या है तद्विषयक युक्ति तर्क और सार सिद्धान्त ही किस प्रकार के हैं, सो सम्पूर्ण रूप से जाना जा सकता है।

अनुवाद सरल, सुखबोध्य तथा भाष्यानुयायी करने की विशेष चेष्टा की गयी है तथा अनुवाद के साहाय्य से, भाष्य के भाव को सयम्क रूप से समझाने के लिये यथा सम्भव चेष्टा की त्रुटि नहीं किये गये। इसी कारण से भाषागत सौन्दर्य्य के तरफ विशेष दृष्टि नहीं कर पाये।

विशेषतः 'ब्रह्मसूत्र'-वेदान्त दर्शन अति दुरूह ग्रन्थ; तदुपरि 'श्रीभाष्य' की भाषा, वाक्य विन्यास तथा तर्क पद्धति अत्यन्त गम्भीर, सहज में भाव को हृदयंगम करना कठिन है। तिसमें फिर, वंगाला, देवनागरी आदि भाषावों में शब्द सम्पत तथा तर्कोपकरण का इतना अभाव है कि उनसे इस प्रकार दुरूह भाष्य का अविकल अनुवाद सो असम्भव है। इसी कारण सर्वत्र अनुवाद की अविकलता सुरक्षित है सो नहीं सो नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थ को सुखवोध्य करने के लिये प्रथमतः सूत्र के नीचे में 'पदच्छेद' में सूत्रस्थ पदों के विश्लेषण तथा सरल अर्थ दिये गये हैं। तन्निम्न में स्वरचित सरल संक्षिप्त टीका तथा तदनुवाद द्वारा भाष्यानुयायी सूत्रार्थ को विवृत किये गये हैं। भाष्य के जटिल अंश को अनायास-वोध्य करने के लिये, जहाँ तहाँ पर 'श्रुत प्रकाशिका' नामक प्राचीन टीका के अंश विशेष को भी उद्धृत किये गये हैं। भाष्य में जो जो वचन प्रमाण उद्धृत हैं उन सबके श्लोक संख्या तथा,मूल ग्रन्थ का नाम आदि दिये गये हैं; जिससे प्रमाणों का वलाबल भी परिचित हो सर्वत्र ही वोधोपयोगी कमा, सेमिकोलन प्रभृति चिह्न प्रदत्त भये हैं। दुर्वोध्य सन्धियों का विश्लेषण भी आवश्यकतानुसार किया गया है।

श्रीकाशीजी, द्राविड़ तथा पयागराज प्रभृति नानास्थान के पांच ठो मूल ग्रन्थों के मेल से, सुसंगत पाठ ही को लिये गये हैं।

उपसंहार में वक्तव्य यह है कि इस दुरूह ग्रन्थ का अनुवाद सम्पादन में हमारे भ्रम प्रमाद पदे पदे परिलक्षित हो सकते हैं। सहृदय पाठक गणोंके अनुग्रह पूर्वक विदित कराने पर संशोधन कर दिया जायगा। यही श्रीभाष्य का प्रथम अनुवाद, अतएव कहना चाहिये—

पदन्यैर्वर्त्मन क्षुण्णं तत्र संञ्चरतोमम ।
पदे पदे प्रस्खलतः सन्तः सन्त्ववलम्बनम् ॥

श्रीदुर्गाचरण शर्मा
तथा देवनागरी अनुवादक
श्रीलक्ष्मणकिला श्रीअयोध्याजी।

❁ श्री श्री सीतारामजू ❁

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

❀ श्री श्रीसद्गुरु चरणकमलेभ्यो नमः   श्री श्रीसीतारामाभ्यां नमः ❀

❀ नमो भगवते वासुदेवाय ❀

ब्रह्मसूत्रम्

श्रीभाष्यसमेतम्

प्रथमोध्यायः

अखिल भुवनजन्मस्थेम भंगादि लीले, विनत विविध भूत व्रात रक्षैकदीक्षे ।
श्रुति शिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे, भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ॥

अर्थात्—समस्त जगत् का सृष्टि स्थिति और लय जिनकी लीला शरणागत सर्व विध प्राणियों की रक्षा करना एकमात्र व्रत, और जो उपनिषद्शास्त्र में विशेपरूप से प्रतिपादित हैं। उस परब्रह्म स्वरूप श्रीनिवास वासुदेवजी में हमारी भक्ति मयी मति हो।

पाराशर्य्य वचः सुधा मुपनिषद् दुग्धाब्धि मध्योद्धृताम्,
संसाराग्नि विदीपन व्यपगत प्राणात्म संजीवनीम् ।
पूर्वाचार्य्यसुरक्षितां बहुमतिव्याघातदूरस्थिताम्,
आनीतां तु निजाक्षरैः सुमनसो भौमाः पिबन्त्वन्हम् ॥

अर्थात—उपनिषत् शास्त्र रूप दुग्ध समुद्र से समुद्धृत, (निकाला हुआ) संसार वह्नि के तीव्र ताप से प्राणात्म हीन अर्थात् परमात्मज्ञान विरहित जीवों की संजीवनी (निस्तार के उपाय) पूर्वतन आचार्यगण द्वारा सुरक्षित, तथापि बहुतर मतभेद (के) से व्याघात के कारण दूरस्थित अबोध्य, पुनश्च भाष्य व्याख्या द्वारा समुपनीत-सुबोध्य रूप में श्रीपराशर सुत वेदव्यासजी की वचन सुधा को भुलोक वासी सुधीगण प्रति दिन आस्वादन कीजिये।

सूत्रस्थरूपद मादाय पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदादि च वर्ण्यन्ते भाष्यम् भाष्यविदो विदुः ॥

अर्थात्—जिसमें सूत्रानुरूप पदों से सूत्रस्थ पदों की व्याख्या की जाती है और व्याख्या-च्छल से अपने पदादि की भी व्याख्या की जाती है। भाष्यवित् पण्डितों ने उसको भाष्य कहा है।

भगवद् बोधायन कृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः। तन्मतानु-सारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते ॥

अर्थात्—भगवान बोधायन कृत ब्रह्मसूत्र की विस्तीर्ण व्याख्या आचार्यों ने संक्षेप से किये हैं, उसी के अनुसार हम अक्षर समूह की व्याख्या करेंगे।

ब्रह्म सूत्र्यते यथायथं निरूप्यते येन तत् ब्रह्मसूत्रम्।

श्रीस्कन्द पुराणे

नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृत युगे स्थितम्, किंचित् तदन्यथा जातं त्रेतायां द्वापरे-खिलम्। संकीर्ण बुद्धयो देवा ब्रह्म रुद्र पुरःसराः, शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमना-मयम्॥ तैर्विज्ञपित कार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः, अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्। चतुर्धा व्यभजत् तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः, शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा॥ कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थ वित्तये, चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमंजसा। निर्विशेषित सूत्रत्वम् ब्रह्मसूत्रस्य चाप्यतः, सविशेषाणि सूत्राणि ह्यपराणि विदो विदुः॥ अल्पाक्षर मसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्, अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थात्—यहां सूत्राक्षर कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति प्रत्यय विभागानुसार जिस सूत्र का अर्थ जैसा संगत है इस भाष्य में उसका वैसा ही किया है स्वकपोल कल्पना, कष्ट कल्पना से कदर्थ नहीं किया गया। व्याख्या शब्द पारिभाषिकार्थ में व्यवहृत होता है। तिसका लक्षण-यथा-

पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पंच लक्षणम्॥

पदच्छेदः-मिलित शब्दों का पृथक् पृथक् निर्देश करना, पदार्थोक्तिः-जिस पदका जो अर्थ वही प्रकाश करना, विग्रहः-समासों का स्पष्ट वाक्य रचना करना, वाक्य योजना—अन्वयार्थ एक वाक्य रचना, आक्षेप समाधान-कोई आपत्ति तथा दोष सम्भावना में उनका परिहार या मीमांसा करनी।

अथातोब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

पदच्छेदः—अथ [अनन्तर] अतः [इस हेतु से] ब्रह्म जिज्ञासा (ब्रह्मको जानने की इच्छा) [करनी उचित है]।

सरलार्थः 'अथ' अनन्तरम्, आदौ वेदाध्ययनेन केवल कर्मणां फलम् अनित्यम्, अत्यन्तम् तारतम्य युक्तं च ज्ञात्वा इत्याशयः (यतः केवल कर्मणः फलमेवमिथं,) ब्रह्मज्ञान फलं तु तद्विपरीतं नित्यं अनन्तं, निरतिशयं तारतम्य रहितं च, अतः अस्माद् हेतोः ब्रह्मजिज्ञासा (कर्तव्या) विचारेण ब्रह्म ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः ॥१॥

अर्थात्—ज्ञान रहित कर्म का फल ध्वंसशील, कमी बेशी के साथ और परिच्छिन्न, तथा ब्रह्म ज्ञान का फल अक्षय अनन्त वो निरतिशय। अतएव विचार के साथ ब्रह्म को जानना आवश्यक हैं ॥ १ ॥

अथस्यात् मंगले प्रश्ने कार्य्यारम्भेष्वनन्तरे ।
अधिकारे प्रतिज्ञायामन्वादेशादिषु क्वचित् ॥

अर्थ—अथ शब्द का अर्थ-मंगल, प्रश्न, कार्य्यारम्भ, आनन्तर्य्य, [किसी के बाद] अधिकार, प्रतिज्ञा तथा अन्वादेश या कथितानुकथन करना है तिनमे से आनन्तर्य्य अर्थं इस सूत्र में परिग्रहण किया गया है। इति।

अत्राथ शब्द आनन्तर्य्यं भवति, अतः शब्दो वृत्तस्य हेतुभावे, अधीत सांग सशिरस्क वेदस्य अधिगताअल्पास्थिर फल केवल कर्म ज्ञान तया संजातमोक्षाभिलाषस्य, अनन्त स्थिर फल ब्रह्म जिज्ञासाह्यनन्तर भाविनी ॥ २ ॥

ब्रह्मणोजिज्ञासा-ब्रह्म जिज्ञासा। ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी, कर्तृ कर्मणोः कृतीति विशेष विधानात्। यद्यपि सम्बन्ध सामान्य-परिग्रहेऽपि जिज्ञासायाः कर्म्मापेक्षत्वेन कर्मार्थत्व सिद्धिः [तथापि आक्षेपतः प्राप्तादाभिधानिकस्यैव ग्राह्यत्वात् कर्मणि षष्ठी गृह्यते] न च 'प्रतिपद विधाना षष्ठी न समस्यते' इति कर्मणि षष्ठ्याः समास निषेधः शंकनीयः ? 'कृद्योगा षष्ठी समस्यते" इति प्रति प्रसव सद्भावात् ॥३॥

अथ शब्दार्थविचारः

इस सूत्र में अथ शब्द का अर्थ और अतः शब्द का अर्थ-पूर्वागत विषय का हेतुत्व अर्थात् – पुर्ववर्ति कर्मकांड से अवगत कर्म फल अनित्य, अस्थिर इत्यादि ज्ञानही ब्रह्मजिज्ञासा उत्पत्ति का हेतु। कारण यह कि, वेदांग और उपनिषत् शास्त्र पाठ से जाना गया है कि केवल ज्ञान रहित कर्म का फल अल्प स्थिर व ध्वंसशील, तथा ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त और अक्षय। तब हृदय में मोक्षाभिलाष उपस्थित हुआ और तदनन्तर जिज्ञासा भी सम्भव है ॥२

ब्रह्म जिज्ञासा का अर्थ ब्रह्म को जानने की इच्छा 'कर्तृ कर्मणोः कृति' इस विशेष विधान से 'ब्रह्मणः' इसमें कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है। जिज्ञासा मात्र ही जिज्ञास्य या जिज्ञासा के कर्म की अपेक्षा रखती है। अतएव, यद्यपि सामान्य कर्म सम्बन्ध रूप अर्थ स्वीकार करने से भी, तात्पर्य में ब्रह्म का कर्मत्व लाभ हो सक्ता है, तथापि आक्षेप लब्ध-प्रकारान्तर प्राप्त अर्थ से आभिधानिक-शब्द लब्ध अर्थ ग्रहण करना ही समुचित है। इसलिये यहां कर्म मे ही षष्ठी स्वीकार करनी चाहिये-सामन्य सम्बन्ध में नही। शंका, प्रतिपद् अर्थात् कर्म में षष्ठी होने से समास नहीं हो सक्ता है, फिर ब्रह्म जिज्ञासा कैसे पद बनेगा। समाधान- कृद्योगा षष्ठी समस्यतें' इस विशेष विधान के साथ हो सक्ता है ॥ ३

ब्रह्म शब्देन स्वभावतो निरस्त निखिल दोषोऽनवधिकातिशयासंख्यय कल्याण गुण गणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। सर्वत्र बृहत्व-गुणयोगेनहि ब्रह्म शब्दः। बृहत्वं च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकाशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः, सच सर्वेश्वर एव अतोब्रह्मशब्दस्तत्रैव मुख्यवृत्तः। तस्मादन्यत्र तद्गुणलेश योगादौपचारिकः अनेकार्थ कल्पनायोगात् भगवच्छब्दवत्, तापत्रयातुरैरमृतत्वाय स एव जिज्ञास्यः। अतः सर्वेश्वरो जिज्ञासा कर्म भूतं ब्रह्म। ज्ञातुमिच्छा-जिज्ञासा, इच्छया इष्यमाण प्रधानत्वाद् इष्यमाणं ज्ञानमिह विधीयते ॥ ४ ॥

मीमांसा-पूर्वभाग-ज्ञातस्य कर्मणोऽल्पास्थिर फलत्वादुपरितनभागवसेयस्य ब्रह्मज्ञानस्यानन्ताक्षय फलत्वाच्च पूर्व वृत्तात् कर्म ज्ञानादनन्तरं तत एव हेतोः ब्रह्म ज्ञातव्यमित्युक्तम् भवति। तदाह वृत्तिकारः वृत्तात् कर्माधिगमादनन्तरं ब्रह्म विविदिषा-इति। वक्ष्यति च कर्म ब्रह्ममीमासयोरैकशास्त्र्यं- संहितमेतत् शारीरकं जैमिनीयेन षोडश लक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः'' इति। अतः प्रतिपिपादयिषितार्थ षट्कभेदवदध्यायभेदवच पूर्वोत्तर मीमांसयोर्भेदः ॥ ५ ॥

मीमांसा शास्त्रं- अथातो धर्म जिज्ञासा' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्येव मन्तं संगति विशेषेण विशिष्ट क्रमम्। तथाहि प्रथमं तावत् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यं' इत्यध्ययनेनैव स्वाध्याय-शब्दवाच्य-वेदाख्याक्षरराशेर्ग्रहणं विधीयते ॥ ६ ॥

ब्रह्म शब्द स्वाभाविक ही सर्वदोष विवर्जित; अवधि और तारतम्य रहित अनन्त कल्याण गुण गण मय पुरुषोत्तम को समझाता है। ब्रह्म शब्द सर्वत्र ही बृहत्व गुण का योग या सम्बन्ध अनुसार प्रयुक्त होता है। जिसमें स्वरूपतः तथा गुणत: असीम और निरतिशय बृहत्व वर्तमान है। सोई ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ है। वही गुणों का आंशिक सम्बन्ध से अन्यत्र भी जो ब्रह्म शब्द प्रयुक्त होता है, सो भगवत् शब्दवत् औपचारिक अर्थात गौणार्थ प्रकाशक, न चेत् एक शब्द का अनेकार्थ कल्पना करना पड़ेगा। त्रिताप तापित जनों के लिये अमृतत्व लाभ निमित्त सोई एक मात्र जिज्ञास्य है। अतएव-सर्वत्र ही जिज्ञासा का कर्म स्वरूप ब्रह्म [और कोई नहीं] जिज्ञासा का अर्थ-जानने की इच्छा से [में] इष्यमाण अर्थात् अभीप्सित विषय ही प्रधान, इसी कारण से यहाँ अभीप्सित ज्ञान ही को समझना चाहिये ॥ ४ ॥

अभिप्राय यह है कि—मीमांसा का पूर्वभाग में कर्म फल का अल्पत्व और अनित्यत्व जाना जाता है, और उत्तर भाग में ब्रह्मज्ञान-फल का अनन्तत्व अक्षयत्व विदित होता है। इसी ज्ञान के फल से प्राथमिक कर्म तत्व अवगति के बाद ब्रह्म जिज्ञासा की आवश्यकता उपलब्धि होती है। वृत्तिकार भी पूर्वसम्पन्न कर्मज्ञान के अनन्तर ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है ऐसे कहे हैं। और बाद को भी कहेंगे कि 'यह शारीरक सूत्र जैमिनि कृत कर्म मीमांसा सहित संहित' या सम्मिलित होकर षोडशाध्याय पूर्ण है।'' जैसे प्रतिपाद्य विषय के भेद से पटक अध्याय आदिक भेद होते हैं। यह पूर्व और उत्तर मीमांसा के प्रभेद भी वैसा ही है ॥ ५ ॥

पूर्व मीमांसा प्रथम सूत्र-'अथातो धर्म जिज्ञासा' से लेकर उत्तर मीमांसा का शेष सूत्र 'अनावृत्ति: शब्दात्' पर्यन्त सूत्र समष्टि एक ही मीमांसा शास्त्र संगति या सम्बन्ध विशेष अनुसार पूर्व पर रूप से विशेष क्रम युक्त मात्र है। सो इस प्रकार जानिये प्रथमतः 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' अर्थात् वेदाध्ययन कीजिये, यह अध्ययन विधि से 'स्वध्याय' शब्दोक्त अक्षर समूहात्माक वेद का ग्रहण या अध्ययन विहित होता है ॥ ६ ॥

तच्चाध्ययनं किं रूपं ? कथं च कर्तव्यं ? इत्यपेक्षायां "अष्टवर्षं ब्राह्मण-मुपनयीत, तमध्यापयेदित्यनेन—श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथा विधि । युक्त श्छंदांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्द्ध पंचमान् ।" मनु-४-९५ । इत्यादि व्रत-नियम विशेषोपदेशैश्चापेक्षितानि विधीयन्ते ॥ ७ ॥

एवं सत् सन्तान प्रसूत-सदाचार-निष्ठात्मगुणोपेत-वेदविदाचार्योपनीतस्य व्रत नियम विशेष युक्तस्याचार्य्योच्चारणानूच्चारणमक्षरराशि ग्रहण फलमध्ययनमित्यवगम्यते । अध्ययनं च-स्वाध्याय संस्कारः "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इति स्वाध्यायस्य कर्मत्वा वगमात् । संस्कारो हि नाम कार्यान्तर योग्यताकरणम् । संस्कार्यत्वं च स्वाध्यायस्य युक्तं, धर्मार्थ-काम-मोक्ष रूप-पुरुषार्थ चतुष्टय-तत्साधनाव-बोधित्वात्, जपादिना स्वरूपेणापि तत्साधनत्वाच्च । एवमध्ययन विधिर्मन्त्रवत् नियमवदक्षरराशि ग्रहण मात्रे पर्य्यवस्यति । अध्ययन गृहीतस्य स्वाध्यायस्य स्वभावत एव प्रयोजनवदर्थावबोधित्व दर्शनात् ।

वह अध्ययन क्या है और किस प्रकार से किया जाय ? इसी आकांक्षा से 'अष्ट वर्ष वयस्क ब्राह्मण को उपनीत करके अध्ययन कराना' । ब्राह्मण श्रावण या भाद्रमास की पूर्णिमा तिथिको यथा विधिउपाकर्म कराके सार्धपंच मास काल स्थिर चित्त से वेद अध्ययन करे'-इत्यादि रूप व्रत नियम विशेष का उपदेश से वेद पाठ अपेक्षित सकल विषय [विहित] विधिवत् प्रतिष्ठित है ॥ ७ ॥

ऐसा जाना जाता है— कि सद्वंश सम्भूत, सदाचार पूत [अक्रोधादि] आत्म गुण सम्पन्न, वेदज्ञ आचार्य कर्तृक उपनीत और विशेष विशेष व्रत तथा नियम सम्पन्न [ब्रह्मचारी] शिक्षा के उद्देश में आचार्यों के उच्चारण के अनन्तर अक्षर समूह का उच्चारण करै सोई प्रकृत अध्ययन वेद 'अध्ययन' करना इस वाक्य से जाना जाता है कि वेद ही अध्ययन क्रिया का कर्म है । सुतरां अध्ययन कार्य को वेद का एक प्रकार संस्कार कहना चाहिये, संस्कार अर्थ कार्य विषय में योग्यता सम्पादन करना । हेतु यह है कि वेद धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चतुर्विध पुरुषार्थ तथा तदुपाय प्रतिपादक एवं जपादि द्वारा स्वयं भी चतुर्विध पुरुषार्थ साधक अतएव उसका संस्कार्यत्व या संस्कार होना चाहिये । उसी युक्ति के अनुसार वेदाध्ययन की विधि भी मन्त्र के न्याय केवल अक्षर समूह ग्रहणार्थ में पर्यवसित होती है । कारण, अध्ययन गृहीत वेद ही का प्रयोजनीय अर्थ प्रकाश करने का स्वभाव परिदृष्ट होता है ।

गृहीतात् स्वाध्यायादवगम्यमानान् स्वप्रयोजनवतोऽर्थान् आपाततो दृष्टवा-तत् स्वरूप प्रकार विशेष निर्णय फल वेद वाक्य विचार रूप मीमांसा श्रवणेऽधी-तवेदः पुरुषः स्वयमेव प्रवर्तते ।

तत्र कर्म विधि स्वरूपे निरूपिते कर्मणामल्पास्थिर फलत्वं दृष्ट्वाध्ययन गृहीत स्वाध्यायैक देशोपनिषद्वाक्येषु चामृतत्वरूपानन्तस्थिर फला पात प्रतीतेस्त-न्निर्णय फल वेदान्त वाक्य विचार रूप शारीरक मीमांसा यामधिकरोति ॥ ८ ॥

तथा च वेदान्त वाक्यानि केवल कर्म फलस्य क्षयित्वं, ब्रह्म ज्ञानस्य चाक्षय-फलत्व दर्शयन्ति–'तद्यथेह कर्म–जितो लोकः क्षीयते एव मेवामुत्र पुण्य जितो लोकः क्षीयते'–छान्दोग्योपनिषत्, ८–१–६ । "अन्तवदेवास्य तद्भवति"–बृहदारण्यको-पनिषत्–३–८–१० । "नह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं कर्मभिः"-कठोपनिषत् २-१० । 'प्ल-वाह्येते अदृढायज्ञरूपाः' मंडुकोपनिषत् १-२-७ । परीक्ष्य लोकान् कर्म जितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्य कृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् ससित्-पाणिःश्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'। 'तस्मै सविद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय समा-न्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्म विद्याम् ।' मंडुकोपनिषत् १-२-१०-१३ 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्; न पुनर्मृत्यवे" तैत्तिरीयोपनिषत् २-१-१ "तदेकम्पश्यति, न पश्यो मृत्युम् पश्यति" छान्दो-७-२६-२ 'स स्वराड् भवति, तमेवं विद्वानमृत इह भवति" नृसिंह पूर्व तापनी १-६ । "तमेव विदित्वाति मृत्यु-मेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"–श्वेताश्वतरोपनिषत् ३-८ । पृथगात्मानं प्रेरि तारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" श्वेत १--६ । इत्यादीनि ॥ ९ ॥

वेदवित् पुरुष अधीतवेद से प्रयोजनीय विषय समूह आपाततः अवगत होय के उन सब के स्वरूप और प्रकार गत विशेष भावों को निर्धारण के वास्ते वेद वाक्य विचारात्मक मीमांसा शास्त्र श्रवण की प्रवृति अपने आप होती है । वही कर्म मीमांसा से कर्म विधि जानि के समझ लेता है कि कर्म का फल अनित्य और अल्प, तब वह अधीतवेदैक देश–उपनिषद् में अनन्त तथा अक्षय मोक्ष फल की बात साधारणतः जानकर फिर उसी को निर्णायक, वेदान्त विचारात्मक शारीरक मीमांसा शास्त्र का अधिकारी या प्रवृत्त होता है ॥ ८

(ननु च, सांग वेदाध्ययनादेव कर्मणां स्वर्गादि फलत्वं स्वर्गादीनां च क्षयित्वं, ब्रह्मोपासनस्या मृतत्वफलत्वं च ज्ञायतएव। अनंतरं मुमुक्षुर्ब्रह्म जिज्ञासायामेव प्रवर्ततां, किमर्थो धर्मविचारापेक्षा ?

एवं तर्हि शारीरक मीमांसायामपि न प्रवर्ततां ? सांग वेदाध्ययनादेव कृत्स्नस्य ज्ञातत्वात्। सत्यं आपाततः प्रतीतिर्विद्यत एव, तथापि न्यायानुगृहीतस्य वाक्यस्यार्थ निश्चायक त्वाद् आपाततः प्रतीतोप्यर्थः संशय-विपर्ययौ नातिवर्तते अतस्तन्निर्णयाय वेदांत वाक्य विचारः कर्तव्य इति चेत् ? तथैव धर्मविचारोपि कर्तव्य इति पश्यतु भवान्। १०। श्रीशंकरप्रश्न—)

वेदान्त वाक्य भी ज्ञान रहित कर्म फल का क्षयित्व तथा ब्रह्मज्ञान फल रूप मोक्ष का नित्यत्व दर्शाशय रहे हैं।—"इस लोक में कृषि प्रभृति कर्मार्जित लोक अर्थात् शस्यादि भोग्य वस्तु जैसे, भोग से क्षय प्राप्त होता है, उसी तरह परलोक में भी पुण्य कर्म लब्ध लोक स्वर्गादि क्षय प्राप्त होता है" इसका—ज्ञान रहित कर्मों का सो-कर्म फल ध्वंस प्राप्त होता है। कर्मियों ने अध्रुव या अनित्य कर्म राशि से ध्रुव मोक्ष फल को प्राप्त नहीं होते हैं "यह यज्ञ समूह दृढ़तर भोला नहीं है ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति, कृत अर्थात् कर्म द्वारा अकृत-नित्य-मोक्ष लाभ नहीं करते है" इस प्रकार से कर्म लब्ध फलों की परीक्षा लेकर निर्वेद को प्राप्त होते हैं, वह- जिज्ञासु ब्रह्म विज्ञान लाभ निमित्त समित् पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ गुरु के समीप उपस्थित हो, वह श्री गुरुजी दयापूर्वक, सम्पूर्ण रूप से, प्रशान्त चित्त और संयतेन्द्रिय उस उपस्थित शिष्य को ब्रह्मविद्याययायथ रूप उपदेश दें, जिससे अक्षय सत्य पुरुष को अवगत हो सकै। "ब्रह्मवित् व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त होता है। पुनर्वार मृत्यु प्राप्त नहीं होता है। केवल एक ही वस्तु को दर्शन कराता है, ब्रह्मदर्शी मृत्यु को नहीं देखता" "वह स्वराज होते हैं उनको इस प्रकार जानकर अमृतत्व लाभ-मृत्यु को अतिक्रम करते हैं, मोक्ष प्राप्ति का और पथ नहीं है" "प्रेरक आत्मा को पृथक् भाव से मनन करके उनका कृपाभाजन होते हैं उसी से मोक्ष प्राप्त होते हैं" इत्यादि-॥ ६ ॥

ननु च ब्रह्म जिज्ञासा यदेव नियमेनापेक्षते, तदेव पूर्ववृत्तं किंचिद् वक्तव्यम् न धर्म विचारापेक्षा ब्रह्मजिज्ञासाया: अधीत वेदांतस्यानधिगत कर्मणोऽपि वेदांत वाक्यार्थ-विचारोपपत्ते: । कर्मांगाश्रयाण्युद्गीथाद्युपासनान्यत्रैव चिंतंत्ये, तदन-धिगत कर्मणो न शक्यं कर्तुमिति चेत् ? अनभिज्ञोहि भवान शारीरक मीमांसा शास्त्र-विज्ञानस्य । अस्मिन् शास्त्रेऽनाद्य विद्याकृत-विविध भेददर्शनतन्निमित्त-जन्म-जरामरणादि सांसारिक दु:ख सागरनिमग्नस्य निखिल दु:ख मूल भूत मिथ्या-ज्ञान निवर्हणायात्मैकत्व-विज्ञानं प्रतिपिपादयिषितम् , अस्यहि भेदावलम्बि कर्म विज्ञानं क्वोप युज्यते ? प्रत्युत विरुद्ध मेव । उद्गीथादि विचारस्तु कर्म शेष भूत एव ज्ञान स्वरूपत्वा विशेषादिहैव क्रियते, सतु न साक्षात् संगत: अतोयत्प्रधानं शास्त्रं, तदपेक्षितमेव पूर्ववृत्तं किमपि वक्तव्यम् ॥ ११ ॥

प्रश्न यह है कि वेद वेदांग आदि अध्ययन से ही जब जाना जाता है कि कर्मों का फल स्वर्गादिफल क्षयशील तब तो मुमुक्षु जन को चाहिये कि केवल वही एक ब्रह्म जिज्ञासा ही में प्रवृत्त हों, धर्म जिज्ञासा में फिर उनका क्या प्रयोजन है ? उत्तर अगर ऐसा ही हो तो वेद वेदांग ही से तो सभी जाना गया फिर शारीरक मीमांसा ही में प्रवृत्त होने की क्या आवश्यकता ? (श्रीशंकरोक्ति) सत्य है साधारण ज्ञान मात्र उनका है । लेकिन, न्यायानु-मोदित वाक्य ही जब अर्थ निश्चय का कारण है तब कोई अर्थ अपातत: या अविचारित भाव से परिज्ञात होकर भी संशय विपर्यय को अतिक्रम नहीं कर सकता । अतएव उसके निर्णय निमित्त वेदांत विचार करना आवश्यक है। (श्रीरामानुजोक्ति) ठीक उसी रीति से धर्म विचार का भी आवश्यकता, वादी को विचार के साथ मानने योग्य ही है॥ १०

अगर ऐसा कहा जाय कि, उसमें कर्मांग सापेक्ष उद्गीथादि उपासना का भी उल्लेख है, इसलिये कर्मकांड अनभिज्ञ लोग उसका अनुष्ठान नहीं कर सकते ? आप (श्रीरामानुज) इस शारीरक मीमांसाशास्त्र के अर्थ विज्ञान में अनभिज्ञ । कारण-इस शास्त्र में, अनादि अविद्या से जो नानाविध भेद ज्ञान उपस्थित होता है, वही भेद ज्ञान जनित जन्म, जरा मरणादि भय सांसारिक दु:ख सागर-निमग्न व्यक्ति के दु:ख राशि का मूल कारण रूप ज्ञान

वाढं, तदपेक्षितं च कर्मज्ञान मेव, कर्म समुच्चिताज् ज्ञानादपवर्ग श्रुतेः। वक्ष्यति च 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववद्'। ब्रह्मसूत्रम् ३-४-२६। अपेक्षित च कर्मण्यज्ञाते केन समुच्चयः, केन न, इति विभागो न शक्यते ज्ञातुम्। अतस्तदेव पूर्ववृत्तम्॥ १२॥

नैतद् युक्तम्, सकल विशेष प्रत्यनीक-चिन्मात्र ब्रह्मविज्ञानादेवाविद्यानिवृत्तेः अविद्या निवृत्तिरेवहि मोक्षः। वर्णाश्रम विशेष साध्य साधनेति कर्तव्यताधनंत विकल्पास्पदं कर्म सकल भेद दर्शन निवृत्तिरूपाज्ञाननिवृत्तेः कथमिव साधनं भवेत्? श्रुतयश्च कर्मणामनित्य फलत्वेन मोक्ष विरोधित्वं ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं च दर्शयंति-'अंतवदेवास्यतद् भवति'-बृहत्-३-८-१०। 'तद्यथेहकर्म जितोलोकः क्षीयते' एवमेवामुत्रपुण्यजितोलोकः क्षीयते छान्दो ८-१-६। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तैत्ति० २-१-१। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' मुण्डक-३-२-६। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' श्वेताश्व ३-८। इत्यादि॥ १३॥

निवारण के लिये आत्मैकत्व ज्ञान प्रतिपादित भया है। भेद सापेक्ष कर्मज्ञान इसके उपयोगी कैसे होगा? वलिक विरुद्ध ही होगा उद्गीथादि उपासना कर्मांग होते हुए भी ज्ञानस्वरूप है। इसी हेतु से यहाँ भी विचार किया गया है। किंतु वह उसके साक्षात् सम्बन्ध में यहां संगत या आवश्यक नहीं है। अतएव शास्त्र का जो प्रधान प्रतिपाद्य तदपेक्षित कोई विषय को पूर्ववृत्त रूप निर्देश करना चाहिये॥ ११॥

श्रीरामानुज-अच्छीबात है, कर्म विज्ञान हो तो ज्ञान का अपेक्षित है, कारण यह है कि, श्रुति कह रही है 'कर्म सहकृत ज्ञान से मुक्ति होती है'। और सूत्रकार भी कहेंगे कि 'विद्यालाभ में समस्त कर्म की अपेक्षा है' श्रुति में भी यज्ञादि कर्मों का अपेक्षणीयत्व उक्त ही है। तथापि योग्यता देखि के विचार करना चाहिये-जैसे अश्व वहन,योग्य होने पर भी उससे हर आदि नहीं जोता जाता है किन्तु शकटादि वहन कराया जाता है उसी तरह, ज्ञान लाभ के अनुकूल कर्म ही ग्रहणीय है। और तत् प्रतिकूल कर्म समूह वर्जनीय है। ज्ञानोपेक्षित उस कर्मकांड में विशेष ज्ञान न होने से, किसके साथ समुच्चय है किसके साथ नहीं है इस विभाग को नहीं जान सकते। अतएव कर्म विज्ञान ही पूर्ववृत्त॥ १२॥

यदपि चेदमुक्तम्, यज्ञादि कर्मापेक्षा विद्येति, तद्वस्तु विरोधात् श्रुत्यक्षर पर्यालोचनया चांतःकरणनैर्मल्य द्वारेण विविदिषोत्पत्तावुपयुज्यते, न फलोत्पत्तौ विविदिषन्तीति श्रवणात्। विविदिषायां जातायां ज्ञानोत्पत्तौ शमादीनामेवान्तरं-गोपायतां श्रुतिरेवाह, 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्'-बृहदा-४-४-२३ ॥ १४ ॥

श्रीशंकर-यह बात युक्ति युक्त हो नहीं सकती। क्यों कि सर्व विध भेद रहित शुद्ध चिन्मय ब्रह्मज्ञान ही से अविद्या की निवृत्ति होती है वही मोक्ष रूप है। अतएव वर्णाश्रम गत भेद-पार्थक्य तथा साध्य साधन और इति कर्तव्यता प्रभृति अनन्त भेद सापेक्ष कर्म समूह कैसे, सर्व प्रकार भेदबुद्धि निवृत्ति रूप अज्ञान निवृत्तिका कारण होगा। 'ब्रह्मज्ञानी का सब कर्म शांत या क्षयशील होता है। इस लोक में कर्म लब्ध लोक [शस्यादि] क्षय प्राप्त होता है, पुण्य लब्ध स्वर्गादि लोक भी ठीक उसी तरह क्षय को प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परमपद को प्राप्त होते हैं। ब्रह्मविद् ब्रह्म ही होते हैं। उनको जानकर मृत्यु को अतिक्रम करते हैं।' इत्यादि श्रुतियों ने भी, अनित्य फल उत्पादक कर्मों का मोक्ष विरोधित्व और एक मात्र ब्रह्मज्ञान का मोक्ष साधनत्व ज्ञापन कर रहे हैं॥ १३ ॥

और बात है-'विद्या या, आत्मज्ञान यज्ञादि कर्म सापेक्ष' इसके अनुकूल जो श्रुति में कहा गया है सो भी वस्तु विरोधी हैं। उस कारण से, और श्रुति की विविदिषा पद अर्थ पर्यालोचना से भी जाना जाता है कि-अन्तःकरण की निर्मलता संपादन से ही-विविदिषा जानने की इच्छा होने ही में उसकी उपयोगिता, फलीभूत ज्ञानोत्पादन में नहीं। क्यों कि, विविदिषंति यहां इतना ही मात्र श्रुत भया। 'शान्त, दान्त, उपरत तितिक्षु और समाहित होय के आत्मा ही में आत्मा को देखना, यह श्रुति, विविदिषा समुत्पत्ति के बाद शमादि साधन ही को ज्ञानोत्पत्ति का अंतरंग उपाय रूप निर्देश कर रहे हैं॥ १५ ॥

तदेवं जन्मान्तर शतानुष्ठितानभि संहित फल विशेष कर्म मृदित कषायस्य विविदिषोत्पत्तौ सत्यां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' छन्दो ६-२-१। 'सत्यं ज्ञान मनंतं ब्रह्म'-तैत्ति २-१-१। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्'- श्वेता ६-१६। 'अयमात्माब्रह्म'-बृहदा-२-५-१६ 'तत्त्वमसि'-छान्दो-६-८-४ इत्यादि वाक्य जन्य ज्ञानादेवाविद्या निवर्तते। वाक्यार्थ ज्ञानोपयोगीनि च श्रवणमनननिदिध्यासनानि। श्रवणं नाम वेदान्त वाक्यान्यात्मैक्य विद्या प्रतिपादकानीति तत्वदर्शिन आचार्याद् न्याय युक्तार्थ ग्रहणम्। एवमाचार्योपदिष्टस्यार्थस्य स्वात्मन्येव युक्तमिति हेतुतः प्रतिष्ठापनं-मननम्। एतद्विरोध्यनादिभेद वासना निरसनायास्यार्थस्यानवरत भावना निदिध्यासनम्। एवं श्रवण मननादिभिर्निरस्त समस्त भेद वासनस्य वाक्यार्थ ज्ञानमविद्यां निवर्तयतीत्येवं रूपस्य श्रवणस्यावश्यापेक्षितमेव पूर्ववृत्तं वक्तव्यम्। तच्च नित्यानित्य वस्तु विवेकः शम दमादि साधन सम्पद्, इहामुत्र च फलभोग विरागः मुमुक्षुत्वं चेत्येतत् साधन चतुष्टयम्। अनेन विना जिज्ञासाऽनुपपत्तेः। अर्थस्वभावादेवेदमेव पूर्ववृत्तमिति ज्ञायते ॥१५॥

अत एव इस तरह से, शत शत जन्म निष्काम कर्म को अनुष्ठान से जिसकी कामनायें विध्वस्त हो जाती हैं उसकी विविदिषा या ज्ञानेच्छा प्रादुर्भूत होती है। अनन्तर, 'हे सौम्य सृष्टि के पूर्व में यह जगत् एक अद्वितीय सत ब्रह्म स्वरूप रहा'। 'ब्रह्म अनन्त सत्य और ज्ञान स्वरूप' ब्रह्म, निष्कल अर्थात् अंश शून्य, निष्क्रिय, शान्त, निर्दोष और मालिन्य रहित'। 'यह आत्माही ब्रह्म' तुम वह ब्रह्म स्वरूप' इत्यादि वाक्यों से जाना जाता है कि इनही वाक्यों के ज्ञान से अविद्या निवृत्ति होती है श्रवण मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता है। 'तत्वदर्शी आचार्यों से वेदान्त वाक्य सकल आत्मैकत्व ज्ञान प्रतिपादक'-इस प्रकार युक्ति युक्त वाक्यार्थ के ग्रहण का नाम 'श्रवण'। आचार्योपदिष्ट विषय 'इसी प्रकार' ऐसे विचार के साथ आत्मविश्वास स्थापन का नाम 'मनन' इस एकत्व ज्ञान का प्रतिपक्ष अनादि भेद बुद्धि तथा तत् संस्कार दूर करने के लिये सदाकाल एकही विषय की भावना का नाम निदिध्यासन। इस विधि (के) श्रवण मननादि से जिसकी भेद वासना अपनीत

एतदुक्तम्भवति, ब्रह्मस्वरूपाच्छादिकाविद्या मूलमपारमार्थिकम् भेदनदर्शन मेव बन्धमूलम्। बन्धश्चापारमार्थिकः सच स मूलोऽपारमार्थिकत्वादेव ज्ञाने नैव निवर्तते। निवर्तकं च ज्ञानं तत्वमस्यादि वाक्य जन्यम्। तस्यै तस्य वाक्य जन्य ज्ञानस्य स्वरूपे, तदुत्पत्तौ, कार्ये वा कर्मणोनोपयोगः, विविदिषायामेवतूपयोगः। सो च पापमूल रजस्तमोनिवर्हणद्वारेणसत्वविवृद्ध्या भवतीतीममुपयोगमभिप्रेत्य 'ब्राह्मणाविविदिपन्ती' इत्युक्तमिति। अतः कर्म्म ज्ञान स्यानुपयोगादुक्तमेव साधन-चतुष्टयं पूर्व्ववृत्तमिति वक्तव्यम् ॥ १६ ॥

हुई है (तत्वमसि इत्यादि) वाक्य जनित ज्ञान उसी के अविद्या की निवृत्ति कर सकती है। अतएव उक्त प्रकार 'श्रवण में जो अवश्यापेक्षित, ऐसे कोई बिषय को पूर्ववृत्त कहना चाहिये। सो क्या है? सोई नित्यानित्य वस्तु का विवेक शम दमादि साधन (शम,दम, उपरति, तितिक्षा समाधि और श्रद्धादि षट् सम्पत्ति) ऐहिक तथा पारलौकिक फल भोग में वैराग्य और मुमुक्षुत्व यह चतुर्विध साधन। क्यों कि यह साधन चतुष्टय के बिना जिज्ञासा ही नहीं हो सकती, अतएव वस्तु का स्वभाव अर्थात् कार्य कारण भाव पर्यालोचना से समझा जाता है, कि हेतु श्रवणापेक्षित पूर्ववृत्त का यही साधन चतुष्टय ॥ १५ ॥

श्रीरामानुज—इस विषय में कहना यह है कि, अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष है, और वह निवृत्ति भी ब्रह्मज्ञान से होती है, यह जो कहा गया है सो मान लिया, किन्तु वेदान्त वाक्यों ने जो अविद्या निवृत्ति के लिये ज्ञान का विधान दिये हैं सो ज्ञान किस प्रकार का है। सो विवेचना करनी चाहिये। क्या वह ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान मात्र? अथवा वाक्यार्थ ज्ञान मूलक उपासना। यहां वाक्य जन्य ज्ञान, अर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि विधान व्यतीत केवल वाक्य ही से वह सिद्ध हो सकता है, और केवल वाक्यार्थ ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति भी नहीं देखी जाती ॥ १६ ॥

अत्रोच्यते, यदुक्तमविद्या निवृत्तिरेवहि मोक्षः, सा च ब्रह्म विज्ञानादेव भवतीति, तदभ्युपगम्यते। अविद्या निवृत्तये वेदान्तवाक्यैर्विधित् सितं ज्ञानं किं-रूपमिति विवेचनीयम्। किं वाक्याद्वाक्यार्थ ज्ञानमात्रम्? उत तन्मूल मुपासनात्मकं ज्ञानमिति? न तद्वाक्यजन्यं तस्य विधानमन्तरेणापि वाक्यादेव सिद्धेः तावन्मात्रेणाविद्या निवृत्यनुपलब्धेश्च। न च वाच्यं भेद वासनायासनिरस्तायां वाक्यमविद्यानिवर्तकं ज्ञानं न जनयति जातेऽपिसर्वस्य सहसैव भेद ज्ञाना निवृत्तिर्न दोषाय, चन्द्रैकत्वे ज्ञातेपि द्विचंद्र ज्ञानानिवृत्तिवत्, अनिवृत्तमपिच्छिन्न मूलत्वेन न बंधाय भवतीति! सत्यां सामग्र्यांज्ञानानुत्पत्यनुपपत्तेः, सत्यामपि विपरीत वासनायामाप्तोपदेश लिंगादिभि र्बाधक ज्ञानोत्पत्ति दर्शनात् सत्यपि वाक्यार्थ ज्ञानेऽनादिवासनया सात्रया भेदज्ञानमनुवर्तत इति भवता न शक्यते वक्तुम्, भेदज्ञान सामग्र्या अपि वासनाया मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्पत्त्यैव निवृत्तत्वात्। ज्ञानोत्पत्तावपि मिथ्यारूपायास्तस्या अनिवृत्तो निवर्तकांतराभावात् कदाचिदपि नास्या वासनाया निवृत्तिः॥ १७॥

यह नहीं कहा जा सकता कि भेद संस्कार निवृत्ति न होने से, वाक्य निचय अविद्या निवारक ज्ञान उत्पादन नहीं कर सके। जैसे-चन्द्र एक-ऐसा ज्ञान होते हुए भी द्विचन्द्र ज्ञान रूप भ्रम, निवृत्ति नहीं होती। इसी तरह एकत्र ज्ञान उत्पन्न होने से भी भेदज्ञान तत्क्षणात् नहीं जाता। सो किसका दोष है। मूलअविद्याछिन्न होकर अगर] भेदज्ञान रह भी जाय तो वह बन्धन नहीं उपजा सकता। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, कारण होते हुये भी ज्ञान को न होने में कोई युक्ति नहीं है। कारण, विरुद्ध संस्कार के साथ, आप्तोपदेश तथा अन्यान्य हेतु से [विरुद्ध धारणा का] वाधक ज्ञान उपजते देखा जाता है. और यह भी नहीं कह सकते हैं कि वाक्य ज्ञान उत्पन्न होते हुए भी अनादि-वासना वशतः थोड़ा सा भेद ज्ञान की अनुवृत्ति होती है। क्यों कि भेद ज्ञान जब मिथ्या ही है, तब तो ज्ञान की उत्पत्ति होते ही उसकी निवृत्ति भी हो गई है। तत्वज्ञान होने से भी अगर भेद वासना नहीं जाय तब तो और कोई उपाय न होने के कारण वह कभी नहीं जायगी॥ १७॥

वासनाकार्यं भेदज्ञानं छिन्नमूलं अथचानुवर्तत इति बालिश भाषितम्। द्विचद्र ज्ञानादौ तु बाधक सन्निधावपि मिथ्याज्ञान हेतोः परमार्थ तिमिरादि दोषस्य ज्ञान बाध्यत्वाभावेनाविनष्टत्वात् मिथ्याज्ञानानिवृत्तिरविरुद्धा, प्रबल प्रमाण बाधित-त्वेन भयादि कार्यं तु निवर्तते।

अपि च भेद वासना निरसनद्वारेण ज्ञानोत्पत्ति मभ्युपगच्छतां कदाचिदपि ज्ञानोत्पत्तिर्नस्येत् स्यति, भेद वासनाया अनादिकालोपचितत्वेनापरिमितत्वात्, तद्विरुद्ध भावनायाश्चाल्पत्वादनया तन्निरासानुपपत्तेः। अतो वाक्यार्थज्ञानादन्य-देव ध्यानोपासनादि शब्द वाच्यं ज्ञानं वेदान्त वाक्यैर्विधित्सितम्॥ १८॥

भेदज्ञान का मूल कारण वासना, सो वासना नाश के बाद भी तत्कार्य भेदज्ञान का वर्ताव-यह मूर्ख कहता है। द्विचंद्रादि दर्शन में परन्तु, भ्रम का बाधक ज्ञान रहने से भी, वह भ्रमका, यथार्थ कारण-तिमिरादि दोष-रोग विशेष नष्ट नहीं होता, कारण वह सत्य है सुतरां, वैसा भ्रम तादृश ज्ञान से नहीं जा सकता। इसीलिये, वहां मिथ्या ज्ञान की अनि-वृत्ति विरुद्ध या दोषावह नहीं है। परन्तु, यहां भी, आप्तोपदेश आदि प्रवल प्रमाण से बाधा प्राप्त होकर अर्थात् यह सत्य नहीं-मिथ्या है ऐसा निश्चय के कारण भ्रम सम्भूत भयादि कार्य निवृत्ति हो जाता है।

और भी-जिन्हों ने भेद वासना को मेटकर ज्ञानोत्पत्ति की इच्छा की है, उनके मत में कभी ज्ञानोत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि भेद वासना अनन्त काल संचिता, सुतरां, अपरिमिता, और उसकी विपक्षज्ञान वासना अल्पकाल संचिता स्वल्प मात्रा सुतरां वह प्रवला भेद वासना इससे नहीं जा सकती। अतएव, निश्चय, ध्यान तथा उपासनादि शब्द गम्य ज्ञान ही समस्त वेदान्त वाक्य का विधित्सित-विधानेच्छुवाक्यार्थ ज्ञान नहीं॥ १८॥

तथा च श्रुतयः-'विज्ञायप्रज्ञां कुर्वीत'-बृहदा-४-४ २१ । 'अनुविद्य विजानाति' छांदो-८-७-१ । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् । मुंड २-२-६ । निचाय्य-तन् मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते-कठो-३-१५ । आत्मानमेव लोकमुपासीत बृहदा १-४-१५ । आत्मावा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्योनिदिध्यासितव्यः-बृहदा-२-४-५ । ४-५-६ । सोऽन्वेष्टव्यः, सविजिज्ञासितव्यः' ८-७१ । इत्येवमाद्याः अत्र 'निदिध्यासितव्य' इत्यादिनैकार्थात् 'अनुविद्यविजानाति' 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीते' त्येवमादिभिर्वाक्यार्थ ज्ञानस्य ध्यानोपकारकत्वात् 'तदनुविद्य' विज्ञाये' त्यनुद्य 'प्रज्ञां कुर्वीत विजानातीति' ध्यानं विधीयते । 'श्रोतव्य' इति चानुवादः, स्वाध्याय-स्यार्थ परत्वेनाधीतवेदः पुरुषः प्रयोजनवदर्थावबोधित्व दर्शनात् तन्निर्णयाय स्वय-मेव श्रवणे प्रवर्तते,इति श्रवणस्य प्राप्तत्वात् । श्रवण प्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य मन्तव्य' इति चानुवादः तस्माद् ध्यानमेव विधीयते ॥ १६ ॥

श्रुति प्रमाण-'उत्तम रूप से ज्ञान के प्रज्ञा (ध्यान) करना' 'अनुवेदन-बार बार आलोचना से जानना चिन्ता करना' आत्मा को ओंकार रूपही ध्यान करना,' उन्हीं को जानकर मृत्युमुख-संसार से मुक्त होते हैं' 'आत्मा ही की उपसना,' करना अरे [मैत्रेय] आत्मा ही को दर्शन श्रवण मनन औ निदिध्यासन करना,' 'उन्हीं को अन्वेपण करना उन्हीं को विशेष रूप से जानना'-इत्यादि ।

उक्त श्रुतियों में निदिध्यासन के साथ ध्यान का अर्थगत एकता है । वाक्यार्थ ज्ञान भी ध्यान ही का उपकारक । इसी कारण से, 'अनुविद्य विजानाति' 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वाक्यों से अनुवेदन-प्रत्यक्ष ज्ञान और विज्ञान का अनुवाद करके, 'प्रज्ञां कुर्वीत' और 'विजानाति' वाक्यों से ध्यान ही विहित भया । और 'श्रोतव्य'-वाक्य भी पूर्ववत् अनुवाद(अप्रामाणिक),कारण 'स्वाध्याय' शब्द का अर्थ शब्दार्थका बोध सुतरां जो वेदाध्ययन किये हैं वह प्रयोजनीय अर्थ को जानकर उसके निर्णय के लिये स्वयं ही श्रवण विषय में प्रवृत्त होते हैं । अतएव श्रवण तो प्राप्त ही है । श्रुतार्थ को स्थिर तर करना ही मनन का प्रयोजन, सुतरां मनन भी श्रवण ही के अधीन या अपेक्षित । अतएव मन्तव्यः [मनन करना] यह शब्द भी अनुवाद है । फलतः यहां ध्यान ही विहित अर्थात् प्रधान रूप से प्रतिपादित [जानना] ॥ १६ ॥

वक्ष्यति च, 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति ब्रह्मसूत्र ४-१-१। तदिदमपवर्गोपायतया विधित्सितं वेदनमुपासनमित्यवगम्यते, विद्युपास्त्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात्, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'-छांदो ३-१८-१। इत्यत्र 'भातिचतपतिच' कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन, य एवम्वेद'-छांदो ३-१८-३। 'न स वेद, अकृत्स्नोह्येषः, आत्मेयेवोपासीत'-बृहदा-१-४-७। 'यस्तद्वेदयत् स वेद, समयै तदुक्त' छांदो ४-१।४।६। इत्यत्र 'अनुम एतां भगवो देवतां शाधि, यां देवतामुपास्म' इति छांदो ४-२-२। ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्न स्मृतिसन्तानरूपा ध्रुवास्मृतिः। 'स्मृत्युपलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्व श्रवणात्। सा च स्मृतिर्दर्शनसमानाकारा, 'भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' मुंड २-२-८। इत्यनेनैकार्थ्यात्। एवं च सति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यनेन निदिध्यासनस्यदर्शन रूपता विधीयते। भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद् दर्शनरूपता ॥ २० ॥

'सूत्रकार भी, "आवृत्ति रसकृदुपदेशात्"-सूत्र में ध्यान ही की पुनः पुनः कर्तव्यता निर्देश कर रहे हैं। मुक्ति का उपाय रूप विधित्सित, यह "वेदना" और उपासना जो एक ही अर्थ प्रद, सो भी अच्छी तरह समझा जाता है। क्यों कि विद्या और उपासना शब्द का व्यतिकर अर्थात् अदल बदल भाव में उपक्रम तथा उपसंहार देखा जाता है। उपक्रम-'मन को ब्रह्मभाव में उपासना करना'-यहाँ पर उपसंहार—जो ऐसा जानता है सो कीर्ति, यश और ब्रह्मण्यतेज से प्रतिभात होता है।' उपक्रम-'जो इन्द्रिय विशेष को सम्पूर्ण आत्मा जान के उपासना करता है सो सम्पूर्ण आत्मा को नहीं जानता। क्योंकि यह घ्राणादि इन्द्रिय पूर्ण आत्मा नहीं है। आत्मा का एक देश मात्र'। उपसंहार-'आत्मा जान के उपासना करना चाहिये' उपक्रम 'जो उनको जानता है और वह जिनको जानता है, सो और यह दोनों हमने कहा'। उपसंहार-'हे भगवन, आप जिस देवता की उपासना करते हैं उसी का उपदेश हमको कीजिये'। तैलधारावत अविच्छिन्न प्रवर्तमान स्मृति प्रवाहमय ध्रुवास्मृति का नाम ध्यान। क्यों स्मृति लाभ होने से सब ग्रन्थी छूट जाती है, यहाँ ध्रुवास्मृति ही अपवर्ग की उपाय रूपा सुनी गई। क्योंकि,

वाक्यकारेणैतत् सर्वं प्रपंचितम्- वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणादिति सर्वासूपनिषत्सु मोक्षसाधनतया विहितम् वेदनमुपासनम् इत्युक्तम् । 'सकृत्, प्रत्ययं कुर्यात्, शब्दार्थस्य कृतत्वात प्रयाजादिवदिति ।' पूर्वपक्षं कृत्वा 'सिद्धं तूपासन शब्दादिति वेदनमसकृदावृत्तं मोक्षसाधनम् इति निर्णीतम् । उपासनं स्याद् ध्रुवानुस्मृतिः दर्शनात् निर्वचनाच्चेति' तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृत्तस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम् ॥ २१ ॥

सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः । एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि,-'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्'-इति-कठ-२-२३-मुंड-३-२-३ । अनेन केवल श्रवण मनन निदिध्यासनानामात्मप्राप्त्यनुपायतामुक्त्वा 'यमेवैष आत्मा वृणुते तेनैव लभ्य' इत्युक्तम् ॥ २२ ॥

सोई परावर अर्थात् पुरुषोत्तम के दर्शन से समस्त हृदय ग्रन्थी विनष्ट हो जाती है, संशय राशि छिन्न हो जाती है और समस्त कर्म क्षय प्राप्त होता है। इस वाक्य के साथ पूर्वोक्त वाक्य का अर्थ देखा जाता है। अतएव पूर्वोक्त ध्रुवास्मृति दर्शन को बराबर है, इस प्रकार ही अर्थ प्रकाशित है। भावना का प्रकर्ष होने से स्मरणात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष रूप हो जाता है ॥ २० ॥

वाक्यकार [कोई एक टीकाकार] इस विषय को विस्तृत रूप में वर्णन किये हैं- 'वेदन' शब्द से उपासना समझना चाहिये,कारण,उपासना विषयमें 'वेदन' शब्द श्रुतभया है [श्रुतिमें सुना गया] मोक्ष का साधन या उपाय रूप विहित'वेदन' शब्द का अर्थ जो उपासना यह उपनिषदों में भी कहा गया [है] । प्रयाजादि याग के न्याय ज्ञानानुशीलन भी एक बार करना, उसी से तो शब्दार्थ-विधिवाक्यार्थ या आदेश प्रतिपालित भया ?-इस प्रकार पूर्व पक्ष करके [वेदन या मोक्ष साधन] उपासना शब्द ही से सिद्ध भया है-ऐसा कहके पुनः पुनः अनुष्ठित 'वेदन' ही को निर्णय या सिद्धान्त किये हैं। लोक प्रसिद्धि औ श्रुति वाक्यानुसार उपासना तथा ध्रुवानुस्मृति एक है। ऐसे ही बारम्बार अनुष्ठित वही उपासनात्मक 'वेदन' ही को ध्रुवानुस्मृति करके कहे हैं ॥ २१ ॥

प्रियतम एवहि वरणीयो भवति यस्यायं निरतिशय प्रियः स एवास्य प्रियतमो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तम्—

तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्।
ददामि बुद्धि योगं तं येन मा मुपजान्ति ते ॥ गीता १०-१० ॥
प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः। गीता ७-१७।

अतः साक्षात् काररूपा स्मृतिः स्मर्य्यमाणात्यर्थ प्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थं प्रिया यस्य स एव परमात्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते परमात्मेत्युक्तम्भवति।२३।

सोई यह [ध्रुवा] स्मृति ही को दर्शनरूप करके प्रतिपादन किया, गया दर्शन रूपता अर्थ प्रत्यक्षत्व प्राप्ति-साक्षात्कार। ऐसे अपवर्ग का साधन भूता और साधन भूता प्रत्यक्ष भावनापन्ना स्मृति को विशेष रूप से निर्देश कर रहे हैं। श्रुति-' इस आत्मा को प्रवचन से नहीं पाया जाता, न मेधा से तथा बहुविध श्रवण से भी नहीं पाया जा सकता, परन्तु यह आत्मा जिनको वरण करते हैं वही आत्मा के लभ्य होता है। यह आत्मा उनको स्वीय तनु रूपसे वरण करते हैं अर्थात् उनके पास प्रकाशित होते हैं। यहां पर [उपासना रहित] श्रवण मनन निदिध्यासन को आत्म लाभ का अनुपाय रूप निर्देश करके 'यह आत्मा ही जिनको वरण करते हैं, आत्मा स्वयं ही अपने भक्ति के समीप अपना रूप प्रकाश करता है ऐसा यह कहा गया ॥ २२ ॥

देखा जाता है कि प्रियतम ही वरणीय होते हैं। सुतरां, परमात्मा जिनका सर्वाधिक प्रिय वही उनका (वरणीय) प्रियतम। यह प्रियतम व्यक्ति जैसे जिस विध आत्मा को पा-सकते हैं, भगवान स्वयं ही उस विषय में तदनुरूप यत्न करते हैं-यह श्रीमुख कथित है- 'जो निरन्तर भावयुक्त होकर प्रीति पूर्वक भजना करते हैं-मैं ही उन सबको उस प्रकार बुद्धि देता हूँ। जिससे वे हमको पा सकते हैं। और हम ज्ञानियों का ही अत्यन्त प्रिय और वे भी हमारे अत्यन्त प्रिय। अतएव, अत्यन्त प्रिय-भगवान-स्मरण में आते हैं, इसीसे साक्षात्कार का अनुरूप स्मृति-स्वयं भी जिनका प्रिय वही परमात्मा का वरणीय,-वही परमात्मा को पा सकते हैं-ऐसा कहा गया है ॥ २३ ॥

एवं रूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्ति शब्देनाभिधीयते उपासनपर्य्यायत्वाद्-भक्ति शब्दस्य। अतएव श्रुति स्मृतिभिरेवमभिधीयते 'तमेव विदित्वाति मृत्यु-मेति'-श्वेता-३-८। 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति'-नृसिंह पुः-१-६। नान्यः पन्था-अयनाय विद्यते श्वेता-६-१५।

नाहम्वेदै र्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसिमांयथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्यःअहमेवम्विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

पुरुषः सपरः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया गीता ११-५३-५४ एवं रूपाया ध्रुवानुस्मृतेः साधनानि यज्ञादीनि कर्माणि यज्ञादि श्रुतेरश्ववद्'--ब्रः सूः ३-४-२६ इत्यभिधास्यते॥ २४॥

यद्यपि विविदिषंतीति यज्ञादयो विविदिषोत्पत्तौ विनियुज्यंते तथापि तस्यैव वेदनस्य ध्यानरूपस्याहरहरनुष्ठीयमानस्याभ्यासाधेयातिशयस्या प्रयाणादनुवर्तमा-नस्य ब्रह्मप्राप्ति साधनत्वात् तदुतपत्तये सर्वाण्याश्रम कर्माणि यावज्जीवमनुष्ठे-यानि। वक्ष्यति च ,आप्रयाणात् तत्रापिहिदृष्टम्।' ब्रः सूः ४--१--१२। 'अग्निहो-त्रादि तु तत् कार्यायैव तद्दर्शनात्'--ब्रःसूः ४--१--१६। 'सहकारित्वे न च'-३--४--३३ इत्यादिषु॥ २५॥

भक्ति शब्द से भी इसी प्रकार की ध्रुवानुस्मृति ही विदित होती है। क्योंकि भक्ति शब्द भी उपासना ही की पर्यायवाची। इसी हेतु से श्रुति तथा स्मृति में ऐसा ही अभि-हित होता है-उनको जानकर मृत्यु को अतिक्रम करता है, उनको इस प्रकार जानने से अमृत होता है, गति का और पथ नहीं है। हे अर्जुन, तुमने हमको जिस प्रकार देखा, समस्त वेदाध्ययन, तपस्या, दान किम्वा यज्ञ से भी एवम्विध दर्शनीय नहीं हो सकता, हे परंतप एवम्विध हमको मात्र अनन्य विषया भक्ति से यथार्थ रूप जाना, देखा जा सकता तथा हममें (बुद्धि) प्रवेश कर सकती, हे पार्थ केवल भक्ति ही के द्वारा उस परमात्मा को पाया जा सकता है॥ २४॥

वाक्यकारश्च ध्रुवानुस्मृतेर्विवेकादिभ्य एवनिष्पत्तमाह 'तल्लब्धिर्विवेक विमोकाभ्यास-क्रिया-कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः, सम्भवात् निर्वचनाच्च।' विवेकादीनां स्वरूपंचाह, 'जात्याश्रय-निमित्त-दुष्टादन्नात कायशुद्धिर्विवेकः'। इति। अत्र निर्वचनं 'आहारशुद्धौसत्वशुद्धिःसत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः' इति। विमोकः-कामानभिष्वंग इति। 'शांत उपासीत' इति निर्वचनम्। आरंभण संशीलनं पुनः पुनरभ्यास इति। निर्वचनं च स्मार्त मुदाहृतं भाष्यकारेण, 'सदातद्भावभावितः इति॥ २६॥

यद्यपि विविदिषंति श्रुति में यज्ञादि कर्म समूह विविदिषाया-जिज्ञासा उत्पादन विषय में विनियुक्त, तथापि प्रतिदिन अनुष्ठीयमान अभ्यास द्वारा उत्कर्षता प्राप्त और मरणकाल पर्यन्त अनुगत वही ध्यान रुप वेदन ही ब्रह्मलाभ का साधन, इसी कारण से उसकी उत्पत्ति निमित्त आश्रम विहित समस्त कर्म ही को यावज्जीवन अनुष्ठान करना चाहिये, बाद को, मरणकाल तक उपासना करना-क्योंकि-श्रुति, 'अग्निहोत्रादि कर्म वही कार्य के निमित्त ही (अनुष्ठेय), क्योंकि श्रुति में ऐसा ही देखा जाता है-' 'विद्या की सहकारी रूप में (कर्म अनुष्ठेय)'-इत्यादि स्थल में सूत्रकार भी इस विषयको कहेंगे॥ २५॥

वाक्यकार भी विवेकादि निमित्त से ही ध्रुवानुस्मृति की समुत्पत्ति कहे हैं। विवेक, विमोक अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष-एही सब ध्रुवानुस्मृति लाभ का हेतु स्वरुप और शास्त्र सिद्ध भी हैं। विवेकादिकों का स्वरूप भी निर्णय किये हैं-जाति, आश्रय और निमित्त से दूषित भोजन से शरीर को बचाना विवेक, "आहार शुद्धि से चित्त शुद्धि और चित्त शुद्धि से ध्रुवानुस्मति"-प्रमाण। कामना का त्याग-विमोक, प्रमाण-शांतचित्त होकर उपासना करना'। इष्ट विषय में पुनः पुनः चित्त समावेश-शिक्षा का नाम अभ्यास। प्रमाण-"सदा उसी भाव में निमग्न रहना" स्मृति शास्त्रोक्त-॥ २६॥

पञ्च महायज्ञानुष्ठानं शक्तितः क्रियेति । निर्वचनं-क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः-बृहदाः-४-४-२३ । 'तमेतं वेदानु वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन, तपसानाशकेन' 'इति च ।' बृहदाः-४-४-२२ । सत्यार्जव दया दाना हिंसानभिध्याः कल्याणानीति, निर्वचनं 'सत्येन लभ्यस्तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोकः' इत्यादि । देशकाल वैगुण्यात् शोक वस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जन्यंदैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः तद्विपर्य्ययोऽनवसाद इति । निर्वचनं 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति । तद्विपर्य्ययजा तुष्टिरुद्धर्षः, तद्विपर्य्ययोऽनुद्धर्ष इति अतिसन्तोषश्च विरोधीत्यर्थः । निर्वचनमपि 'शान्तोदान्त' इति ॥ २७ ॥

एवं नियम युक्तस्याश्रम विहित-कर्मानुष्ठानेनैव विद्या-निष्पत्तिरित्युक्तं भवति । तथा च श्रुत्यंतरं-'विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते'-ईशोप-११ । इति । अत्र अविद्याशब्दाभिहितं वर्णाश्रम-विहितं कर्म । अविद्ययाकर्मणा मृत्युंज्ञानोत्पत्ति विरोधि प्राचीनं कर्म तीर्त्वा अपोह्य, विद्यया ज्ञानेनामृतं ब्रह्म अश्नुते-प्राप्नोतीत्यर्थः । मृत्युतरणोपायतया प्रतीताविद्या-विद्येतरद् विहितं कर्मैव । यथोक्तम्-

इयाजसोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः ।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय ततुं मृत्युमविद्यया ॥ विष्णुपुराण ६-६-१२ इति ॥ २८ ॥

क्रिया क्या है ? पंच महायज्ञ का अनुष्ठान यथा शक्ति निर्वचन—'क्रियावान ब्रह्मविदों में वरिष्ठ'' ब्राह्मणों ने वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तथा तपस्या-अनाशक से आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं ।' 'कल्याण' क्या है-सत्य, सरलता, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या (सफल चिन्ता) । निर्वचन- ऐसे विरज ब्रह्म-लोक सत्य.नष्ठा से लाभ करते हैं ।' 'अनवसाद' क्या है ? देशकालादिक विपरीत होने से शोकवस्तु आदिकों के स्मरण हेतु दैन्य-दौर्बल्य तथा तत् कारण अप्रसन्नता ही अवसाद उसी का विपरीत भाव अनवसाद निर्वचन 'बलहीन व्यक्ति आत्मा को नहीं पा सकता ।' उसी का विपर्य्यय उद्धर्ष औ तद्विपरीत अनुद्धर्ष । अति सन्तोष भी उपासना के अनुकूल नहीं है ॥ २७ ॥

ज्ञान विरोधि च कर्म-पुण्य पापरूपम्। ब्रह्म ज्ञानोत्पत्ति-विरोधीत्वेनानिष्ठफलतया उभयोरपि पाप शब्दाभिधेयत्वम्। अस्य च ज्ञानोत्पत्ति विरोधित्वं ज्ञानोत्पत्ति-हेतु भूत शुद्ध सत्व विरोधि रजस्तमो विवृद्धिद्वारेण। पापस्य च ज्ञानोदयविरोधित्वं-'एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति'-कौषीतकी० ३-८। इति श्रुत्यावगम्यते ! रजस्तमसोर्यथार्थज्ञानावरणत्वं, सत्वस्य च यथार्थ-ज्ञानहेतुत्वं भगवतैव प्रतिपादितं 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्'-गीता-१४-१७। इत्यादिना। अतश्च ज्ञानोत्पत्तये पापं कर्म निरसनीयम्। तन्निरसनं च अनभिसंहित फलेनानुष्ठितेन धर्मेण। तथा च श्रुतिः-'धर्मेण पापमपनुदति' इति। तदेवं ब्रह्मप्राप्ति साधनभूतं ज्ञानं सर्वाश्रम धर्मापेक्षम्। अतोऽपेक्षित कर्म स्वरूप ज्ञानं, केवल कर्मणामल्पास्थिर-फलत्वज्ञानं च कर्म मीमांसा वसेयं, इति सैवापेक्षिता कर्म मीमांसायाः पूर्ववृत्ता वक्तव्या॥ २९॥

उक्त प्रकार नियम वाले का आश्रम विहित कर्म से ही विद्यानिष्पत्ति होती है, उस वाक्य से यह ही प्रतिपन्न भया। इसी तरह और भी श्रुति–जो प्रसिद्ध विद्या और अविद्या दोनों को जानता है सो अविद्या से मृत्यु को अतिक्रम करके विद्या से अमृत को भोगता है। यहां वर्ण और आश्रम विहित कर्म ही अविद्या शब्द से अभिहित है। अविद्या-कर्म से, मृत्यु-ज्ञान लाभ का विरोधी–(भव भयादि) अतिक्रम करके विद्या से ब्रह्म रूप अमृत को प्राप्त करता है। मृत्यु त्राण की उपाय रूपी अविद्या नाम विद्या भिन्न विहित नित्य कर्म मात्र। अन्यत्र भी उक्त है 'ज्ञानसम्पन्न भी ब्रह्मविद्या अवलम्बन पूर्वक अविद्या से मृत्यु परिहार के वास्ते बहुतर यज्ञ किये हैं'॥ २८॥

पाप और पुण्य दोनों ज्ञान विरोधी कर्म। ज्ञानोत्पत्ति का विरोधी-सुतरां अनिष्टफल का उत्पादक, इसीसे दोनों की पाप संज्ञा। ज्ञानोत्पत्ति का कारण चित्तशुद्धि, पाप उसके प्रतिकूल रज और तमो गुण को बढ़ाता है। इसी से ज्ञान विरोधी वही भगवान ही उससे असाधु कर्म कराते हैं, जिसको अधोगामी किया चाहते हैं। "इस श्रुति में पाप की ज्ञानोदय-विरोधिता जानी जाती है। रजः तथा तमोगुण का तत्वज्ञान वाधकत्व और सत्व गुण का यथार्थ ज्ञान उत्पादकत्व भगवान ही "सत्व गुण से ज्ञान पैदा होता है" इन वाक्यों से प्रतिपादन किये हैं। इसी कारण से ज्ञान लाभ के लिये पाप कर्म परित्याज्य है। उसकी

अपि च नित्यानित्य वस्तु विवेकादयश्च मीमांस श्रवणमन्तरेण न सम्पत्स्यन्ते। स्थिरतरफलसाधनेति कर्तव्यताधिकारि विशेष निश्चयाद् ऋते कर्म स्वरूप तत् फल स्थिरत्वास्थिरत्वात्म नित्यत्वादीनां दुरवबोधत्वात्। एषां साधनत्वं च विनियोगा वसेयम् विनियोगश्च श्रुतिलिंगादिभ्यः स च तार्तीयः। उद्गीथाद्युपासनानिकर्म-समृद्धयर्थान्यपि ब्रह्म दृष्टि रूपाणीति ब्रह्मज्ञानापेक्षाणीति इहैव चिंतनीयानि। तान्यपि कर्माणि अनभिसंहितफलानि ब्रह्मविद्योत्पादकानीति तत्साद्गुण्यापादनान्येतानि सुतरामिहैव संगतानि। तेषां च कर्म स्वरूपाधिगमापेक्षा सर्वसम्मता ॥ ३० ॥

निराशा भी फल कामना रहित धर्मानुष्ठान से प्रतिपादित–यथा–श्रुति "धर्म से पाप अपनोदित होता है" अतएव इस प्रकार ब्रह्म लाभ का साधन ज्ञान समस्त आश्रम धर्म सापेक्ष। अतएव अपेक्षित कर्म का स्वरूप–ज्ञान तथा निरा–कर्म फल का अल्पत्व और अस्थिरत्व ज्ञान, कर्म मीमांसा ही से ज्ञातव्य, इसीलिये अपेक्षित ब्रह्ममीमांसा का पूर्ववृत्त वही है–ऐसा ही कहना चाहिये ॥ २६ ॥

और कारण, मीमांसाशास्त्र श्रवण विना नित्यानित्य वस्तु विवेकादि नहीं उपज सकता। क्योंकि, स्थिरतर या नित्य फलका साधन विषय का कर्तव्यता के अवधारण में विशेष निश्चय का आवश्यक, नहीं तो, कर्म का स्वरूप और उसके फलका स्थिरत्व रूप नित्यत्व और अनित्यत्वादि समझ में नहीं आ सकते। शमादिगुण जो ब्रह्मज्ञान का साधन, सो नियोग अर्थात् 'यह सब किसके अंग!' इस प्रकार ज्ञान से निर्णय करना चाहिये। पुनः नियोग श्रुति लिंग आदि से स्थिर करना चाहिये, सो भी कर्म मीमांसा के तृतीय अध्याय में निरूपित है उद्गीथादि उपासनायें, कर्म ही के पुष्टि साधक होते हुये भी फलतः ब्रह्म दृष्टि ही का स्वरूप ब्रह्मज्ञान का अपेक्षित, अतएव यहां हीं वह सबकी अनुष्ठित होने से ब्रह्मविद्या का उत्पादक होता है, और यह उद्गीथादि उपासना भी वह सब कर्म का उत्कर्ष सम्पादन करती है, इसी कारण से यहां ही ब्रह्मजिज्ञासा में संगत या सुसंबद्ध। वह उद्गीथादि उपासना जो, कर्म सापेक्ष यह सर्वसम्मत विषय है ॥ ३० ॥

यदप्याहुः, अशेष विशेष प्रत्यनीक चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थः तद्व्यतिरेकि नानाविध ज्ञातृ ज्ञेय तत् कृत ज्ञानभेदादि सर्वं तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम्। 'सदेवसोम्येदमग्रआसीत् एकमेवाद्वितीयम्'-छांदो-६-२-१। 'अथ परा यया तद-क्षरमधिगम्यते'-मुंड १-१-५। यत् तदद्रे श्यमग्राह्यमगोत्रमवर्ण-चक्षुः श्रोत्रं, तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतंसुसूक्ष्मं, तदव्ययंयद् भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः' मुंड १-१-६। 'सत्यं ज्ञानमनंतंब्रह्म'-तैत्ति २-१-१। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्।'-श्वेताश्व-६-१६ 'यस्यामतं, तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'-केन २-३। नदृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः,न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः'-बृहदा ३-४-२। 'आनन्दो ब्रह्म'-तैत्ति-३-६-१। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' बृहदा ४-५-७। 'नेहनानस्ति किंचन।' 'मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति'-बृहदा ४-४-१-६। 'यत्रहि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति' 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत केन कं विजनीयात्' बृहदा ४-५-१-५ 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम्' छांदो ६-१-४ ॥ 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्यभयम्भवति।' तैत्ति २-७-१। 'न स्थानतोऽपि परस्योभय लिंगं सर्वत्रहि' ब्रः सूः ३-२-११ 'मायामात्रं तु कार्तस्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्।' ब्रः सूः ३-२-३ ॥ ३१ ॥

(श्री श्री शंकरमत समालोचना-) और जो कहा गया है कि, सर्व प्रकार विशेष धर्मविरहित, चिन्मय ब्रह्म ही यथार्थ सत्य तदतिरिक्त-ज्ञातृ, ज्ञेय, ज्ञान प्रभृति जितने प्रकार, के भेद हैं सो सबही ब्रह्म में कल्पित मिथ्या, हेतु यह है कि-'हे सोम्य यह जगत (सृष्टि के पूर्व में) निश्चय एक अद्वितीय सतस्वरूप रहा' 'अनन्तर पराविद्या की बयान किया जा रहा है, जिससे वह अक्षर जाना जाता है'। जो कोई अदृश्य-बुद्धीन्द्रिय का अगम्य, अग्राह्य-कर्मेन्द्रिय का अविषय, अगोत्र-वंश अर्थात् मूल कारण से रहित, अवर्ण-स्थूलादि धर्म या शुक्लादि गुण वर्जित, चक्षु कर्ण हीन, हस्त पाद रहित, नित्य विभु विविधाकार धारी), सर्वव्यापी, अतिसूक्ष्म, अव्यय (विकार शून्य) और भूतवर्ग का मूल कारण। धीरगण उनको सर्व तो भाव से दर्शन करते हैं'। 'ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप'। '(ब्रह्म) निष्कल, निष्क्रिय, शान्त निरवद्य और निरंजन' 'जो जानते हैं कि

प्रत्यस्तमित भेदं यत्, सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्म संवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संगितम् ॥ विष्णु पुराण ६-७-५३
ज्ञानस्वरूपमत्यन्त निर्मलं परमार्थतः ।
तमेवार्थस्वरूपेण भ्रान्ति दर्शनतः स्थितम् ॥ „ „ १--२-६
परामर्थ स्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतः पते ।
यदेतद्दृश्यते मूर्त्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव ॥
भ्रान्ति ज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूप मयोगिनः ।
ज्ञान स्वरूप मखिलं जगदेतदवुद्धयः ।
अर्थ स्वरूपम्पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे ॥
येतु ज्ञान विदः शद्ध चेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपम्परमेश्वर ॥ „ „ १-५-३८-४१
तस्यात्म परदेहेपु सतोऽप्येकमयं हि यत् ।
विज्ञानं परमार्थोहि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥
वेणुरन्ध्र विभेदेन भेदः षड्जादि संज्ञितः ।
अभेद व्यापिनो वायो स्तथासौपरमात्मनः ॥ „ „ २-१५-३१-३२

हम उनको' नहीं जानते है वही जानते हैं और जो जानता है कि हम उसको जान लिया सो नहीं जान सकता है'। क्यों कि वह विशेषज्ञों के लिये अविज्ञात और अज्ञों के द्वारा विज्ञात (प्रतीत होते हैं) 'दृष्टि की द्रष्टा को दर्शन करने की कोशिश मत करना, मति के मननकारी को मनन न करना' । 'ब्रह्म आनन्द स्वरूप । इनमें कुछ भी नाना (भाव) नहीं है' जो इनमें नाना या भेद के न्याय देखता है सो बार बार मृत्यु को प्राप्त होता है' । 'जब द्वैत का न्याय होता है तब एक और को देखता है । परन्तु जिस अवस्था विषे आत्ममय हो जाते हैं तब किससे किसको देखें ?' । और किससे किसको जानें ?' विकार घटादि कार्य्य केवल वाक्यारब्ध नाममात्र, मृत्तिका ही सत्य । 'जीव जबसे अल्पमात्र भी भेद को देखता है अनन्तर उसको भय होता है' स्थान अर्थात् कोई उपाधि के साथ भी परब्रह्म उभयधर्म सम्पन्न नहीं होते हैं-क्योंकि सर्वत्र [व्याप्त] किन्तु केवल मायामय, कारण कि,-व; सबकी यथार्थ रूप से, सम्पूर्ण भाव में अभिव्यक्ति नहीं होती' ॥ ३१ ॥

यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम ।
तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥ वि० पु० २-१३-८५
सोऽहं स च त्वं स च सर्व मेतद् आत्म स्वरूपं त्यज भेदमोहम् ।
इतीरितस्तेन सराजवर्यःतत्याजभेदं परमार्थ दृष्टिः॥वि॰पु० २-१६-२३-२४
विभेद जनके ज्ञाने नाशमात्यन्तिकंगते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेद मसन्तं कः करिष्यति ॥ वि० पुः ६-७-९४
अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशयस्थितः । गीता १०-२०
क्षेत्रज्ञंचापिमाम्विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ॥ ,, १३-२
न तदस्ति विनायत् स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ,, १०-२६
इत्यादिभिर्वस्तु स्वरूपोपदेशपरैः शास्त्रैर्निर्विशेष-चिन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यं अन्यत् सर्वं मिथ्येत्यभिधानात् ॥ ३२ ॥

प्रमाण वाक्य,-जो भेद रहित, केवल सत्ता स्वरूप, वाक्यों का अगोचर और आत्मप्रतीति गोचर सो ज्ञान ही ब्रह्म नाम से अभिहित' । वस्तुतः नितान्त निर्मल ज्ञान-स्वरूप वह ब्रह्म ही, भ्रम के कारण, अर्थात् विषयाकार में अवस्थित होते हैं' । 'हे जगत्पति, आपही एक मात्र परमार्थ-सत्य, और कुछ नहीं हैं। आपही ज्ञानमय, यह दृश्यमान जगत आपही की मूर्ति । अयोगिगण भ्रान्ति से इस जगत को पृथक दर्शन करते हैं' । अबोध व्यक्तियों ने ज्ञानमय समस्त जगत् को अर्थमय (भोग्य मय) मानकर मोहन्धकार में भ्रमण करते हैं' । 'हे परमेश्वर, परन्तु, जो लोग शुद्धचित्त तथा ज्ञानाभिज्ञ सो समस्त जगत को ज्ञानात्क-आप का रूप जान के दर्शन करते हैं' ।

'जो अपने तथा अपर देह में विद्यमान होते हुये भी निश्चय एक रूप वही विज्ञान ही परमार्थ, अतएव द्वैत वादिगण तत्वज्ञ नहीं हैं' 'जैसे एक ही व्यापक वायु विभिन्न वंशरन्ध्र में प्रविष्ट होकर षड्ज प्रभृति स्वर भेद को प्राप्त होता है, परमात्मा में यह भेद भी वैसा ही है' 'हे पार्थिवोत्तम, हमके सिवाय और कोई, अगर हो, तौ यह 'हम' और 'अन्य' 'अपर' ऐसा कह सकते हैं' 'वही हम' वही तुम तथा वह-यह सब ही आत्म स्वरूप, भेद भ्रम को तजि देओ' । 'तत्कर्तृक इस प्रकार से प्रबोधित होकर वह नृपतिश्रेष्ठ तत्वज्ञान लाभ करके भेद को त्याग दिया' । 'भेद का करणीभुत ज्ञान अत्यन्त विनष्ट होने

मिथ्यात्वं नाम प्रतीयमानत्वपूर्वक-यथावस्थित-वस्तु ज्ञान निवर्त्यत्वम्। यथाऽज्ज्वाद्यधिष्ठानक सर्पादेः। दोषवशाद् हि तत्र तत्कल्पनम्। एवं चिन्मात्र वपुषि परे ब्रह्मणि दोष परिकल्पत मिदं देव तिर्य्यग् मनुष्य स्थावरादि भेदं सर्व्वं जगद् यथावस्थित-ब्रह्मस्वरूपाववोधवाध्यं मिथ्यारूपम् दोषश्च स्वरूप तिरोधान विविधविचित्र विक्षेपकारी सदसदनिर्वचनीया नाद्य विद्या।—
'अनृतेनहि प्रत्यूढाः,तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्।'छांदो ८-३-१-२ नासदासीत् नो सदासीत्,तदानीं तम आसीत् तमसागूढ़मग्रे प्रकेतम्'। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्'। श्वेता-४- ०। इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते'। गौड़ पादः-३-२५। 'मम माया दुरत्यया'। गीता-७-१४। 'अनादि मायया सुप्तोयदाजीवः प्रवुध्यते'। गौड़ १-१६। इत्यादिभिर्निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मैव अनाद्य विद्यया सद-सदनिर्वाच्यया तिरोहितस्वरूपं स्वगत नानात्वं पश्यतीत्यवगम्यते। यथोक्तम्—

ज्ञान स्वरूपो भगवान् यतोऽसौ अशेष मूर्तिर्नतुवस्तुभूतः।
ततोहि शैलाब्धि-धरादि भेदान् जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि॥

यदा तु शुद्धं निजरूपि सर्व-कर्मक्षये ज्ञानमपास्त दोषम्।
तदाहिसंकल्प-तरोःफलानि भवन्ति नो वस्तुषु वस्तु भेदाः॥वि०पु०२।१२।३८।३६
तस्मान्नविज्ञानमृतेऽस्तिकिंचित् क्वचित् कदाचित् द्विज! वस्तुजातम्।
विज्ञान मेकं निजकर्म भेद विभिन्न चित्तै बहुधाऽभ्युपेतम्॥

ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक मशेष लोभादि निरस्त संगम्।
एकंसदैकं परमः परेशः स वासुदेवो नयतोऽन्यदस्ति॥

सद्भावएवं भवतोमयोक्तोज्ञानंयथासत्य मसत्यमन्यत्।
एततुयत् सम्व्यवहारभूतं तत्रापिचोक्तंभुवनाश्रितंते'॥

वि० पु०-२।१२।४२-४४ इति॥ ३३॥

से, जीव और परब्रह्म के असत् भेद को फिर कौन समुत्पादन करेगा'। 'हे गुडाकेश-[जितनिद्र,] हमही सर्वभूतों का हृदयस्थ आत्मा'। 'हे भारत, मेरे को ही सर्वदेह में क्षेत्रज्ञ करके जानना' 'स्थावर तथा जंगम कुछ भी हमारे विना नहीं रह सकता'। वस्तु तत्व निरूपण में तत्पर उल्लखित शास्त्र समूहों से निर्विशेष चिन्मय ब्रह्म ही सत्य और सब मिथ्या—यही दर्शाया गया है॥ ३२॥

जो पहले प्रतीतगम्य होके, बाद को यथार्थ वस्तु का ज्ञानोदय के साथ निवारित हो जाय सो मिथ्या [संज्ञा] है। जैसे रज्जु प्रभृति अधिकरण में दृश्यमान सर्पादि, क्योंकि, दोष वशतःही रज्जुप्रभृति में सर्पादिकों की कल्पना होती है। इसी प्रकार, देव तिर्यक् मनुष्य और स्थावरादि भेद सम्पन्न यही समस्त जगत् चिन्मात्ररूपी परब्रह्म में दोष वशत: ही कल्पित और यथार्थ वस्तु जो ब्रह्मज्ञान-तिस करके बाधित होने के योग्य, अतएव मिथ्या। 'ब्रह्म का' स्वरूपावरक, नानाविधविचित्र विक्षेप उदय करने वाला। सत् और असत् निर्वाचन के अयोग्य, अनादि अविद्या यहाँ 'दोष' पदवाच्य।

अनृत-'मिथ्या द्वारा [ब्रह्म-वस्तु] आवृत अर्थात् वह वस्तु सत्य होने से भी मिथ्या उसका आवरण है' 'उस समय [सृष्टि के पूर्व] असत् नहीं रहा तथा सत् भी नहीं रहा, तम: [प्रकृति] रहा। अग्र में प्रकेत [जगद्बीज] तम: से गूढ़ था' 'माया को प्रकृति और मायावान को महेश्वर करके जानना' 'इन्द्र माया से बहुरूप में प्रकाशित होते हैं' 'हमारी माया दुरति क्रमणीया' इत्यादि वाक्यों से जाना जाता है कि निर्विशेष चिन्मात्र रूपी ब्रह्म ही, सत् और असत् रूप से अनिर्वचनीया अनादि अविद्या, या, माया द्वारा आवृत होकर अपने में आपही विविध भेद दर्शन करते हैं।

पुराणों में भी कहा गया-'क्योंकि, यह अनन्त रूपी भगवान् ज्ञान स्वरूप, किन्तु वस्तु नहीं। इसी से, शैल सागर पृथिव्यादि प्रपंच को विज्ञान का स्फुरण मात्र जानना'। 'किन्तु, जब सर्वविध कर्म और तत् संस्कारचय के बाद शुद्ध निर्दोष निजरूपी ज्ञान उदित होता है तब निश्चय ही, संकल्प तरु का वस्तुभेदमयफल फिर कहीं प्रकाश नहीं पा सकता'। 'हे द्विज अतएव विज्ञानातिरिक्त कोई वस्तु कभी कहीं भी कुछ भी नहीं है। निज निज कर्म भेद से विभिन्न चित्त लोगों ने विज्ञान ही को बहुरूप में स्वीकार किया है' '(अतएव) विशुद्ध, विमल, अशोक तथा सर्वविध लोभादि सम्बन्ध रहित, सदा एक रस ज्ञान स्वरूप वासुदेव ही सर्वोत्तम ईश्वर, क्योंकि उनसे पृथक और कुछ भी नहीं है'। 'ज्ञान ही सत्य, और सब असत्य, इस प्रकार सत् तत्व हमने तुमको उपदेश किया। और यह जो जगद्व्यापी सर्वविधव्यवहार-इस विषय में भी वैसा ही कहा गया'॥ २२॥

अस्याश्चाविद्याया निर्व्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानेन निवृत्तिम्वदन्ति-'न पुनर्मृत्यवे, तदेकम्पश्यति, न पश्यो मृत्युम्पश्यति,'- छान्दो-७-२६-२। 'यदाह्येवैषएतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतोभवति'-तैत्ति-२-७-१ । 'भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'-मुण्ड २-२-८ । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' मुण्ड-३-२-९ । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्थाः'-श्वेताश्व-३-८। इत्याद्याः श्रुतयः । अत्र 'मृत्यु' शब्देना विद्याभिधीयते । यथा सनत् सुजातवचनम्-'प्रमादम्वै मृत्युमहंब्रवीमि सदाप्रमादममृतत्वंब्रवीमि' इति 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म,' तैत्ति-२-१-१ । 'विज्ञा- नमानन्दं ब्रह्म-वृहदा -३-९-२८ इत्यादि शोधक वाक्यावसेय निर्व्विशेषस्वरूप ब्रह्मा- त्मैकत्व विज्ञानं च, 'अथयोऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद,' वृहदा-१-४-१० । 'आत्मेत्येवोपासीत' वृहदा-१-४-७। 'तत् त्वमसि' । छान्दो- ६-२ । 'त्वम्वाअहमस्मि भगवो देवते, अहं च त्वमसि भगवो देवते' तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'-इत्यादि वाक्यसिद्धम् । वक्ष्यति चैतदेव -'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्तिच-ब्रह्मसूत्र ४-१-३ । इति । तथाचवाक्यकारः- आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्व्वस्यतन्निष्पत्ते' रिति, अनेन च ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानेन मिथ्यारूपस्य सकारणस्य बन्धस्य निवृत्तियुक्ता ॥ ३४ ॥

निम्नोद्धृत श्रुति समूह कह रही हैं कि निर्विशेष शुद्ध चिन्मय ब्रह्म और आत्मा का एकत्व या अभेद ज्ञान से इस अविद्या की निवृत्ति होती है। श्रुति वाक्य, यथा-'पुनर्वार मृत्यु या अविद्या लाभ के निमित्त एकत्व दर्शन नहीं करते हैं एकत्वदर्शी मृत्यु दर्शन नहीं करते हैं।' 'यह जीव जभी अदृश्य अनात्म्य अनिरुक्त (अनाम निराधार इस ब्रह्म में अभय प्रतिष्ठा (स्थिति) लाभ करता है तभी वह अभय प्राप्त होता है' 'जो (वह) सर्वोत्तम, दृष्ट होने पर हृदय ग्रन्थियां टूटजाती हैं, सब संशय छिन्न हो जाता है और संचित कर्मों का क्षय हो जाता है' ब्रह्मज्ञ व्यक्ति ब्रह्म ही होते हैं' 'उनको जानने ही से मृत्यु अतिक्रम किया जा सकता है। और पथ नहीं है'-। इत्यादि यहां पर जो मृत्यु मेति शब्द है सो उस मृत्यु शब्द से अविद्या अर्थ प्रकाशित है ।

ननु च, सकल भेद निवृत्तिः प्रत्यक्ष विरुद्धा कथमिव शास्त्र जन्य ज्ञानेन क्रियते ? कथं वा रज्जुरेषा-न सर्पः' इति ज्ञानेन प्रत्यक्ष विरुद्धा सर्प निवृत्तिः क्रियते? तत्रद्वयोः प्रत्यक्षयोर्विरोधः इहतु प्रत्यक्ष-मूलस्य शास्त्रस्य प्रत्यक्षस्य चेति चेत् ? तुल्ययोर्विरोधे वा कथं वाध्यवाधक भावः ? पूर्वोत्तरयोर्दुष्टकारण जन्यत्व तद्-भावाभ्यामिति चेत ? शास्त्रप्रत्यक्षयोरपि समान मेतत् ॥ ३५ ॥

सनत सुजातजी का वचन-'सर्वदा प्रमाद अर्थात् कर्तव्य में अमनोयोगिता को ही हम मृत्यु कहते हैं,और सर्वदा अप्रमाद को अमृतत्व कहते हैं''ब्रह्म सत्य ज्ञान स्वरूप और अनन्त''ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप'। विशेष भाव प्रतिषेधक उक्त प्रकार वाक्य समूहों से निर्विशेष ब्रह्म के साथ आत्मा का एकत्व विज्ञान जाना जाता है । 'अमुक (उपास्य) अन्य' और 'हम और हैं' इस प्रकार जो और देवता की उपासना करता है सो नहीं जानता है। '(उपास्य को) आत्मा हीं जानकर उपासना करना।' 'तुम और वह अभिन्न' हे भगवति देवते आप और हम अभिन्न, तथा, हम और आप अभिन्न-एक'। इत्यादि वाक्यों से पूर्वोक्त ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान सिद्ध होता है । और (उपासक गण) आत्मा करके प्राप्त होते हैं'-यह शास्त्र भी उसी भाव को जनावता है । इस ब्रह्मसूत्र में भी इसको कहा जायगा। वाक्यकार भी कहे हैं-'आत्मा रूप से ब्रह्म को जानना-ग्रहण करना' क्योंकि 'यह समस्त उन्हीं में निष्पन्न या कल्पित'। इससे भी समझा जाता है कि ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान से ही मिथ्या बन्धन तथा तत् कारण अविद्या की निवृत्ति होती है । यही युक्ति युक्त है ॥ ३४ ॥

अच्छी बात, भेद समुदय प्रत्यक्ष सिद्ध-प्रतिकूल उपदेश मात्र से उसकी निवृत्ति कैसे हो जायगी ? उत्तर-यह सर्प नहीं--रज्जु है, इससे प्रत्यक्ष विरुद्ध सर्प कैसे बाधित होता है ? अगर कहो-कि वहां दोनों प्रत्यक्ष का विरोध और यहाँ प्रत्यक्ष मूलक शास्त्र के साथ प्रत्यक्ष का विरोध (अतएव दोनों में बहुत फरक है) अच्छा, तुल्य प्रमाण दोनों के विरोध ही में बाध्य बाधक भाव कैसे होता है ? (अगर कहो) पूर्व अर्थात् बाध्य ज्ञान दुष्ट कारणोत्पन्न, और परवर्ति बाधक ज्ञान, अदुष्ट कारण जन्य-इसी से । तब तो अद्वैत बोधक शास्त्र तथा जगत् भेद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध में उस प्रकार दोष कल्पना में कोई विशेषता नहीं है ॥ ३५ ॥

एतदुक्तम्भवति, बाध्यबाधकभावे तुल्यत्वसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वादि न कारणं, ज्वालाभेदानुमानेन प्रत्यक्षोपमर्दायोगात् तत्रहि ज्वालैक्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते । एवं च सति-द्वयोः प्रमाणयोर्विरोधे यत् सम्भाव्यमानान्यथासिद्धि, तद्बाध्यं, अनन्यथा सिद्धमनवकाशमितरद् बाधकमिति सर्वत्र बाध्य बाधकभाव निर्णय इति ।

तस्मादनादि निधनाविच्छिन्न सम्प्रदाय सम्भाव्यमान-दोष गन्धानवकाश शास्त्रजन्य निर्विशेष नित्य शुद्ध मुक्त बुद्ध स्वप्रकाश चिन्मात्र ब्रह्मात्मभावाववोधेन सम्भाव्यमान दोष सावकाश प्रत्यक्षादि सिद्ध विविधविकल्प रूप बन्धनिवृत्तियुक्तैव । सम्भाव्यते च विविधविकल्पभेदप्रपञ्चग्राहि प्रत्यक्षस्यानादिभेद वासनादिरूपाविद्याख्योदोषः ॥ ३६ ॥

यह प्रतिपादित हो रहा है कि तुल्यता सापेक्षता या निरपेक्षतादि (वस्तु ज्ञान में) बाध्य बाध्यकता का हेतु नहीं है ! क्यों कि, अग्नि शिखा के प्रभेद ज्ञापक अनुमान से एकत्व प्रत्यक्ष की बाधा नहीं हो सकती थी, बल्कि वहां तो शिखा का एकत्व ही प्रत्यक्ष होता है । अर्थात्, आपात दर्शन से शिखा एकी हो जाने के बाद अनुमान से अनेक प्रतीति होती है । ऐसे ही दो प्रमाण के विरोध में जिसकी सिद्धि और तरह से भी हो सकती सो बाध्य कहा जाता है । औ' जो अन्यथा नहीं सिद्ध होता तथा निरवकाश और अन्यत्र जिसका विषय या सार्थकता नहीं है सो बाधक है । बाध्य बाधकता भाव का यही साधारण सिद्धान्त ।

अतएव उत्पत्ति विनाश रहित, अविच्छिन्न भाव से गुरू परम्परागत और जिसमें दोष का लेशमात्र नहीं है इस प्रकार निरवकाश अर्थात् और प्रयोजन रहित, शास्त्र से समुत्पन्न जो निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, मुक्त, बुद्ध और स्वप्रकाश चिन्मात्र ब्रह्म में आत्मत्व बोध उत्पन्न होता है, निश्चय उसी से ही प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नाना प्रकार विकल्प मय बधन की निवृत्ति सो युक्ति युक्त है । क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में कोई न कोई दोष रह सकता । तथा और और स्थलों में भी उनकी सार्थकता है (सुतरां निष्फल भी नहीं है), और भी अनादि काल-प्रवृत्त भेद संस्कार प्रभृति जो अविद्या दोष त्रिविध विकल्प मय भेद प्रपञ्च का ग्राहक, प्रत्यक्ष सम्बन्ध में भी सो दोष सम्भव ही है ॥ ३६ ॥

ननु, अनादि निधनाविच्छिन्न सम्प्रदायतया निर्दोषस्यापि शास्त्रस्य 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत' इत्येवमादेर्भेदावलम्बिनोवाध्यत्वं प्रसज्येत ? सत्यं, 'पूर्व्वापरापच्छेदे पूर्व्वशास्त्रवत्' मोक्षशास्त्रस्य निरवकाशत्वात् तेनवाध्यत एव। वेदान्त वाक्येष्वपि सगुण ब्रह्मोपासनपराणां शास्त्राणामयमेव न्यायः, निर्गुणत्वात् परस्य ब्रह्मणः।

ननु च, 'यःसर्व्वज्ञःस सर्व्ववित्'-मुण्ड-१-१-६। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकीज्ञान बलक्रियाच'-श्वेताश्व-६-८। 'स (?) सत्य कामः सत्यसंकल्पः'-छान्दो ८-१-५। इत्यादि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनपराणां कथं वाध्यत्वं ? निर्गुण वाक्य सामर्थ्यादिति ब्रूमः। एतदुक्तम्भवति-

'अस्थूलमनण्व ह्रस्वम्'-बृहदा-३-८-८। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' ब्रह्म'-तैत्ति २-१-१। निर्गुणं निरंजनं-श्वेताश्व ६-१६। इत्यादि वाक्यानि निरस्त समस्त विशेष कूटस्थनित्य चैतन्यं प्रतिपादयन्ति, इतराणि च सगुणम्। उभयविध वाक्यानां विरोधेऽनेनैवापच्छेदन्यायेन निर्गुण वाक्यानां गुणापेक्षत्वेन परत्वाद् बलीयस्त्वमिति न किंचिदपहीनं॥ ३७॥

भला, (ऐसा होने से) अनादि निधन अर्थात उत्पत्ति विनाश शून्यत्व और सम्प्रदाय विच्छेद राहित्व निबन्धन निर्दोष 'स्वर्गकामी को ज्योतिष्टोम याग करना चाहिये' इत्यादि शास्त्रों की भी वाधा (अप्रमाण्य) हो सकती ? क्योंकि वह भी भेदावलम्बी या द्वैत सापेक्ष ? उत्तर,-पूर्व और परवर्तियों में अपच्छेद या व्याघात में जैसे पूर्व शास्त्र दुर्बल होता है, वैसे ही निरवकाशत्व के कारण मोक्ष शास्त्र द्वारा (भेदावलम्बी शास्त्र) निश्चय वाधित होगा और वेदान्तशास्त्र मे भी जो वाक्य सब सगुण ब्रह्मोपासना विधायक, तिनके बारे में भी यही रीति प्रयोज्य, कारण कि परब्रह्म निर्गुण (उनमें गुण विधान करने से निर्गुण वाक्य सब निर्विषय हो जायगा)। अच्छा, 'जो सर्वज्ञ सो सर्ववित्'। 'इनके विविधाकार पराशक्ति, तथा, स्वतःसिद्ध ज्ञानबल और क्रिया श्रुति होते है'। 'वह सत्याभिलाष और सत्य संकल्प'। इत्यादि जिन वाक्यों से (सगुण) ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित भया है उन सबकी वाधा कैसे होगी ? उत्तर-ब्रह्म का निर्गुणत्व प्रतिपादक वाक्योंके बलसे ही कहना चाहिये।

ननु च, 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' इत्यत्रसत्यज्ञानादयोगुणाः प्रतीयन्ते ? नेत्युच्यते सामानाधिकरण्येनैकार्थत्वप्रतीतेः। अनेकगुणविशिष्टाभिधानेऽप्येकार्थत्वमविरुद्धमितिचेत् ? अनभिधानज्ञो देवानाम्प्रियः। एकार्थत्वंनाम-सर्वपदानामर्थैक्यं, विशिष्ट पदार्थाभिधाने विशेषणभेदे न पदानामर्थ भेदोऽवर्जनीयः, ततश्चैकार्थत्वं न सिध्यति। एवं तर्हिसर्वपदानां पर्यायता स्यात् अविशिष्टार्थाभिधायित्वात्। एकार्थाभिधायित्वेऽपि अपर्यायत्वमवहितमनाः। शृणु,-एकत्व तात्पर्य्यनिश्चयादेकस्यैवार्थस्य तत्तत् पदार्थ विरोधि प्रत्यनीकपरत्वेन सर्व्वपदानामर्थवत्वमेकार्थत्वसपर्य्यायता च।

एतदुक्तम्भवति-लक्षणतः प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म सकलेतरपदार्थ विरोधिरूपम्। तद्विरोधिरूपं सर्व्वमनेन पदत्रयेण फलतो व्युदस्यते। तत्र 'सत्य' पदं विकारास्पद त्वेनासत्याद्वस्तुनो व्यावृत्तपरं ज्ञान पदं चान्याधीन-प्रकाशाज्जड़रूपाद् वस्तुनोव्यावृत्तपरम् 'अनन्त' पदं च देशतः कालतोवस्तुतश्च परिच्छिन्नाद्व्यावृत्तपरम्। न च व्यावृत्तिर्भावरूपोऽभावरूपो वा धर्म्मः, अपि तु सकलेतर विरोधिब्रह्मैव। यथाशौक्ल्यादेः कार्ष्ण्यादि व्यावृत्तिस्तत्तत् पदार्थ-स्वरूपमेव, न धर्म्मान्तरम्। एव मेकस्यैव वस्तुनः सकलेतरविरोध्याकारतामवगमयदर्थवत्तरमेकार्थमपर्य्यायं च पदत्रयम् ॥ ३७ ॥

और भी कहा जा रहा है कि-'ब्रह्म स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं और ह्रस्व भी नहीं है'। 'ब्रह्म सत्य और ज्ञानस्वरूप, निर्गुण निरंजन'-इत्यादि वाक्य निश्चय सर्व प्रकार विशेष भाव रहित नित्य चैतन्य को, तथा, और वाक्यसमूह सगुण ब्रह्म को प्रतिपादन कर रहे हैं। उभय विध वाक्यों के विरोध में उक्त अपच्छेद न्याय से निर्गुण वाक्यों का ही बल अधिक, क्योंकि गुण निषेधक वाक्य सकल सगुण वाक्यों की अपेक्षा रखते हैं, इसी से परवर्ती। अतएव कोई भी वाक्य विफल नहीं हो रहा है ॥ ३७ ॥

भला; 'सत्य ज्ञान मनन्त ब्रह्म'-इसमें तो सत्य ज्ञान प्रभृति गुण-प्रतीति हो रही है ? नहीं, यों कहिये कि सामानाधिकरण्य या परस्पर विशेषण विशेष्य भाव के कारण एकार्थत्व या अभेदार्थ जान पड़ता है अगर कहो कि, अनेक गुण विशिष्ट, इसलिये एकार्थत्व विरुद्ध न होगा ? (उत्तर) यह 'देवानांप्रिय'

तस्मात् एकमेव ब्रह्म स्वयं ज्योतिर्निर्धूत-निखिल-विशेष मित्युक्तं भवति। एवम्वाक्यार्थं प्रतिपादने सत्येव 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत् एकमेवाद्वितीयम्', छान्दो-६-२-१। इत्यादिभिरैकार्थ्यं, 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते'-तैत्ति-३-१-१। सदेवसोम्येदमग्रआसीत्, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्रआसीत्' ऐत-१-१ इत्यादिभिर्जगत् कारणतयोपलक्षितस्य ब्रह्मणः स्वरूपमिदमुच्यते,-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-तैत्ति-२-१-१। इति—

अर्थात् मेष या पशु-सो वाक्य प्रयोग नियम नहीं जानता है। क्योंकि, एकार्थत्व है क्या? समस्त पदों का एक अर्थ। विशेषता विशिष्ट कोई वस्तु अभिहित होने से उसका विशेष में भेद होता है। विशेषण के भेदानुसार समूह पद का अर्थ भेद अपरिहार्य हो पड़ता है। इसी से एकार्थत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। शंका-ऐसा होने से, समस्त पद जब एकही अर्थ प्रतिपादन कर रहे हैं, तब तो (वाक्यस्थ) पदों की समानार्थता होनी चाहिये?

(उत्तर)-एकार्थ प्रतिपादक होते हुये भी पर्य्यायता नहीं होती,-सो मनोयोग पूर्वक सुनना चाहिये-प्रथमतः पदों का एकार्थ में तात्पर्य्य निश्चय होता है, उसी निश्चय से सो एकही अर्थ यथासम्भव (निज निज) विरोधि पदार्थ-प्रतीतके प्रतिकूल होता है, और उसी हेतु से, पद समूह की सार्थकता, एकार्थ प्रतिपादकता और पर्य्यायहीनता सिद्ध होती है। ऐसा कहा गया है कि 'लक्षण से ब्रह्म को जानना चाहिये'-उनका स्वरूप और सब पदार्थों के विरोधी; यह (सत्य आदि) पद-त्रय फलतः तद्विरोधी समस्त वस्तु को उनसे पृथक कर देते हैं-तिनमें से 'सत्य' पद विकारशील असत्य वस्तु की व्यावृत्ति कारक, 'ज्ञान' पद पराधीन प्रकाश्यता का व्यावृत्तिकारक, 'अनन्त' पद देश, काल और वस्तु का परिच्छिन्नता का व्यावृत्तिकारक हैं!

व्यावृत्ति-भाव या अभावात्मक कोई धर्म नहीं है, प्रत्युत सर्व पदार्थ विरोधी ब्रह्म ही। शुक्लत्वादि गुणों से कृष्णत्व प्रभृति गुणों की व्यावृत्ति होती है, वही व्यावृति जैसे उस व्यवच्छेद्य पदार्थ ही का स्वरूप-कोई पृथक धर्म नहीं। वैसे ही, यह पदत्रय एकही वस्तु को अपर समस्त वस्तु की विरोधी ज्ञापन करने से सम्यक सार्थकता पायी है और एकार्थत्व भी कायम है तथा पर्य्याय दोष से भी बचे हुये हैं॥ ३७॥

तत्र सर्व्व शाखाप्रत्ययन्यायेन कारण वाक्येषु सर्वेषु सजातीय व्यावृत्तमद्वितीयं ब्रह्मावगतं. जगत् कारण तयोपलक्षितस्य ब्रह्मणोऽद्वितीयस्य प्रति पिपादयिषितस्वरूपं तदविरोधेन वक्तव्यम् । अद्वितीयत्व--श्रुतिः गुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते, अन्यथा 'निरंजनं निर्गुणम्' इत्यादिभिश्च विरोधः । अतश्चैतल्लक्षण वाक्यमखण्डैकरसमेव प्रतिपादयति ॥ ३८ ॥

ननु च सत्यज्ञानादि पदानां स्वार्थ प्रहाणेनस्वार्थविरोधि व्यावृत्त वस्तु स्वरूपोपस्थापन परत्वेन लक्षणा स्यात् ? नैष दोषः अभिधानवृत्तेरपि तात्पर्य्य वृत्तेर्वलीयस्त्वात् । सामानाधिकरण्यस्य हि ऐक्य एव तात्पर्य्यमिति सर्व सम्मतम् । ननु च, सर्व पदानां लक्षणा न दृष्टचरी ! ततः किं वाक्य तात्पार्य्यविरोधे

इसी वास्ते ऐकत्व रूप-निश्चित ब्रह्म ही स्वप्रकाश और सर्वविध विशेषता रहित उक्त भया है । वाक्यों का अर्थ इस प्रकार निष्पन्न होने से ही, 'हे प्रिय दर्शन, यह अग्रे-पूर्व में एक अद्वितीय सत् मात्र रहा'—इत्यादि वाक्यों के साथ भी समानार्थत्व रहित हो सकता है, फिर—'जिनसे यह भूत सब जनमते हैं' हे सौम्य यह जगत पूर्व में एक ही था', 'यह जगत पूर्व में आत्म स्वरूप ही रहा'—इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म को जगत् कारण रूप निर्देश करके अब उनका इस प्रकार स्वरूप लक्षण कर रहे हैं । 'ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप' । ऐसा होने से (कारण बोधक वाक्यों के साथ और वाक्यों की एकार्थता करना ही नियम होने से) सर्वशाखा प्रत्यय न्याय अनुसार (उपनिषदों में एक शाखा की नियम अन्यान्य शाखावों में ग्रहण के माफिक) कारणता बोधक समस्त वाक्य ही में जाना गया कि ब्रह्म सजातीय रहित, सुतरां जगत् कारण करके विशेषित अद्वितीय ब्रह्म का जो स्वरूप प्रतिपादन किया जायगा सो उन वाक्यों का अविरुद्ध होना चहिये । क्योंकि अद्वितीयत्व प्रतिपादक श्रुति कोई गुण के लिये ब्रह्म की सद्वितीयता नहीं सहन करेगी । न चेत्, 'निरंजन औ निर्गुण' इत्यादि वाक्यों के साथ विरोध होता है । अतएव यह स्वरूप लक्षण बोधक वाक्य 'अखण्ड एक रस' ही प्रतिपादन कर रहे हैं ॥ ३८ ॥

सत्येकस्यापि न दृष्टा ? समभिव्याहृत पद समुदायस्यैतत् तात्पर्यमिति निश्चिते सति द्वयोस्त्रयाणां सर्वेषां वा तदविरोधायैकस्येव लक्षणा न दोषाय।

तथा च शास्त्रज्ञैरभ्युपगम्यते,-कार्य्य वाक्यार्थवादिभिः लौकिक वाक्येषु सर्वेषां पदानां लक्षणा समाश्रीयते, अपूर्व कार्य्य एव लिंगादेर्मुख्य वृत्तत्वात्, लिंगादिभिः क्रिया कार्य्यं लक्षणया प्रतिपाद्यते कार्य्यान्वित-स्वार्थाभिधायिनां चेतरेषां पदानामपूर्व कार्य्यान्वित एव मुख्योऽर्थ इति क्रिया-कार्य्यान्वित-प्रतिपादनं लाक्षणिक मेव। अतो वाक्य-तात्पर्य्याविरोधाय सर्व पदानां लक्षणाऽपि न दोषः। अत इदमेवार्थजातं प्रतिपादयन्तो वेदान्ताः प्रमाणम् ॥ ३६ ॥

भला 'सत्य ज्ञान'-प्रभृति पदसमुदाय यदि स्व स्व अर्थ परित्याग करके स्वार्थ विरुद्ध कोई विशेष वस्तु प्रतिपादन करें, तब तो (उन पदों की) लक्षणा की गन्धी नहि-यह दोष या ऐसा दोष नहीं होगा, कारण यह कि, अभिधान वृत्ति से (मुख्यार्थ से) तात्पर्यार्थ समधिक बलवान होता है, और, सामानाधिकरण्य का (विशेष्य विशेषण में) जो ऐक्य या अभेद प्रतिपादन ही में (वाक्यों का) तात्पर्य, यह सर्व वादी सम्मत।

भला, समस्त पद की लक्षणा तो कुत्रापि दृष्टिगोचर नहीं होती है ? (उत्तर) तब क्या वाक्यों का तात्पर्य विरोध में एक पद की भी लक्षणा देखी नहीं जाती ? (वस्तुतः) सह पठित पद समुदयात्मक वाक्य का जब 'यही तात्पर्य'-इस प्रकार के (तात्पर्य्य विशेष) निश्चय होता है तब तो, कोई विरोध की सम्भावना में भी, तत् परिहार के लिये, एक पद की जैसा दो-तीन या समुदाय पदों की लक्षणा दोषावह नहीं है। शास्त्राभिज्ञों भी इसी प्रकार से (बहु पदोंकी लक्षणा का निर्दोषत्व) स्वीकार करते हैं,-कार्य्य-वाक्यार्थ वादियों ने (जो लोग कहे हैं कि क्रिया बोधक न होने में कोई भी वाक्य प्रमाण नहीं होता हैं,-इन मत वालों ने) लौकिक अर्थात् व्यवहार निष्पादक वाक्यों में भी समस्त पद की लक्षणा स्वीकार किये हैं। कारण-(उनके मत में) 'लिङ्'-प्रभृति विधि प्रत्यय का मुख्य अर्थ-कार्य्य या उपादनीय-अपूर्व। सुतरां (कहना चाहिये कि) लिङ् प्रभृति प्रत्यय तब जो, क्रिया-यज्ञादि रूप कार्य्य को समझाता है सो भी लक्षणा ही से समझा जाता है।

प्रत्यक्षादिविरोधे च शास्त्रस्य बलीयस्त्वमुक्तम् । सति च विरोधे बलीयस्त्वं वक्तव्यं विरोध एव न दृश्यते निर्विशेष सन्मात्र-ब्रह्म ग्राहित्वात् प्रत्यक्षस्य ।

ननु च, घटोऽस्ति पटोऽस्तीति नानाकार वस्तु विषयं प्रत्यक्षं कथमिव सन्मात्र-ग्राहीत्युच्यते ? विलक्षण ग्रहणाभावे सति सर्वेषां ज्ञानानामेकविषयत्वेन धारावाहिक-ज्ञानवदेक-व्यवहारहेतु तैव स्यात् ? सत्यम्, तथैवात्र विविच्यते,- कथं घटोस्तीत्यत्रास्तित्व-तदभेदश्चव्यवह्रियते ? न च द्वयोरपि व्यवहारयोः प्रत्यक्ष-मूलत्वं सम्भवति । तयोर्भिन्नकाल ज्ञानफलत्वात् प्रत्यक्षज्ञानस्य चैक लक्षणवर्तित्वात् तत्र स्वरूपं भेदो वा प्रत्यक्षस्य विषय इति विवेचनीयम् । भेदग्रहणस्य स्वरूपग्रहण-तत्-प्रतियोगिस्मरण-सव्यपेक्षत्वादेव स्वरूप विषयत्वमवश्याश्रयणीयमिति न स-भेदः प्रत्यक्षेण गृह्यते । अतो भ्रान्ति-मूल एव भेद व्यवहारः ॥ ४० ॥

और, अपरापर जो जो पद यज्ञादि क्रिया बोधक वाक्यों के साथ अन्वित याने सम्बद्ध हो कर अपना अपना अर्थ को समझाता है, ऐसे पदों के भी जब, अपूर्व कार्य्य सम्बद्ध अर्थ हो मुख्य अर्थ, तब तो, उन पद समुदाय भी जो, केवल अनुष्ठेय कार्य्य सम्बन्ध रूप अर्थ को समझाते हैं, सो भी, निश्चय करके लाक्षणिक या लक्षण मूलक । अतएव, वाक्य का तात्पर्य्य-विरोध से बचने के लिये समस्त पद की लक्षणा भी दोषावह नहीं है । अतएव वह पूर्वोक्त विषय को प्रतिपादन में ही वेदान्त-वाक्य सकल प्रमाण रूप हैं ॥ ३९ ॥

पहले ही कहा गया है कि, जब शास्त्र के साथ प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध होता है तब शास्त्र ही बलवत्तर है, और, विरोध समय में ही बलवत्ता होती है। वस्तुतः, यहाँ पर कोई भी विरोध परिलक्षित नहीं हो रहा है, क्यों कि, निर्विशेष सत् स्वरूप ब्रह्म को प्रत्यक्ष किया जा सकता,-(प्रत्यक्ष में तो विवाद किसी का नहीं, सुतरां, उस विषय में बला बल की चिन्ता भी अनावश्यक है ।)

भला, 'घट है' 'पट है'-इत्यादि प्रकार विविध वस्तु विषय में जब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब वह जो, सन्मात्र ग्राही, अर्थात् सत् भिन्न और कुछ ही प्रत्यक्ष द्वारा जाना नहीं जाता-यह कैसे कहा गया ? (ज्ञान विषय में) यदि, ग्राह्य वस्तु के ग्रहण में ही हो अथवा,

किं च भेदो नाम कश्चित् पदार्थो न्यायविद्भिर्निरूपयितुं न शक्यते भेद स्तावत् न वस्तुनः स्वरूपं, वस्तुस्वरूपे गृहीते स्वरूप व्यवहारवत् सर्वस्माद् भेद व्यवहार-प्रसक्तेः। न च वाच्यम्, स्वरूपे गृहीतेऽपि 'भिन्न' इति व्यवहारस्य प्रतियोगिस्मरण-सव्यपेक्षत्वात् तत्स्मरणाभावेन तदानीमेव न भेद व्यवहार इति। स्वरूप मात्रभेदवादिनोहि प्रतियोग्यपेक्षा च नोत्प्रेक्षितुं क्षमा, स्वरूप-भेदयोः स्वरूपत्वाविशेषात्। यथा स्वरूप व्यवहारो न प्रतियोग्यपेक्षः भेद व्यवहारोऽपि तथैवस्यात्; हस्तःकर इतिवत् घटोभिन्न इति पर्य्यायत्वं च स्यात्? नापि धर्मः धर्मत्वे सति तस्य स्वरूपाद्भेदोऽवश्याश्रयणीयः, अन्यथा स्वरूपमेव स्यात्, भेदे च तस्यापि भेदस्तद्धर्मः तस्यापीत्यन्वस्था ॥ ४१ ॥

स्वाभाविक ही हो, कोई विलक्षणता न रहे, और मात्र सत् वस्तु ही यदि समस्त ज्ञान का ग्राह्य, विषय हो, तब तो, धारावाहिक ज्ञान की न्याय समस्त ज्ञान की ही एकाकार प्रतीति हो सकती—व्यवहार भी हो सकता है? (कई एक ज्ञानों में परस्पर पार्थक्य बोध नहीं हो सकेगा?)

प्रत्युत्तर में कहा जा रहा है कि,—ठीक है, यहाँ पर उसी की विवेचना की जा रही है- (पूँछना चाहिये कि) 'घट है'-इस व्यवहार में घट का अस्तित्व, तथा और वस्तुओं से उसका प्रभेद, इन दोनों की प्रतीति कैसे होती है? एक प्रत्यक्ष दर्शन ही (युगपत् या क्रम से) उन दोनों व्यवहारों का मूल या कारण नहीं हो सकता है। हेतु यह है कि, उन दोनों ही विभिन्न कालीन ज्ञान फलात्मक, अर्थात् पहिले सत्ता की प्रतीति, इसी के फ़ल रूप पीछे से तत्गत पार्थक्य प्रतीति होती है, अथ च उक्त प्रत्यक्ष ज्ञान सो क्षणमात्र स्थायी, (सुतरां, क्रम से उन उभय विषयों को ग्रहण नहीं कर सकता)। अतएव, घट का अस्तित्व ही उस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय? या तद्गत पार्थक्य? इसकी विवेचना करनीचाहिये,

वस्तु की स्वरूपानुभूति तथा भेद प्रतियोगी की जिसकी अपेक्षा से भेद व्यवहार होता है उसका) स्मरण व्यतीत कदा च भेद प्रतीति नहीं होती है, सुतरां वस्तु का स्वरूप को ही प्रत्यक्ष का विषय रूप मानना पड़ता है, कार्य्यतः वस्तु का वह प्रभेद सो फिर प्रत्यक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता? अतएव वस्तुगत भेद का जो प्रत्यक्षत्व-व्यवहार सो भ्रान्तिमूलक-वास्तविक नहीं ॥ ४० ॥

किं च, जात्यादि-धर्मविशिष्ट-वस्तुग्रहणेसति भेद ग्रहणम्, भेद ग्रहणे सति जत्यादि धर्म विशिष्ट-वस्तु-ग्रहणमिति अन्योन्याश्रयणम्। अतो भेदस्यापि दुर्निरूपत्वात सन्मात्रस्यैव प्रकाशकम् प्रत्यक्षम्।

किं च, घटोऽस्ति पटोऽस्ति, घटोऽनुभूयते पटोऽनुभूयते इति सर्वे पदार्थाः सत्तानुभूति घटिता एव दृश्यन्ते। अत्र सन्मात्रं सर्वासु प्रतिपत्तिष्वनुवर्तमानं दृश्यते, इति तदेव परमार्थः विशेषास्तु व्यावर्तमानतया अपरमार्था रज्जु-सर्पादिवत्। यथा रज्जुरधिष्ठानतया अनुवर्तमाना सती परमार्था, व्यावर्तमानः सर्प-भूदल-नाम्बुधारादयोऽपरमार्थाः ॥ ४२ ॥

और भी एक बात,-न्यायवित् पण्डितों ने भेद नामक कोई पदार्थ निरूपण नहीं कर पाये। क्यों कि, भेद तो कोई वस्तु का स्वरूप नहीं है (वस्तु स्वरूप होने में-) वस्तु स्वरूप जानने से, जैसे उसका व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार और सब पदार्थों से उसका भेद जो है सो उसका भी व्यवहार हो सकते ? (क्यों कि भेद जब वस्तु का ही स्वरूप यह भी नहीं कहा जा सकता कि,—'यह अमुक (फलाना) से भिन्न' इस प्रकार व्यवहार में प्रतियोगी का (जिससे भेद किया जाता है उसका) स्मरण की अपेक्षा रहती है, सुतरां, उस प्रतियोगी का स्मरण भाव से, उस समय पर स्वरूप-प्रतीति होती हुई भी, भेद व्यवहार नहीं हो सकता ? कारण है यह कि, जो लोक वस्तु- भेद को ही वस्तु. स्वरूप करके कहते हैं, (भेद की प्रतीति के लिये जो) प्रतियोगी-स्मरण की अपेक्षा (है या रह सकती है) यह वे लोग कल्पना भी नहीं कर पाते। क्योंकि (उनके मतमें) वस्तु का स्वरूप तथा उसका भेद-दोनों ही 'वस्तु स्वरूप' कोई भी विशेष नहीं। स्वरूपतः वस्तु व्यवहार में, जैसे, प्रतियोगी-स्मरण की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार से उसके भेद व्यवहार में भी (उस स्मरण की) अपेक्षा नहीं हो सकती। और, (इस मत में) 'हस्त' तथा 'कर' शब्दों की न्याय 'घट' तथा 'भिन्न' इन दोनों के पर्य्यायत्व या एकार्थत्व हो सकते ? और भी यह है कि-वह जो भेद सो वस्तु का धर्म नहीं है। क्योंकि धर्म होने पर, वस्तु-स्वरूप से उसका भेद को स्वीकार करना ही पड़ेगा, नहीं तो वह भी स्वरूप ही हो पड़ेगा, फिर उसका भी भेद तथा धर्म फिर उसका भी भेद तथा उसका धर्म-इस प्रकार से अनवस्था रूप दोष होगा ॥ ४१ ॥

ननु च, रज्जु-सर्पादौ 'रज्जुरियं, नायं सर्प' इत्यादि रज्ज्वाद्यधिष्ठान-याथात्म्य-ज्ञानेन वाधितत्वात् सर्पादेरपरमार्थ्यं, न व्यावर्तमानत्वात् । रज्ज्वादेरपि पारमार्थ्यं नानुवर्तमानतया किन्तु अबाधितत्वात् । अत्रतु, आबाधितानां घटादीनां कथमपारमार्थ्यम् ? उच्यते,- घटादौदृष्टा व्यावृत्तिः, सा किं रूपेति विवेचनीयम्, क घटोऽस्तीत्यत्र पटाद्यभावः ? सिद्धं तर्हि घटोऽस्तीत्यनेन पटादीनाम् बाधितत्वम् ।

अतो बाध-फलभूता विषय निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, सा व्यावर्तमानानामपारमार्थ्यं साधयति, रज्जुवत् सन्मात्रमबाधितमनुवर्तते । तस्मात् सन्मात्रातिरेकि सर्बमपरमार्थम् । प्रयोगश्चभवति,-सत् परमार्थम् अनुवर्तमानत्वात् रज्जु सर्पादौ रज्वादित् । घटादयो अपरमार्था व्यावर्तमानत्वात् रज्ज्वाद्यधिष्ठान-सर्पादिवदिति । एवं सत्यनुवर्तमानानुभूतिरेव परमार्था, सैव सती ॥ ४२ ॥

अपि च, घटत्वादि जाति तथा शुक्लत्वादि गुण, इत्यादि धर्म विशिष्ट वस्तुवों का ज्ञान होवे ही में तद्गत भेद की प्रतीति होगी । और, भेद-प्रतीति होने पर (घटत्वादि) जाति विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान होगा । इस रूप से अन्योन्याश्रय-दोष होगा । अतएव, भेद-निरूपण जब असम्भव है तब मानना चाहिये कि प्रत्यक्ष ज्ञान 'सत्' वस्तु का ही प्रकाशक अन्य का नहीं ।

फिर भी, 'घट है, पट है' तथा घट अनुभूत हो रहा है'-इत्यादि रूप से समस्त पदार्थ ही 'सत्ता' तथा अनुभूति के साथ ही अनुभूत होते देखा जाता है । उक्त प्रकार समस्त अनुभूति में ही एक मात्र 'सत' या सत्ता की ही अनुवृत्ति देखी जाती है, सुतरां, वही 'सत्' ही मात्र परमार्थ या यथार्थ विषय है । पक्षान्तर में, घट पटादि विशेष विशेष धर्म सकल परस्पर व्यावृत्त अर्थात् अलग अलग रहते हैं, इसी से, रज्जु सर्पादि न्याय वे समुदाय (विशेष) अपरमार्थ या असत् ।

अर्थात् --जैसे, सर्प का अधिष्ठान या आश्रय रूप से वर्तमान रहने में रज्जु की ही परमार्थता, और (उसी स्थल में) व्यावर्तमान अर्थात् परिवर्तन-शील सर्प, भू दलन तथा जलधारा प्रभृति सो सब असत्य । ('घट है' इत्यादि में भी ठीक उसी प्रकार-एक मात्र सत्ता ही परमार्थ सत्य विषय, घटादि पदार्थ सो सभी अपरमार्थ) ॥ ४२ ॥

ननुच, सन्मात्रमनुभूतेर्विषयतया ततो भिन्नम्, नैवम्, भेदो हि प्रत्यक्षाविषयत्वाद् दुर्निरूपत्वाच्च पुरस्तादेवनिरस्तः । अतएव, सतोऽनुभूति विषयभावोऽपि न प्रमाण पदवीमनुसरति। तस्मात् सत् अनुभूतिरेव; सा च स्वतः सिद्धा- अनुभूतित्वात्, अन्यतः सिद्धौ घटादिवदनुभूतित्व प्रसंगः ।

किं च, अनुभवान्तरापेक्षा च अनुभूतिर्नशक्या कल्पयितुम्, स्वसत्तयैव प्रकाशमानत्वात् । नहि अनुभूतिर्वर्तमाना घटादिवदप्रकाशा दृश्यते, येन परायत्तप्रकाशा भ्युपगम्येत ॥ ४४ ॥

पुनश्च प्रश्न यह है कि, 'रज्जु सर्पादि में, यह सर्प नहीं-रज्जु' इत्यादि भ्रम का आश्रयीभूत रज्जु प्रभृति वस्तु का सत्यत्व ज्ञान से बाधित होता है, तभी उन सर्पादिकों का अपारमार्थिकत्व या मिथ्यात्व (जाना जाता) किन्तु व्यावृत्ति निबन्धन नहीं । पक्षान्तर पर उन रज्जु प्रभृति की जो पारमार्थिकता सो भी अनुवृत्ति निबन्धन नहीं—किन्तु अबाधितत्व निबन्धन । यहाँ पर, घटादि पदार्थों की बाधा नहीं है तब फिर उनके अपरमार्थत्व क्यों हो ? हाँ-सो कहा जाता है-घटादि में जो पट की व्यावृत्ति, (भेद) देखी जाती सो कैसी-यह विवेचन करना चाहिये,-'घट है'-इस पर क्या पट का अभाव समझा जायगा ? तब तो, 'घट है' ऐसा कहने से पटादि का बाधितत्व या बाध सिद्ध ही भया ?

अतएव पटादि विषय की निषेधात्मक जो व्यावृत्ति सो पटादि-बाध ही का फलस्वरूप । वही व्यावृत्ति ही व्यावर्तमान अर्थात् निषिद्ध पटादि का अपारमार्थिकत्व साधन करता है, और, (रज्जु सर्प का) अबाधित रज्जु की न्याय केवल सत् या सत्ता धर्म सो अबाधित भाव से सर्वत्र अनुगमन करता है । अतएव सत् भिन्न और सभी अपरमार्थ, । इस विषय पर अनुमान भी किया जा सकता है,-'सत्' पदार्थ ही परमार्थ, क्यों कि वह सर्वत्र अनुवृत्त होता है, जैसे-रज्जु सर्पादि में रज्जु प्रभृति । घटादि पदार्थ अपरमार्थ-मिथ्या क्यों कि वह सब व्यवृत्त होता है, जैसे रज्जु प्रभृति आश्रय में स्थित सर्प प्रभृति इस नियमानुसार (जाना जाता है कि) सर्वत्र अनुवर्तमान अनुभूति ही परमार्थ तथा वही सत् पदार्थ ॥ ४५ ॥

अथैवं मनुषे, उत्पन्नायामप्यनुभूतौ विषयमात्रमवभासते-घटोऽनुभूयत इति। नहि कश्चित् घटोऽयमिति जानन् तदानीमेवाविषयभूतामनिदम्भा वा मनुभूतिमप्यनुभवति। तस्माद् घटादि-प्रकाश-निष्पत्तौ चक्षुरादिकरण सन्निकर्षवदनुभूतेःसद्भाव एव हेतुः। तदनन्तरमर्थगत-कदाचित्क प्रकाशातिशय लिंगेन अनुभूतिरनुमीयते

एवं तर्हि, अनुभूतेरजड़ाया अर्थवज्जडत्वमापद्येत इति चेत्? किमिदम् जड़त्वंनाम? न तावत् स्वसत्तायाःप्रकाशाव्यभिचारःसुखादिष्वपि एतत् सम्भवात्। नहिकदाचिदपि सुखादयः सन्तो नोपलभ्यन्ते। अतोऽनुभूतिः स्वयमेवनानुभूयते, अर्थान्तरं स्पृशतोऽप्यंगुल्यग्रस्य स्वात्म-स्पर्शवद शक्यत्वादिति।

तदिदमनाकलितानुभव-विभवस्य स्वमति विजृम्भितम्, अनुभूतिव्यतिरेकिणो विषयधर्मस्य प्रकाशस्य रूपादिवदनुपलब्धेः उभयाभ्युपेतानुभूत्यैवाशेष-व्यवहारोपपत्तौ प्रकाशाख्यार्थ-धर्मकल्पनानुपपत्तेश्च। अतोनानुभूतिरनुमीयते नापिज्ञानान्तर-सिद्धा, अपितु सर्वं साधयन्त्यनुभूतिः स्वयमेवसिध्यति। प्रयोगश्च,-अनुभूतिरनन्याधीन स्वधर्म-व्यवहारा स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद्धर्म-व्यवहार-हेतुत्वात्। यः स्वसम्बन्धादर्थान्तरे तद्धर्म-व्यवहारहेतुः, स तयोः स्वस्मिन् अनन्याधीनो दृष्टः, यथा रूपादिश्चाक्षुपत्वादौ। रूपादिर्हि पृथिव्यादौ स्वसम्बन्धाच्चाक्षुपत्वादि जनयन् स्वस्मिन् न रूपादि-सम्बन्धाधीनश्चाक्षुपत्वादौ। अतोऽनुभूतिरात्मनः प्रकाशमानत्वे, 'प्रकाशते' इति व्यवहारे च स्वयमेवहेतुः॥ ४५॥

पुनः जिज्ञास्य यह है कि, सत् जब अनुभव का विषय अर्थात् अनुभव-ग्राह्य तब तो निश्चय करके वह अनुभव से भिन्न, नही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि, वह भेद प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता और (अन्य प्रमाण द्वारा भी) निरूपण नहीं किया जा सकता, इसी निमित्त वह प्रथम ही परित्यक्त भया है। इसी से, केवल सत् या सत्ता जो अनुभूति का विषय होता है सो इसको कोई प्रमाण में नहीं लिया जा शक्ता। तभी, सद् पदार्थ सो अनुभूति से भिन्न नहीं और, अनुभूति करके ही वह स्वतः सिद्ध-(कोई प्रमाण की अपेक्षा नहीं करती) उसकी सिद्धि अन्य प्रमाण के अधीन होने से (प्रमाणान्तर

सिद्ध) घटादि वस्तु की न्याय वह भी अनुभूति रूप हो जाता अर्थात् वह अनुभव रूप में ही नहीं गिने जाते।

और भी, अनुभूति की सत्ता ही जब प्रकाशमान या स्वप्रकाश, तब फिर, उसी (स्वप्रकाश) अनुभूति का प्रकाश के निमित्त और दूसरी अनुभूति की कल्पना नहीं की जा सकती, घटादि पदार्थ जैसे अप्रकाश अवस्था में रहता है, अनुभूति को उसी प्रकार से रहते देखा नहीं जाता, जिस करके उसका प्रकाश को भी पराधीन स्वीकार किया जाय॥४४॥

यदि; ऐसा माना जाय कि, अनुभूति उपजती हुई भी, उससे केवल 'घट अनुभूत हो रहा है' इत्याकार से विषय-घट ही प्रकाशित होता है (स्वयं अनुभूति प्रकाशित नहीं होती)। इसमें कारण यह पड़ा है-'यह घट है'-इस प्रकार ज्ञान समय कोई भी 'इदं भाव' से शून्य (श्वेत पीतादि विशेष विशेष भाव रहित) और अविषय (प्रमाण का अग्राह्य) अनुभूति को भी अनुभव नहीं करते। अतएव, घटादिकों का प्रकाश सम्पादन में चक्षु प्रभृति इन्द्रिय वर्ग का सन्निकर्ष या सानिध्य जैसे हेतु हैं तैसे ही अनुभूति का प्रकाश में स्वीय सद्भाव ही मात्र हेतु। वादको फिर, 'अर्थः-घटादि विषय का जो कादाचित्क (स्वभावसिद्ध नहीं, आगन्तु) अधिकतर प्रकाश रूप होता है उसी प्रकाश दर्शन रूप लिंग (हेतु) से अनुभूति का सद्भाव अनुमित होता है। यदि कहा जाय कि, ऐसा होने पर घटादि विषय को न्याय अजड़ा (चिन्मयी) अनुभूति का भी जड़त्व (ज्ञान भिन्नत्व) हो सकता? उत्तर-यह जो जड़त्व सो है क्या? जिसका सद्भाव में प्रकाश का व्यभिचार कभी नहीं हो,-सो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि, सुखादि स्थल में भी ऐसा (प्रकाश का व्यभिचार) सम्भव है। कारण यह कि, विद्यमान सुखादि कभी भी अनुप--लब्ध या अविज्ञात नहीं रहता है। अतएव, अंगुली का अग्रभाग जैसा और वस्तु को स्पर्श करते हुये भी अपने को स्पर्श नहीं कर पाते क्योंकि, वह काम अंगुली का शक्ति साध्य नहीं है, उसी रूप से, अनुभूति स्वयं ही अनुभूत उसका अनुभवान्तर नहीं हो सकता।

अतएव, वे सब आपत्तियां अनुभव की महिमा को न जानने वालों की मनः कल्पना मात्र (इसमें कोई प्रमाण या युक्ति नहीं है।)। हेतु यह है कि, विषय धर्मरूप (श्वेत पीतादि) जैसे (सर्व साधारण का) उपलब्धि-गोचर होता है (किन्तु) विषय का

सेयं स्वयम्प्रकाशा अनुभूतिर्नित्या च प्रागभावाद्यभावात्, तदभावश्च स्वतः सिद्धत्वादेव (नहि अनुभूतेः स्वतः सिद्धायाः प्रागभावः स्वतोऽन्यतोवाअवगन्तुं शक्यते । अनुभूतिः स्वाभावमवगमयन्ती सती तावत्नावगमयति, तस्याःसत्वे विरोधादेव तदभावो नास्तीति कथं स्वाभावमवगमयति,एवमसत्यपि नावगमयति, अनुभूतिः स्वयमसती कथं स्वाभावे प्रमाणं भवेत् । नाप्यन्यतोऽवगन्तुं शक्यते, अनुभूतेरनन्य गोचरत्वात् । अस्याःप्रागभावं साधयत् प्रमाणं 'अनुभूतिरियम्' इति विषयीकृत्य तदभावं साधयेत्; स्वतः सिद्धत्वेन 'इयम्' इति विषयीकारानर्हत्वात् तत् प्रगभावो नान्यतः शक्यावगमः अतोऽस्याः प्रागभावाद्यभावादुत्पत्तिर्नशक्यते वक्तुमिति, उत्पत्ति-प्रतिबन्धाच्च अन्येऽपि भाव-विकारास्तस्या न सन्ति ।

अनुत्पन्नेयमनुभूतिरात्मनि नानात्वमपि न सहते व्यापक विरुद्धोपलब्धेः नहि अनुत्पन्नं नानाभूतं दृष्टम् । भेदादीनामनुभाव्यत्वेन च रूपादेरिवानुभूति-धर्मत्वं न सम्भवति । अतोऽनुभूतेरनुभवस्वरूपत्वादेव अन्योऽपिकश्चिदनुभाव्योनास्या धर्मः । यतोनिर्धूत-निखिलभेदा संवित्, अतएव नास्याः स्वरूपातिरिक्त आश्रयो ज्ञातानाम् कश्चिदस्तीति स्वप्रकाशरूपासैवात्मा अजड़त्वाच्च, अनात्मत्वव्याप्तं जड़त्वम्, संविदि व्यावर्तमानमनात्मत्वमपिहि संविदोव्यावर्तयति ॥ ४६ ॥

(ज्ञेय वस्तुका) धर्म होने पर भी, अनुभूति के अतिरिक्त उस प्रकार का और कोई प्रकाश उपलब्ध नहीं होता है, तथा उभय (वादी और प्रतिवादी) सम्मत अनुभूति से ही जब सब व्यवहार उत्पन्न हो सकता है, तब, विषय का प्रकाश नाम का एक अतिरिक्त धर्म कल्पना करना ठीक नहीं होगा । अतएव, अनुभूति अनुमान-सिद्ध भी नहीं किम्वा ज्ञानान्तर सिद्ध भी नहीं, परन्तु, सब व्यवहार सम्पादन करती है इसीलिये अनुभूति स्वतःसिद्ध इस पर प्रयोग या अनुमान प्रणाली-यथा,-अनुभूति का स्वीय धर्म (अनुभूतित्व या प्रकाश) तथा उसका व्यवहार और प्रमाण के अधीन नहीं, क्योंकि, स्वीय सम्बन्ध (अनुभव) वशतः अपर वस्तुमें प्रकाश, धर्म तथा व्यवहार उत्पादन करता है । (इस पर व्याप्ति या नियम-यथा) जो पदार्थ स्वसम्बन्ध वशतः अपर वस्तु में आत्मानुरूप धर्म तथा व्यवहार

समुत्पादन करता है, वह जो पदार्थ सो उस धर्म तथा व्यवहार उत्पादन-कार्य में स्वयं पराधीन नहीं बनता। जैसे (श्वेत पीतादि) रूप स्वसम्बन्ध (रूप युक्त) पृथिवी प्रभृति पदार्थ को चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय करता हैं, किन्तु अपने को चक्षुग्राह्य करने के लिये पृथक रूपादि सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता है। अतएव (वैसे ; अपना उक्त प्रकार का प्रकाश धर्म में तथा प्रकाश व्यवहार में अनुभूति स्वयं ही कारण रूप होती है (अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करती) ॥ ४५ ॥

उल्लिखित अनुभूति सो नित्य सिद्ध; क्योंकि, इसका प्रागभाव प्रभृति (उत्पत्ति-कारण) नहीं है, तथा स्वतः सिद्धत्व निवन्धन ही उसका प्रागभाव भी नहीं है। कारण यह है कि, स्वतः सिद्ध (अपराधीन) अनुभूति प्रागभाव स्वतः परतः या किसी रूप से जाना नहीं जाता अनुभूति सती अर्थात् अपने होते हुये कभी भी अपना अभाव ज्ञापन नहीं कर सकती। क्योंकि अनुभूति रहते रहते अनुभूति का अभाव नहीं होता, कारण-वह विरुद्ध धर्म है; सुतरां, होते हुये भी अपना अभाव की प्रतीति वह क्योंकर करावेगा ? ऐसे न होते हुये (अनुभूति) अपने को कैसे अवगत करा सकती-नहीं करा सकती कारण-अनुभूति स्वयं असती या अस्तित्व शून्य होते हुये अपना अभाव में प्रमाण क्यों कर होगी ? अन्य प्रमाण से भी वह नहीं जाना जा सकता; क्योंकि, जो स्वयं प्रकाश अनुभूति अपर प्रमाण का विषय नहीं है। (क्योंकि) कोई भी प्रमाण, इस अनुभूति का प्रागभाव को साधन करने में, पहिले ही 'यह अनुभूति'-ऐसा कह कर, अनुभूति को ही अवलम्बन करेगा (जानेगा) पीछे से उसका प्रागभाव को साधन करेगा; (अब अनुभूति का अभाव प्रमाण करने में) अनुभूति को 'यह' कह कर स्वतः सिद्धवत् उल्लेख नहीं किया जा सकता। इसी कारण से (कहना पड़ता-) अनुभूति का प्रागभाव सो कोई प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, अर्थात् प्रथम की प्रतीति से पहिल ही अनुभूति की प्रतीति रहती है, सुतरां, विद्यमान जो अनुभूति सो उसका प्रागभाव को किसी प्रमाण द्वारा साधन नहीं किया जा सकता। अतएव, प्रागभाव प्रभृति किसी भी अभाव से इस अनुभूति की उत्पत्ति नहीं कही जा सकती। (फलतः) उत्पत्ति के प्रतिबन्धक या बाधा रहते हुये अन्यान्य (वृद्धिक्षय प्रभृति) भाव विकार सो अनुभूति के बारे में नहीं होगा।

ननु च, अहं जानामीति ज्ञातृता प्रतीति-सिद्धा, मैवम्, सा भ्रान्तिसिद्धा-रजततेव शुक्ति शकलस्य, अनुभूते स्वात्मनि कर्त्तृत्वायोगात् । अतो मनुष्योऽह-मित्यअन्तर्बहिर्भूत-मनुष्यत्वादि-विशिष्ट-पिण्डात्माभिमानवत् ज्ञातृत्वमप्यध्यस्तम् । ज्ञातृत्वं ही ज्ञानक्रियाकर्तृत्वम्; तच्चविक्रियात्मकंजड़ं विकारि-द्रव्याहंकार-ग्रन्थिस्थम् अवक्रिये साक्षिणि चिन्मात्रात्मनि कथामिव सम्भवति ? दृश्यधीन-सिद्धित्वादेव रूपादेरिव कर्तृत्वादेर्नात्म धर्मत्वम्, सुषुप्ति-मूर्च्छादावहं प्रत्ययाभावेऽप्यात्मानुभव-दर्शनेन नात्मनोऽहंप्रत्ययगोचरत्वम्, कर्तृत्वे अहंप्रत्यय-गोचरत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येव जड़त्व-पराक्त्वानात्मत्वादि-प्रसंगोदुष्परिहरः । अहंप्रत्यय-गोचरात् कर्तृतया प्रसिद्धात् देहात् तत्क्रियाफलस्य स्वर्गादेर्भोक्तुरात्मनोऽन्यत्वं प्रामाणिकानां प्रसिद्धमेव । तथा अहमर्थात् ज्ञातुरपि विलक्षणः साक्षी प्रत्यगात्मेति प्रतिपत्तव्यम् ॥ ४७ ॥

अनुभूति स्वयं उत्पन्न न होकर अपने में नानात्व या भेद भी उपजा नहीं सकती क्योंकि, अनुत्पन्न किसी भी वस्तु को (जब) नानाविध (वैचित्र्यमय) नहीं देखा जाता (तब तो वैसा होना) सो भी व्यापक विरुद्ध । अर्थात्, उत्पत्ति सोई व्यापक धर्म है, और नानात्व सो उसी का व्याप्य धर्म (अधीन धर्म व्यापक के अभाव में व्याप्य धर्म नहीं रह सकता, सुतरां, व्यापक की उत्पत्ति का अभाव पर भी नानात्व को कथन सो भी व्यापक विरुद्ध हो जायगा । और, रूप रसादिकों के न्याय भेद प्रभृति धर्म सो भी सब अनुभव ही के विषयीभूत, इसी निमित्त वे सब अनुभव के धर्म नहीं हो सकते अतएव, अनुभूति जब स्वयं ही अनुभावात्मक, तब तो, कोई भी अनुभाव्य सो इसका धर्म नहीं हो सकता । जिस हेतु करके, संवित (अनुभूति) जो वस्तु सो सर्व प्रकार भेदों से रहित, उसी हेतु से कोई भी ज्ञाता इसका स्वरूपातिरिक्त आश्रय नहीं होते । अतएव, स्वयं प्रकाशमान वही अनुभूति ही आत्मा । संवित् या अनुभूति ही को आत्मा होने में संविद का चिन्मयत्व भी अपर हेतु है । क्योंकि, जड़त्व धर्म सो अनात्मत्व का व्याप्य (जो जड़ सोई अनात्मा) अनुभूति में उस जड़त्व धर्म को न होने से उसका अनात्मत्व बाधित हो रहा है ॥ ४६ ॥

एवमविक्रियानुभवस्वरूपस्यैवाभिव्यंजको जड़ोऽप्यहंकारः स्वाश्रयतया तमभिव्यनक्ति। आत्मस्थतयाभिव्यंग्याभिव्यंजनमभिव्यंजकानां स्वभावः। दर्पण जलखण्डादिर्हि मुखचन्द्रबिम्ब गोत्वादिकमात्मस्थतयाभिव्यनक्ति तत्कृतोऽयं जानाम्यहमिति भ्रमः।

स्वप्रकाशाया अनुभूतेः कथमिवतदभिव्यंग्य जड़ रूपाहंकारेणाभि व्यंगत्वमिति मावोचः; रविकरनिकराभिव्यंग्य करतलस्य तदभिव्यंजकत्वोपदर्शनात्। जालकरन्ध्र-निक्रान्त द्युमणिकिरणानां तदभिव्यंग्येनापि करतलेन स्फुटतरप्रकाशोहि दृष्टचरः।

यतः 'अहं जानामि' इति ज्ञाता अयमहमर्थःचिन्मात्रात्मनो न पारमार्थिको धर्मः अतएव सुषुप्तिमुक्त्योर्नान्वेति। तत्रह्यहमुल्लेखविगमेन स्वाभाविकानुभव मात्ररूपेणात्मावभासते। अतएव, सुप्तोत्थितः कदाचित् मामप्यहं न ज्ञातवानिति परामृशति। तस्मात् परमार्थतो निरस्तसमस्त-भेदविकल्प निर्विशेषचिन्मात्रैकरस कूटस्थनित्यसम्विदेव भ्रान्त्या ज्ञातृ ज्ञेय-ज्ञानरूप-विविधविचित्रभेदा विवर्तते, इति तन्मूलभूताविद्या-निवर्हणाय नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव-ब्रह्मात्मैकत्व-विद्या-प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इति ॥ ४८ ॥

भला, 'हम जानते हैं' इत्यादि रूपमें (सभी जन आत्मा की) ज्ञातृता को अनुभव करता है? नहीं ऐसा नहीं कहना चाहिये, शुक्ति खण्ड में जैसे रजतत्वकी प्रतीति होती है, यह भी उसी प्रकार का भ्रान्तिप्रसूत (सत्य नहीं)। कारण, अनुभूति तो स्वयं स्वीय कर्ता (उत्पादक) नहीं हो सकती। अतएव, मनुष्यत्व प्रभृति धर्म विशिष्ठ अत्यन्त बाह्य पदार्थ (अनात्मा) देह पिण्डमें 'हम मनुष्य' यह आत्मबुद्धि जैसे अध्यस्त या भ्रमकल्पित उल्लिखित ज्ञातृत्व भी उसी प्रकार कल्पित-अध्यस्त। कारण,-ज्ञातृत्व क्या है? ज्ञान क्रिया का कर्तृत्व; सो भी, फिर स्वायं विकार शील तथा विकारमय जड़ वस्तु जो अहंकार है उसी अहंकार में अवस्थित; सुतरां, वह निर्विकार, सर्वसाक्षी, चिन्मय आत्मा में कैसे रह सकता, ज्ञान के अधीन रूप रसादिकों की प्रतीति जैसे आत्मा का धर्म नहीं है, वैसे ही ज्ञानाधीन-प्रतीति का विषय करके कर्तृत्व प्रभृति भी आत्मा के धर्म नहीं हो सकता।

(विशेषतः) सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि काल में, अहं प्रत्यय के अभाव पर भी आत्मानुभूति परिदृष्ट नहीं हो सकते । अतएव, आत्मा सो अहम्-प्रतीति के विषय नहीं है। आत्मा का कर्तृत्व तथा अहम्-प्रतीति विषयत्व को स्वीकार करने में देह की समान आत्मा की भी जड़ता, पराक्त्व (वाह्य पदार्थता) तथा अनात्मता प्रभृति दोषों का परिहार सो दुष्कर हो पड़ेगा ।

अहं बुद्धि का विषय तथा कर्ता रूप में प्रसिद्ध-देह से, देह सम्पाद्य क्रिया का फल-स्वर्गादिकों की भोक्ता रूप आत्मा का जो प्रभेद है सो प्रमाणज्ञों के निकट प्रसिद्ध ही है। (इसी प्रकार से) अहं-पदार्थ की ज्ञाता (जीव) से साक्षिरूप प्रत्यगात्मा (परमात्मा) जो विलक्षण-विभिन्न सो यह भी समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

इसी प्रकार से, अहंकार स्वयं जड़ होने पर भी, निर्विकार अनुभूति उसकी अभिव्यक्ति करता है; इस कारण के लिये, उस अनुभूति को आश्रित अर्थात् अहंकारगत करके प्रकटित करता है। अभिव्यंग्य (जिसको अभिव्यक्त करै वस्तु को आत्मस्थ याने स्वगत रूप में अभिव्यक्त करना ही अभिव्यंजक पदार्थ का स्वभाव या साधारण नियम । (देखा जाता है-) दर्पण या जलादि पदार्थ सकल मुख, चन्द्र मण्डल तथा गो प्रभृति वस्तुवों को आत्मस्थ (जलगत, दर्पणगत) रूप में अभिव्यक्त करता रहता है, 'हम जानते हैं'-इस व्यवहार में भी वही व्यंग्य व्यंजकभाव कृत भ्रम मात्र ।

ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि, अनुभूति स्वयं स्वप्रकाश तथा अहंकार का अभिव्यंजक-प्रकाशक, अतएव, वही अनुभूति फिर जड़ रूपी, स्वाभिव्यंग्य अहंकार द्वारा अभिव्यक्त कैसे होगा ? कारण,-देखा जाता है कि करतल स्वयं सौरकिरण का अभिव्यंग्य होते हुये भी, उस किरण को अभिव्यक्त करता है और, जो सूर्य किरण गवाक्ष जालरन्ध्र द्वारा निर्गत होता हो उससे करतल स्वयं प्रकाशित होता है, पुनश्च उसी हस्ततल द्वारा वह किरण अधिकतर प्रकाशित होता है ।

जिस हेतु से, 'हम जानते हैं'-इस प्रतीति की ज्ञाता 'अहं' पदार्थ जीव, शुद्ध चिन्मय आत्मा का पारमार्थिक गुण अथवा धर्म नहीं है, उसी हेतु से, सुषुप्ति तथा मुक्ति दशा पर वह अहंभाव अनुगमन नहीं करता है, उस अवस्था विषे 'अहं'-प्रतीति नहीं रहती, आत्मा

तदिदमौपनिषद-परमपुरुष-वरणीयता हेतु-गुणविशेषविरहिणामनादि-पापवासना-दूषिताशेष-शेमुषीकाणामनधिगत पदवाक्यस्वरूप-तदर्थयाथात्म्य प्रत्यक्षादि-सकलप्रमाणवृत्त-तदितिकर्तव्यतारूप-समीचीन-न्यायमार्गाणां विकल्पासह-विविध कुतर्क-कल्क-कल्पितमिति न्यायानुगृहीतवाक्य-प्रत्यक्षादि-सकल प्रमाण-वृत्त-याथात्म्यविद्भिरनादरणीयम् । तथाहिनिर्विशेषवस्तु-वादिभिर्निर्विशेषे वस्तुनि इदं प्रमाणमिति न शक्यते वक्तुम् ; सविशेष वस्तु-विषयत्वात् सर्व प्रमाणानाम् ।

यस्तु स्वानुभवसिद्धमिति स्वगोष्टी-निष्ठः समयः, सोऽप्यात्म-साक्षिकसविशेषानुभवादेव निरस्तः; इदमहमदर्शमिति केनचिद् विशेषेण विशिष्टविषयत्वात सर्वेषामनुभवानाम् । सविशेषोऽप्यनुभूयमानोऽनुभवः केनचिद् युक्त्याभासेन निर्विशेष इति निष्कृष्यमाणः सत्तातिरेकिभिः स्वासाधारणैः स्वभावविशेषैः निष्क्रष्टव्य इति निष्कर्षहेतुभूतैः सत्तातिरेकिभिःस्वासाधारणैः स्वभावविशेषैःसविशेषएवावतिष्ठते । अतः कैश्चिद् विशेषै विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽन्ये विशेषा निरस्यन्ते, इति न कचित् निर्विशेषवस्तुसिद्धिः । धियो हि धीत्वं स्वप्रकाशता च, ज्ञातुर्विषय-प्रकाशन स्वभावतयोपलब्धेः । स्वापमदमूर्च्छासु च सविशेष एवानुभव इति स्वावसरे निपुणतरमुपपादयिष्यामः ॥ ४६ ॥

केवल स्वभाव सिद्ध अनुभव रूप में प्रकाश प्राप्त होता है । सो, उसी कारण से, निद्रा से जागे हुये व्यक्ति 'हम हमको भी नहीं जानते रहे'-इस प्रकार का परामर्श रकते हैं ।

अतएव, वास्तविक में, सर्व प्रकार भेद कल्पना विरहित, निर्विशेष तथा एक मात्र चित् स्वरूप, कूटस्थ नित्य संवित् या ज्ञान ही भ्रमवश ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान स्वरूप-नाना विधि वैचित्र्य में विवर्तित होता रहता है । इसी कारण से, उस विवर्त-आरोप का मूल कारण-अविद्या की निवृत्ति के लिये, स्वभावतः नित्य शुद्ध बुद्ध तथा मुक्तस्वरूप ब्रह्म और आत्मा के अभेद-एकत्वको प्रतिपादन करने ही में समस्त वेदान्त शास्त्र आरब्ध भया है॥४८

श्री श्री रामानुजमतमें श्री श्री शंकरमतकाखण्डनः—

जिन्होंने उपनिषत् प्रतिपाद्य,-परम पुरुष के लाभोपयोगि-विशिष्ट गुणों से शून्य अनादिकाल-संचित तथा पाप मय संस्कार से कलुषित मति और, प्रकृत पद किस को कहा गया, यथार्थ वाक्य क्या है, किस अर्थ का क्या तात्पर्य, प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा तज्जनित

ज्ञान किस प्रकार का उसकी इति कर्तव्यता अर्थात् इन विषयों को प्रमाणों से सुव्यवस्थित करने के उपयोगी उपयुक्त न्याय प्राणली ही कैसी-इत्यादि विषयों को नहीं जाने उन्ही लोगों ने विचार के अयोग्य नाना न असार कुतर्क द्वारा पूर्वोक्त (शंकर) मत की कल्पना किये है। इसी कारण से, न्याया नुसार समस्त वाक्य तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण-लब्ध ज्ञान का मर्म को जानने वालों के लिये वह जो मत सो आदरणीय नहीं (उपेक्षणीय) है।

देखना चाहिये,-जो लोग निर्विशेष वस्तुवादी, निर्विशेष वस्तु विषे ऐसा 'यह सब प्रमाण हैं'- इस बात को वे लोग नहीं कह सकते, क्योंकि, प्रमाण मात्र ही सविशेष याने सगुण-वस्तु-ग्राही।

और, (यह) स्वीय अनुभव सिद्ध (सुतरां, प्रमाण की अपेक्षा नहीं है) यह जो उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्त, सो भी आत्म प्रतीति-सिद्ध सविशेष वस्तु का अनुभव से ही निरस्त या वाधित क्योंकि, 'हम यह देखे हैं' ऐसे अनुभवों में किसी भी एक विशेषण से विशेषित वस्तु की ही प्रतीति है (केवल वस्तु की प्रतीति नहीं होती)।

अनुभव पदार्थ सो सविशेष रूप में किसी न किसी विशेषण के साथ प्रतीयमान होने पर भी (यदि) किसी असत्य युक्ति से निर्विशेष करके निर्देश करना पड़े (तब तो) सत्त के अतिरिक्त, स्वीय असाधारण (जो अन्यत्र अप्राप्त, सो) स्वभाव प्रभृति धर्म से ही उसक निष्कृष्ट या विशेषित करके कहना पड़ेगा, (सुतरां ऐसे स्थानों में) सत्तातिरिक्त, स्वीय असाधारण धर्म—विशेष विशेष स्वभावों के द्वारा ही वह सविशेष हो जायगा। इसी कारण से ही, वस्तु किसी भी विशेषण द्वारा विशेषित होते ही उसके अन्यान्य धर्मों का निवारण हो जाता है। अतएव, कहीं भी निर्विशेष वस्तु की सिद्धि या प्रतीति नहीं होती। देखा जाता है कि, स्वभावतः ही ज्ञाता का ज्ञातव्य विषय को प्रकाश करना ही ज्ञान का स्वभाव है, उसी में ज्ञान के विषय प्रकाशकत्व तथा स्वप्रकाशकत्व (सिद्ध होते हैं)। सुषुप्ति, मत्तता तथा मूर्च्छाकालीन अनुभव भी, जो निर्विशेष नहीं, सो अपने अवसर पर उसको भी उत्तम रूप से प्रतिपादन किया जायगा। ४६ ॥

स्वाभ्युपगताश्च नित्यत्वादयो ह्यनेक-विशेषाः सन्त्येव । तेच न वस्तुमात्रमिति शक्योपपादनाः, वस्तुमत्राभ्युपगमे सत्यपि विधा-भेद-विवादर्शनात्, स्वाभिमत-तद्विधाभेदैश्च स्वमतोपपादनात् । अतःप्रामाणिक-विशेषैर्विशिष्टमेव वस्त्विति वक्तव्यम् ।

शब्दस्य तु विशेषेण सविशेष एव वस्तुन्यभिधानसामर्थ्यं, पदवाक्य, रूपेण प्रवृत्तेः । प्रकृतिप्रत्यय योगेन हि पदत्वं, प्रकृति-प्रत्यययोरर्थभेदेन पदस्यैव विशिष्टार्थ-प्रतिपादनमवर्ज्जनीयम् । पदभेदश्चार्थभेदनिबन्धनः, पदसंघात रूपस्य वाक्यस्यानेकपदार्थसंसर्ग-विशेषाभिधायित्वेन निर्विशेष वस्तु-प्रतिपादनासामर्थ्यात् न निर्विशेष वस्तुनिशब्दः प्रमाणम् ॥ ५० ॥

विशेषतः और भी,—उनके स्वीय अंगीकृत नित्यत्व प्रभृति कई एक विशेष विशेष धर्म तो हैं ही हैं, उनको तो वस्तु मात्र (निर्विशेष) कहि कर उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि, एक वस्तुमात्र स्वीकार करने में भी तद्विषयक बहुविध प्रकार भेद देख पड़ता है, तथा आपने भी स्वीय अभिमत प्रकार भेद द्वारा ही स्वमत को समर्थन किये हैं । अतएव, वस्तु मात्र प्रमाण सिद्ध विशेष विशेष धर्म युक्त, इस को स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

विशेषतः, पद तथा वाक्य रूप में परिगणित अर्थ बोधक शब्द अर्थात् शास्त्र भी सविशेष वस्तु का ही प्रतिपादन में समर्थ, निर्विशेष का नहीं) । कारण,—प्रकृति और प्रत्यय के योग से 'पद सिद्ध होता है । प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ एक नहीं है; कार्यतः, कोई भी पद विशिष्टार्थ— प्रतिपादन को परित्याग नहीं कर सकता । और, अर्थ भेद से ही पदों में भेद होता है, उन पदों के संघात या समष्टि रूप जो वाक्य, वे भी सब अर्थ को परस्पर (के साथ) विशेष विशेष सम्बन्ध को बोध कराते हैं, सुतरां, निर्विशेष वस्तु प्रतिपादन में समर्थ नहीं हैं । उसी असमर्थता के कारण, निर्विशेष वस्तु विषय में शब्द प्रमाण—यथार्थ ज्ञानोत्पादक, नहीं है ॥ ५० ॥

प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पक सविकल्पकभेदभिन्नस्य न निर्विशेष-वस्तुनि प्रमाणभावः। सविकल्पकं जात्याद्यनेक पदार्थविशिष्ट-विषयत्वादेव सविशेष विषयम्। निर्विकल्पकमपि सविशेष-विषयमेव, सविकल्पके-स्वस्मिन्ननुभूतपदार्थ विशिष्ट प्रतिसन्धान-हेतुत्वात्।

निर्विकल्पकं नाम केनचिद् विशेषेण वियुक्तस्य ग्रहणम्, न सर्व विशेष रहितस्य तथाभूतस्य कदाचिदपि ग्रहणादर्शनात्, अनुपपत्तेश्च; केनचिद्विशेषेण इदमित्थमिति हि सर्वा प्रतीतिरुपजायते। त्रिकोण सास्नादि संस्थान विशेषेण विना कस्यचिदपि पदार्थस्य ग्रहणायोगात्।

अतो निर्विकल्पकमेकजातीय-द्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्; द्वितीयादि पिण्ड ग्रहणं सविकल्पकमित्युच्यते। तत्र प्रथम-पिण्डग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते, द्वितीयादि-पिण्डग्रहणेष्वेवानुवृत्तिप्रतीतिः प्रथमप्रतीत्यनुसंहितवस्तु-संस्थानरूप-गोत्वादेरनुवृत्ति-धर्मविशिष्टत्वं द्वितीयादि-पिण्डग्रहणावसेयमिति द्वितीयादि-ग्रहणस्य सविकल्पकत्वम्। सास्नादिमद्वस्तु-संस्थानरूप-गोत्वादेरनुवृत्तिः न प्रथम-पिण्डग्रहणे गृह्यते, इति प्रथम-पिण्डग्रहणस्य निर्विकल्पकत्वं, न पुनः संस्थानरूप-जात्यादेरग्रहणात्। संस्थानरूप-जात्यादेरपि ऐन्द्रियिकत्वाविशेषात्, संस्थानेन विना संस्थानिनः प्रतीत्यनुपपत्तेश्च प्रथमपिण्डग्रहणेऽपि संस्थानमेव वस्त्वित्थमिति गृह्यते।

अतो द्वितीयादि-पिण्ड-ग्रहणेषु गोत्वादेरनुवृत्ति-धर्म विशिष्टता संस्थानिवत् संस्थानवच्च सर्वदैव गृह्यते, इति तेषु सविकल्पकत्वमेव। अतः प्रत्यक्षस्य कदाचिदपि न निर्विशेष विषयत्वम् ॥ ५१ ॥

सविकल्पक तथा निर्विकल्पक भेद से द्विविध प्रत्यक्ष भी निर्विशेष वस्तु विषे प्रमाण नहीं हो सकते। (उनमें से) सविकल्पक प्रत्यक्ष तो (मनुष्यत्वादि) जाति प्रभृति अनेक पदार्थ-विशिष्ट-विषयक, इसी कारण से वह सविशेष वस्तु विषयक है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी सविशेष वस्तु विषयक होता है। कारण, -निर्विकल्पक दशा में जो सब जाति प्रभृति धर्म विशिष्ट पदार्थ अनुभूत होता है सविकल्पक ज्ञान समय उन्हीं सबके प्रतिसन्धान या स्मृति

होते रहते हैं सुतरां, वही निर्विकल्प ही यह जात्यादि–विशिष्ट वस्तु बोध का हेतु। (तभी, वह निर्विशेष वस्तु विषयक नहीं हो सकता)।

निर्विकल्प अर्थात् किसी किसी विशेष धर्म से रहित वस्तु का ग्रहण या ज्ञान; न कि,सर्व धर्मों से रहित वस्तु का ग्रहण। क्योंकि, कस्मिन् काल में भी तादृश वस्तु का ग्राहण देखने में नहीं आता है तथा सम्भव पर भी नहीं है। 'यह इस प्रकार का'-इस विधान से किसी एक विशेष धर्म के साथ ही समस्त प्रतीतियाँ उत्पन्न होते हैं। कारण, -त्रिकोण या सास्नादि (गलकम्बल) संस्थान अथवा आकृति–विशेष व्यतीत किसी पदार्थ का ग्रहण असम्भव है।

इसी कारण, एक जातीय द्रव्य का जो प्रथम पिण्ड ग्रहण (स्वरूप ग्रहण) उसको निर्विकल्पक और द्वितीयादि पिण्ड ग्रहण को 'सविकल्पक' (ज्ञान) कहा जाता है। उनमें से, प्रथम पिण्ड-ग्रहण काल में गोत्वादि धर्म की अनुवृत्ति अर्थात् एक गोत्व ही जो, समस्त गोवों में अनुगत है; यह भाव सो प्रतीत नहीं होता; द्वितीयादि पिण्ड–ग्रहण में उसकी अनुवृत्ति की प्रतीति होती है। प्रथम प्रतीति में वस्तु का संस्थान रूप (अवयवसंयोजन) जिस गोत्वादि की उपलब्धी होती है, द्वितीयादि पिण्ड-ग्रहण में उसी गोत्वादि की अनुवृति अर्थात् प्रत्येक गोपिण्ड में सम्बन्ध निश्चत होता है। इसीलिये, द्वितीय तृतीय प्रभृति पिण्ड ज्ञान को 'सविकल्प' कहा जाता है। प्रथमतः, गो प्रभृति वस्तु दर्शन में सास्नादि विशिष्ट गवादि वस्तु का संस्थान–अवयव विन्यासरूप गोत्वादि धर्म का सब गोवों में अनुवृत्ति जानी नहीं जाती; इसी हेतु से, प्रथम गोपिण्ड दर्शन को निर्विकल्पक कहा जाता है, किन्तु, (न्यायादि मतानुसार) संस्थान रूप जाति प्रभृति धर्म की अप्रतीति से नहीं। क्योंकि, संस्थान–अवयव सन्निवेशात्मक जात्यादि धर्म सब सो, भी उसी पिण्डवत् इन्द्रिय–वेद्य–विशेष कुछ भी नहीं। तथा आकृति की प्रतीति व्यतीत जब आकृति विशिष्ट वस्तु की प्रतीति सो असम्भव, तब तो, प्रथम गवादि पिण्ड दर्शन में भी 'वस्तु सो इस प्रकार का'-इस रूप में, संस्थान के साथ ही वस्तु की प्रतीति होती है।

अतएव, द्वितीय तृतीय प्रभृति पिण्ड दर्शन में जैसे संस्थान-अवयव विन्यास तथा संस्थानी-गो प्रभृति का ज्ञान होता है, तैसे ही गोत्वादि धर्म का (गवादि में) अनुगत भाव भी सर्वदा ही परिज्ञात होता है। तभी तो, उस द्वितीयादि दर्शन का जो ज्ञान सो निश्चय करके सविकल्पक। अतएव, प्रत्यक्ष ज्ञान कभी भी निर्विकल्प-विषय पर नहीं होगा।।५१

अतएव, सर्वत्र भिन्नाभिन्नत्वमपि निरस्तम् । इदमित्थमिति प्रतीताविद मित्थं भावयोरैक्यं कथमिव प्रत्येतुं शक्यते ।

अत्रेत्थं भावः, सास्नादि संस्थान-विशेषः तद्विशेष्यं द्रव्यमिदमंश इत्यनयो-रैक्यं प्रतीति पराहतमेव । तथाहि प्रथममेव वस्तु प्रतीयमानं सकलेतर व्यावृत्त-मेव प्रतीयते । व्यावृत्तिश्च; गोत्वादि संस्थानविशेष विशिष्टतया इदमित्थमितिप्र-तीतेः सर्वत्र विशेषण विशेष भावप्रतिपत्तौ तयोरप्यत्यन्तभेदः प्रतीत्यैवसुव्यक्तः ।

तत्र दण्ड कुण्डलादयः पृथक् संस्थान-संस्थिताः स्वनिष्ठाश्च कदाचित् कचित् द्रव्यान्तरविशेषणतयाऽवतिष्ठन्ते गोत्वादयस्तु द्रव्यसंस्थानतयैव पदार्थभूताः सन्तो द्रव्य-विशेषणतयाऽवस्थिताः । उभयत्र विशेषण-विशेष्य भावः समानः; अतएव तयोर्भेद प्रतिपत्तिश्च । इयांस्तु विशेषः पृथक् सिद्धि प्रतिपत्तियोग्या दण्डा-दयः, गोत्वादयस्तु नियमेन तदनर्हा इति ।

अतो 'वस्तु विरोधः प्रतीतिपराहत' इति प्रतीति प्रकारनिह्न वा देवोच्यते, प्रतीति प्रकारो हि इदमित्थमित्येव सर्वसम्मतः । तदेतत् सूत्रकारेण 'नैकस्मिन्-असम्भवात् ,' (ब्र० सूत्र-२-२-३२) । इति सुव्यक्तमुपपादितम् । अतः प्रत्यक्ष-स्य सविशेष विषयत्वेन प्रत्यक्षादिदृष्टसम्बन्धविशिष्ट विषयत्वादनुमानमपि सवि-शेष-विषयमेव प्रमाणसंख्याविवादेऽपि सर्वाभ्युपगत-प्रमाणानामयमेव विषय इति न केनापि प्रमाणेन निर्विशेष-वस्तु-सिद्धिः । वस्तुगत-स्वभाव-विशेषैस्तदेव वस्तु निर्विशेषमिति वदन् जननी-वन्ध्यात्व-प्रतिज्ञावत् स्ववाग् विरोधित्वमपि न जानाति ॥ ५२ ॥

इसी कारण से सर्वत्र भिन्नाभिन्नत्व मत भी (भेदाभेद वाद भी) निरस्त भया । 'यह इस प्रकार का' इस प्रतीति में जो (वस्तु स्वरूप बोधक मात्र) यह ('इदं') तथा (तद्गत विशेष भाव-बोधक)इस प्रकार ('इत्थं') कैसे इन दोनों के एकत्व या अभेद समझा जाय ?

इस का अभिप्राय—सास्नादिरूप संस्थान या आकृति विशेष और उसका (अप्रधानीभूत) 'इदं' पदवाच्य विशेष्य द्रव्य, इन दोनों का (विशेषण तथा विशेष्य का) जो एकत्व सो अनुभव-विरुद्ध । देखिये,-जब ही प्रथम वस्तु का ज्ञान होता है; तब ही वह जो और वस्तु

से पृथक सो ऐसी ही प्रतीति होती है। 'यह इस प्रकार का'-ऐसा कहिकर गोत्वादि रूप आकृति विशेष-विशिष्टरूप में प्रतीति होती है, तभी (अपर पदार्थों से) उसकी व्यावृत्ति या पृथकता सिद्ध-होती है। जहाँ जहाँ पर विशेषण-विशेष्य भाव की प्रतीति होती है, तहाँ पर ही, उन विशेषण विशेष्यों में जो अत्यन्त अभेद है सो भी प्रतीति से ही स्पष्टतः व्यक्त हो जाता है।

उस में विशेष यह है कि, दण्ड कुण्डल आदि सब वस्तु पृथक् पृथक् आकृति सम्पन्न तथा स्वनिष्ठ अर्थात् सर्वदा पराश्रित न होकर भी, कहीं कहीं अन्य द्रव्य का विशेषण या आश्रित रूप में अवस्थान करते हैं। किन्तु, गोत्वादि धर्म निचय द्रव्य की आकृति रूप में ही पदार्थत्व लाभ करते हैं, तथा द्रव्य का विशेषणरूप में भी अवस्थित होता है। दोनों में विशेषण विशेष्य भाव समान है; सुतरां, विशेषण तथा विशेष्य की भेद-प्रतीति सो भी समान है। मात्र इतना ही विशेष है, जो कि, दण्डादि पदार्थ सब सो विशेष्य को छोड़ कर पृथक भाव में भी रह सकते तथा प्रतीति के विषय भी हो सकते हैं, किन्तु, गोत्वादि पदार्थ सब ऐसा कभी नहीं कर सकते।

अतएव, वादियों ने यथार्थ-प्रतीति की प्रणाली को छिपाकर (भावाभाव की एकत्र अवस्थिति रूप) वस्तु विरोध को प्रतीति-बाधित' कहकर निर्देश किये हैं। अर्थात्-यद्यपि वस्तु तथा उसका भेद एक-अभिन्न नहीं हो सकते, सो सत्य है, तथापि प्रत्यक्ष सिद्ध होने से वह विरोध उपेक्षणीय है। कारण-'यह इस प्रकार का'-ऐसी प्रतीति ही सर्ववादि सम्मत। सूत्रकार ने भी 'एक ही में भेद तथा अभेद नहीं होते हैं, क्योंकि, वैसा असम्भव'। इस सूत्र में भली भांति समर्थन किये हैं। अतएव, प्रत्यक्ष जब सविशेष वस्तु-विषयक और अनुमान भी जब वही प्रत्यक्ष प्रभृति प्रमाण परिज्ञात (व्याप्ति-ज्ञानादि रूप में) सम्बन्ध विशिष्ट वस्तु-विषय ही पर प्रयुक्त होता है, तब तो, अनुमान भी सविशेष वस्तु विषय पर होता है। निर्विशेष पर नहीं। प्रमाणों की संख्या विषय में व्यक्ति विशेष के विरोध रहते हुये भी सर्व सम्मत प्रमाण समूह के विषय उसी प्रकार की। अतएव किसी प्रमाण के द्वारा निर्विशेष वस्तु की सिद्धि या प्रतीति नहीं हो सकती है। वस्तु का विशेष विशेष स्वाभव होता है-ऐसा मान कर फिर वही वस्तु को निर्विशेष करके निर्देश करना-सो तो अपनी माता के वन्ध्यात्व की प्रतिज्ञा की समान स्वोक्ति विरोधी है क्या यह भी न जानते॥ ५२॥

यत्तु, प्रत्यक्षं सन्मात्रग्राहित्वेन न भेद विषयम्, भेदश्च विकल्पासहत्वाद् दुर्निरूप इत्युक्तम् तदपि जात्यादि विशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षविषयत्वात् जात्यादेरेव प्रतियोग्यपेक्षया वस्तुनःस्वस्य च भेद व्यवहार-हेतुत्वाच्च दूरोत्सारितम् सम्वेदनवत् रूपादिवच्च परत्र व्यवहार-विशेष हेतोः स्वस्मिन्नपि तद्व्यवहार हेतुत्वं युष्माभिरभ्युपेतं भेदस्यापि सम्भवत्येव। अतएव, नानावस्था अन्योन्याश्रयणं च। एक क्षण वर्तित्वेऽपि प्रत्यक्षज्ञानस्य तस्मिन्नेव क्षणे वस्तुभेद रूप-तत्संस्थान रूप-जात्यादेर्गृहीतत्वात् क्षणान्तर ग्राह्यं न किंचिदिह तिष्ठति।

अपि च, सन्मात्रग्राहित्वे 'घटोऽस्ति, पटोऽस्ति' इति विशिष्ट विषया प्रतिपत्तिर्विरुध्यते। यदि च सन्मात्रातिरेकि-वस्तु संस्थान रूप जात्यादि लक्षणो भेदः प्रत्यक्षेण न गृहीतः,किमिति अश्वार्थी महिष दर्शनेन निवर्तते। सर्वासु प्रतिपत्तिषु सन्मात्रमेव विषयश्चेत्; तत्तत् प्रतिपत्ति विषय सहचारिणः सर्वेशब्दा एकैक प्रतिपत्तिषु किमिति न स्मर्यन्ते।

किंच, अश्वेहस्तिनि च संवेदनयोरेकविषयत्वेनोपरितनस्य गृहीतग्राहित्वाद् विशेषाभावाच्च स्मृतिवैलक्षण्यं न स्यात्। प्रतिसंवेदनं विशेषाभ्युपगमे प्रत्यक्षस्य विशिष्टार्थ-विषयत्वमेवाभ्युपगतं भवति। सर्वेषां संवेदनानामेकविषयतायाम् एकेनैव संवेदनेनाशेषग्रहणादन्धबधिराद्यभावश्च प्रसज्यते ॥ ५३ ॥

और भी, प्रत्यक्ष ज्ञान यदि सत् भिन्न और किसी भी वस्तु को ग्रहण न करै तब तो 'घट है', 'पट है'-इत्यादि प्रकार के जो विशिष्टार्थ-वोध की प्रतीति सो भी विरुद्ध हो पड़ा; और, यदि सत् के अतिरिक्त, वस्तु संस्थानात्मक गोत्वादि जाति स्वरूप वस्तु भेद सो प्रत्यक्ष द्वारा समझा ही न जाय, तब तो, अश्व प्रार्थी महिष दर्शन से ही निवृत्त हो सकते ? तथा, समस्त ज्ञान में ही यदि सत् मात्र ग्राह्य हो, तब फिर, वही सत् प्रतीति के साथ जो सब शब्दों का प्रयोग होता है या हो सकता, प्रत्येक प्रतीति में ही वे समस्त शब्दों का स्मरण सो, क्यों नहीं होता है ?

औरों,-अश्व और हस्ति विषे, क्रम से, दो ज्ञान भया, और (आपके मत में)

न च चक्षुषा सन्मात्रं गृह्यते, तस्य रूप-रूपिरूपैकार्थसमवेत-पदार्थ ग्राहित्वात् । नापि त्वचा, स्पर्शवद्वस्तु विषयत्वात् । श्रोत्रादीन्यपि न सन्मात्रविषयाणि; किन्तु, शब्द रस-गन्ध-लक्षणविशेषविषयाण्येव । अतः सन्मात्रस्य च ग्राहकं न किंचिदिह दृश्यते ।

निर्विशेष-सन्मात्रस्य प्रत्यक्षेणैव ग्रहणे तद्विषयागमस्य प्राप्त विषयत्वेनानुवादकत्वमेव स्यात्;सन्मात्र-ब्रह्मणःप्रमेयभावश्च; ततो जड़त्वनाशित्वादयस्तस्यैवोक्ताः अतो वस्तु संस्थान रूप–जात्यादि लक्षण-भेद विशिष्टविषयमेव प्रत्यक्षम् । संस्थानातिरेकिणोऽनेकेष्वेकाकारबुद्धि-बोध्यस्यादर्शनात्, तावतैव गोत्वादि–जाति-व्यवहारोपपत्तेः, अतिरेकवादेऽपि संस्थानस्य संप्रतिपन्नत्वाच्च संस्थावमेव जातिः। संस्थानं नाम स्वासाधारणं रूपमिति यथावस्तु संस्थानमनुसन्धेयम् । जातिग्रहणेनैव भिन्न इति व्यवहार सम्भवात्, पदार्थान्तरादर्शनात्, अर्थान्तरवादिनाप्यभ्युपगतत्वाच्च गोत्वादिरेव भेदः ।

ननु च, जात्यादिरेव भेदश्चेत्; तस्मिन् गृहीते तद्व्यवहारवत् भेदव्यवहारोऽपि स्यात् । सत्यं, भेदश्च व्यवह्रियते एव गोत्वादिव्यवहारात् गोत्वादिरेवहि सकलेतरस्य व्यावृत्तिः गोत्वादौ गृहीते सकलेतरसजातीय बुद्धि–व्यवहारयोर्निवृत्तेः। भेदग्रहणेनैव ह्यभेद-निवृत्तिः । अयमस्माद भिन्न इति तु व्यवहारे प्रतियोगि-निर्देशस्य तदपेक्षत्वात् प्रतियोग्यपेक्षया भिन्न इति व्यवहार इत्युक्तम् ॥ ५४ ॥

उभय ज्ञान का विषय एक ही सत् पदार्थ । अतएव, गृहीत-ग्राहिता-निबन्धन, अर्थात् प्रथमावगत सत् पदार्थ को ही ग्रहण में परभविक हस्ति ज्ञान सो स्मृतिज्ञान के ही अनुरूप भया–कुछ भी विशेष न रहा, सुतरां, ये जो द्वितीय ज्ञान सो स्मृति में परिगणित हो सकत, है ? और जो, प्रत्येक ज्ञान ही में किंचित् वैलक्षण्य को मानलिया जाय तब, प्रत्यक्ष ज्ञान के भी पृथक पृथक विषय को ही मानना पड़ेगा । (कारण, विषय भेद व्यातीत ज्ञान भेद नहीं होगा) विशेषतः–सब ज्ञान का ही जो एक विषय स्वीकार किया जाय, तब तो, किसी भी एक ही मात्र ज्ञान से जब समस्त विषय जाना जा सकता, तब फिर, अन्ध वधिरादि भाव सो नहीं ये रह जायगा । अर्थात्–रूप रसादि वस्तु-विषय, मात्र नाम से ही भिन्न–फलतः एक ही सत् स्वरूप, तब तो अन्ध अथवा वधिर रसना से रसास्वान करने ही में रूप तथा शब्द विषे भी ज्ञान लाभ कर सकता है–क्योंकि, समस्त विषय ही एक सत् स्वरूप ॥ ५३ ॥

शुद्ध सत् वस्तु सो चक्षुवों से देखा नहीं जा सकता, कारण, चक्षु केवल रूप तथा रूप युक्त वस्तु को ही देख सकता, (सत्-वस्तु रूप या रूप युक्त नहीं हैं) । सत् वस्तु त्वक् द्वारा भी अनुभूत नहीं होता है; कारण-त्वक् केवल स्पर्शयुक्त वस्तु को ही ग्रहण कर सकता । (किन्तु सत् का स्पर्शगुण नहीं है) । श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियों से भी सत्मात्र को ग्रहण नहीं हो सकता, परन्तु, शब्द रस तथा गन्ध प्रभृति विशेष विशेष विषयों को ग्रहण करता है । सुतरां, उक्त मत में शुद्ध सत् वस्तु का ग्राहक कोई भी प्रमाण देखा नहीं जाता है।

और, यदि प्रत्यक्ष से ही निर्विशेष शुद्ध सत् वस्तु का ग्रहण सम्भव पर हो, तब, प्रमाणान्तर प्राप्त विषय का प्रतिपादक होने पर सत् वस्तु प्रतिपादक जो शास्त्र सो 'अनुवादक' हो सकता है, तथा, सत् मात्र रूपी ब्रह्म भी प्रमेय-ज्ञेय पदार्थ हो जायेंगे, सुतरां, आप ही सत् ब्रह्म के जड़त्व तथा विनाशितत्व को कह रहे हैं। अतएव, संस्थान-जात्यादिरूप विशेष विशेष धर्म विशिष्ट वस्तु ही प्रत्यक्ष का विषय-निर्विशेष नहीं ।

उसके बाद,-जो कि, अनेक वस्तुवों पर जो एक एकाकार बोध होता है, अर्थात्-'सब गो ही एक प्रकार के' इस प्रकार की जो बुद्धि होती हैं. वस्तु का संस्थान व्यतीत और किसी को तो उसका विषय (बोध्यव्य) होते देखा नहीं जाता, और, मात्र उसी संस्थान से ही गोत्व आदि जाति व्यवहार सम्पन्न हो सकता है; विशेष करके, संस्थानातिरिक्त जातिवादी के मत में भी उस सस्थान के बारे में विवाद नहीं है, अतएव संस्थान औ जाति एक अभिन्न (संस्थानातिरिक्त जाति नहीं) है । स्व स्व असाधारण या विशिष्ट रूप का ही नाम संस्थान । अतएव, जो वस्तु जिस रूप का ताके तदनुरूप संस्थान समझना चाहिये; क्योंकि जाति ज्ञान से ही वस्तु का भेद व्यवहार चल सकता है, तदतिरिक्त भेदा नाम का कोई वस्तु नहीं देखा जाता है । और, भेद को जिन्होंने पृथक् पदार्थ करके मान है (भेद जब) उनके भी अनुमोदित; अतएव, गोत्वादि जाति तथा भेद सो एक ही पदार्थ-पृथक् नहीं है ।

अच्छी बात, जात्यादि भेद यदि एक ही हो, तब तो जाति ज्ञान होने में जैसा उसका व्यवहार होता है, उसी प्रकार से (साथ ही साथ) भेद व्यवहार भी होना चाहिये हां, सो सत्य है, गोत्वादिकों का जब व्यवहार होता है, तब भेद का भी व्यवहार तो होता

यत पुनः,-घटादीनां विशेषाणां व्यावर्त्तमानत्वेनापारमार्थ्यमुक्तं, तदनालोचित-वाध्य-वाधकभाव व्यावृत्तित्यनुवृत्ति विशेषस्य भ्रान्ति प्रकल्पितम्। द्वयोर्ज्ञानयोर्हि विरोधे वाध्य-वाधकभावः -वाधितस्यैव व्यावृत्तिः। अत्र घट-पटादिषु देशकाल-भेदेन विरोध एव नास्ति। यस्मिन् देशे यस्मिन् काले यस्य सद्भावः प्रतिपन्नःतस्मिन् देशे तस्मिन् काले तस्याभावः प्रतिपन्नश्चेत्; तत्र विरोधाद् वलवतो वाधकत्वं वाधितस्य च निवृत्तिः। देशान्तर कालान्तर-सम्वन्धितयानुभूतस्यान्यदेश-कलयोरभावप्रतीतौ न विरोध इति कथमत्र वाध्य-वाधक भावः अन्यत्र निवृत्तस्यान्यत्र निवृत्तिर्वा कथमुच्यते ? रज्जु-सर्पादिषु तु तद्देश-कालसम्वन्धितयैवाभाव प्रतीतेर्विरोधो वाधकत्वं व्यावृत्तिश्चेति। देश-कालान्तरदृष्टस्य देश-कालान्तर व्यावर्तमानत्वं मिथ्यात्वव्याप्तं न दृष्टमिति न व्यावर्तमानत्वमात्रमपारमार्थ्ये हेतुः ॥५५॥

ही है; क्योंकि गोत्वादि जाति का ज्ञान होते ही (उसको पशुत्व रूप में) तत् सजातीय और सब (महिष आदि प्राणी) करके वोध नहीं होता है, तथा अपर प्राणी के समान उसका व्यवहार भी नहीं होता है, अतएव, गोत्वादि जाति ही और सब पदार्थों की व्यावृत्ति व्यवच्छेदक भेद, तद्भिन्न भेद नाम का और कोई पदार्थ नहीं है। (परस्पर में) भेद प्रतीति के होते ही में अभेद वोध की निवृत्ति होती है। 'यह अमुक से भिन्न' इस प्रकार का व्यवहार में भेद प्रतीति के लिये ही प्रतियोगी 'अमुक-पदका निर्देश किया जाता है, अर्थात्-भेद का उल्लेख रहने ही से, प्रतियोगी 'अमुक' पद का उल्लेख करना पड़ा, इसी कारण इस प्रतियोगी से (यह) भिन्न ऐसा व्यवहार किया जाता है, इस बात को (भेदश्च व्यवह्रियते एव'-इत्यादि में) कहा गया है ॥ ५४ ॥

और जो घटादि विशेष विशेष पदार्थ सब व्यावर्तमान (पटादिकों में असम्बद्ध) करके अपरमार्थ कहा गया है, सो भी, 'वाध्य वाधक भाव' 'तथा व्यावृत्ति अनुवृत्ति' शब्दों का तात्पर्य की पर्यालोचना न रहने के कारण भ्रम कल्पना मात्र। कारण यह है कि, उभय ज्ञानों में जब विरोध होता है, तभी, वाध्य वाधक भाव होता है-वाधित पदार्थ को ही व्यावृत्ति या वाधा होती है। (किन्तु) इन घट पटादि स्थानों पर जब देश (आश्रय स्थान) और काल भिन्न भिन्न हैं, तब तो (उभय ज्ञानों में) कोई भी विरोध नहीं है। जिन देश

यत्तु, अनुवर्त्तमानत्वात् सत परमार्थ इति, तत् सिद्धमेवेति न साधनमर्हति। अतो न सन्मात्रमेव वस्तु। अनुभूति-तद्विषययोश्च विषय विषयि भावे न भेदस्य प्रत्यक्ष-सिद्धत्वाद् अवाधितत्वाच्च अनुभूतिरेव सतीत्येतदपि निरस्तम्।

यत्तु, अनुभूतेः स्वयम्प्रकाशत्वमुक्तम्; तद् विषय प्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति। परानुभवस्यहानोपादानादि लिंगकानुमान ज्ञान विषयत्वात्, स्वानुभवस्याप्यतीतस्य 'अज्ञासिषं' इति ज्ञान विषयत्वदर्शनाच्च। अतोऽनुभूतिश्चेत् स्वतः सिद्धेतिवक्तुं न शक्यते।

अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमित्यपि दुरुक्तम्; स्वगतातीतानुभवानाम्ः परगतानुभवानां च अनुभाव्यत्वेनाननुभूतित्वप्रसंगात्। परानुभवानुमाना नभ्युपगमे च शब्दार्थ-सम्बन्धग्रहणाभावेन समस्त शब्दव्यवहारोच्छेद प्रसंगः। आचार्य्यस्य ज्ञानवत्त्वमनुमाय तदुपसत्तिश्च क्रियते; सा च नोपपद्यते ॥ ५६ ॥

कालों में जिस वस्तु का सद्भाव या अस्तित्व-प्रतीति सिद्ध, उन्हीं देश कालों में, यदि, उसी का अभाव दृष्ट हो, तभी (विरोध होता है) विरोध विषे जो बलवान (- प्रबल प्रमाण-सिद्ध) सो (दुर्बल का) बाधक होता है, तथा बाधित पदार्थ सो निवृत्त अर्थात् उसकी असत्यता निश्चित होती है। किन्तु, जो वस्तु भिन्न स्थान वर्त्ती तथा भिन्न समय वर्त्ती करके अनुभूत, उसका अन्य देश काल में अभाव की प्रतीति होते हुये भी कोई विरोध नहीं होता है, अतएव, उन स्थानों पर बाध्य बाधक भाव कैसे होगा ? और, एक स्थान में जिसका अभाव, अन्यत्र उसकी निवृत्ति ही कैसे कही जाय ? किन्तु, रज्जु सर्पादि में, एक ही देश तथा एक ही काल में (सर्पका अभाव , प्रतीति होती है, सुतरां, विरोध भी होता है, और उसी निमित्त से, बाधकत्व तथा व्यावृत्ति भी सम्भव पर होते हैं। किन्तु भिन्न भिन्न देश कालों में देखे हुये पदार्थोंये यदि अन्यान्य देश कालों पर विद्यमान रहे, तब भ वे सब मिथ्या होंगे, सो, ऐसा नियम कुत्रापि नहीं दृष्ट होता है। अतएव, केवल व्यावृत्तमानत्व ही वस्तु का मिथ्यात्व का कारण नहीं है ॥ ५५ ॥

नचान्य विषयत्वे अननुभूतित्वम् ? अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रतिप्रकाशमानत्वं, स्व-सत्तयैव स्वविषय-साधनत्वंवा । ते च अनुभवान्तरानुभाव्यत्वेऽपि स्वानुभव सिद्धे नापगच्छतः इति नानुभूतित्वमपगच्छति । घटादेस्त्वननुभूतित्वमेतत्स्वभावविरहात्, नानुभाव्यत्वात् । तथानुभूतेरननुभाव्यत्वेऽपि अननुभूतित्व प्रसंगो दुर्वारः गगन कुसुमादेरननुभाव्यस्याननुभूतित्वात् ।

गगनकुसुमादेरननुभूतित्वमसत्त्व प्रयुक्तम्, नाननुभाव्यत्व-प्रयुक्तम्, इति चेत् ? एवं तर्हि घटादेरप्यज्ञानाविरोधित्वमेवाननुभूतित्व-निवन्धनम्, नानुभाव्यत्व-मित्यास्थीयताम् । अनुभूतेरनुभाव्यत्वे अज्ञानाविरोधित्वमपि तस्या घटादेरिव प्रसज्यते इति चेत् ? अननुभाव्यत्वेऽपि गगनकुसुमादेरिवाज्ञानाविरोधित्वमपि प्रसज्यत एव । अतोऽनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वमित्युपहास्यम् ॥ ५७ ॥

और जो अनुवर्तमान अर्थात् सर्वत्र अनुगत करके 'सत्'-ब्रह्म को परमार्थ कहा गया है, सो यह तो स्वतः सिद्ध है; सुतरां, उसका फिर से साधन या प्रमाण सो अनावश्यक है । अतएव, सत् ही एकमात्र पदार्थ-सो नहीं, कारण-अनुभूति (सत्) तथा उसका विषय (घटादि,) इन दोनों में विषय-विषयीभाव सम्बन्ध निहित है, अर्थात् अनुभूति विषयी और घटादि पदार्थ उसका विषय, सुतरां दोनों का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है, और किसी प्रमाण द्वारा भी बाधित नहीं है, इसी कारण से, 'मात्र अनुभूति ही सत्'-यह जो सिद्धान्त सो भी निरस्त भया ।

और जो, अनुभूति को 'स्वप्रकाश'-कहा गया है सो भी, ज्ञाता जब किसी विषय को प्रकाश करता है (जानता है) मात्र उस काल विषे उसी ज्ञाता के लिये उसी रूप (स्वप्रकाश) होता है, किन्तु सर्वदा सभी के लिये वैसा ही होगा, सो ऐसा कोई नियम नहीं है । कारण-परकीय अनुभव तो (उसकी) प्रवृत्ति निवृत्ति को देख के, केवल अनुमान प्रमाण का ही विषय होता है, तथा स्वीय अनुभव भी परक्षण में 'हम जान रहे थे,-इस प्रकार ज्ञान-स्मरण का विषयी भूत होता है अतएव, 'अनुभूति मात्र ही स्वतः सिद्ध'-ऐसे नहीं कह सकते ।

और, अनुभूति अनुभाव्य होने से ही जो अननुभूति हो जाय, यह भी अच्छी बात

नहीं है । क्योंकि, (तब तो) अपना तथा पराया जितने अनुभव हो चुके उनके फिर अनुभूतित्व नहीं रह सकता, कारण-वे अनुभव सभी अन्य अनुभव के विषयीभूत होते हैं । और, परकीय अनुभव विषे अनुमान को स्वीकार न करने में, शब्द और अर्थ के जो वाच्य वाचक रूप सम्बन्ध सो भी समझा नहीं जा सकता, सुतरां समस्त शब्द-व्यवहार ही मिट जा सकते हैं । आचार्य्य को ज्ञानवान जान कर शिष्य उनके समीपस्थ होता है, सो भी तो फिर नहीं होगा ।। ५६ ॥

तथा, ज्ञानान्तर के विषय होने में ही जो (अनुभूति का) अनुभूतित्व नहीं रहै, सो ऐसा भी नहीं । अनुभूति है क्या ? सो तो, अपना वर्तमान में, अपनी सत्ता से ही, अपना आश्रय-आत्मा की समीप प्रकाशित हो अथवा, जो स्वीय सत्ता से ही स्वकीय विषय का रसरूपादिकों का साधन या अस्तित्व को ज्ञापन करै (वही अनुभूति) । वे दोनों अनुभूति ही अपनी अपनी प्रतीति से सिद्ध; सुतरां, अपर अनुभव का विषय होने पर भी प्रच्युत नहीं होते है, अतएव, उनका अनुभूतित्व भी नष्ट नहीं होता है । पूर्वोक्त प्रकाश स्वभाव का अभाव से ही घटादि पदार्थायें अननुभूति याने, अनुभूति से परित्यक्त होते भये, किन्तु अनुभाव्यत्व के लिये नहीं । उसी रूप सो गगन कुसुमादि (असत् पदार्थायें) जैसे अननुभाव्य अर्थात् अनुभव के अविषय होते हुये भी अनुभूति नहीं होते तद्रूप, अनुभूति स्वयं अनुभवान्तर के विषय न होने पर भी जो, अननुभूति हो सकते, उसके निषेध ही कैसे बनै ? यदि, कहिये कि, गगन कुसुमादिकों के जो अननुभूतित्व सो असत्ता जनित-अननुभाव्यत्व जनित नहीं, (अच्छी बात ; ऐसे में, घटादिकों के अननुभूतित्व, अज्ञान के साथ सहावस्थान ही उसमें कारण है-अननुभाव्यत्व नहीं सो यह भी स्वीकार्य्य हैं ।

यदि कहा जाय कि, अनुभूति का भी अनुभूतित्व को मानने में (अनुभाव्य) घटादिकों के न्याय उसकी भी अज्ञाना विरोधिता अर्थात् अज्ञान के साथ एकत्रावस्थिति सम्भावित हो ही सकते ? (हाँ यह भी ठीक है) (किन्तु आपके मत में भी) अननुभाव्य होने पर भी तो, गगन कुसुमादिकों के न्याय उसकी भी (अनुभूति की भी) अज्ञान सहावस्थिति हो सकती ? अतएव, अनुभव के विषय होने से ही सो अनुभूति नहीं-यह बात हँसी की है ॥ ५७ ॥

यत्तु, सम्विद: स्वतः सिद्धायाः प्रागभावाद्यभावाद्य त्पत्तिनिरस्यतेतदन्धस्य जात्यन्धेन यष्टिः प्रदीयते। प्रागभावस्य ग्राहकाभावादभावो न शक्यते वक्तुम्; अनुभूत्यैव ग्रहणात्। कथमनुभूतिः सती तदानीमेव स्वभावं विरुद्धमवगमयतीति चेत्? नहि अनुभूतिः स्वसमान काल वर्त्तिनमेव विषयीकरोतीत्यस्ति नियमः, अतीतानागतयोरविषयत्व प्रसंगात्। अथ मन्यसे,-अनुभूति-प्रागभावादेः सिद्धय-तस्तत् समकालभावनियमोऽस्तीति। किंत्वयाक्वचिदेवं दृष्टम्; येन नियमम्ब्रवीषि? हन्ततर्हितत एव दर्शनात् प्रागभावादिः सिद्धः, इति न तदपलवः। तत् प्रागभावं च तत् समकाल वर्त्तिन मनुन्मत्तः को ब्रवीति?

इन्द्रिय-जन्मनः प्रत्यक्षस्य हिएष स्वभावनियमः,-यत् स्वसम काल वर्त्तिनः पदार्थस्य ग्राहकत्वम्, नसर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणानां च स्मरणानुमानागम योगि-प्रत्यक्षादिषु कालान्तर्वर्त्तिनोऽपि ग्रहण दर्शनात्। अतएव च प्रमाणस्य प्रमेया-विनाभावः, नहिप्रमाणस्य स्वसमकालवर्तिना अविनाभावोऽर्थ सम्बन्धः; अपितु यद्देशकालादिसम्बन्धितयायोऽर्थोऽवभासते, तस्य तथाविधाकारमिथ्यात्व-प्रत्यनीकता। अत इदमपि निरस्तं,-स्मृतिर्न वाह्यविषया नष्टेऽप्यर्थेस्मृतिदर्शनादिति।५८।

और जो, संवित् (अनुभूति) स्वतः सिद्ध, सुतरां उसका प्रागभाव प्रभृति कारण न रहने के हेतु, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कहा गया है, सो भी जन्मान्धकर्तृक अपर अन्धे को लाठी प्रदान अनुरूप क्योंकि, प्रागभाव जब समझाही नहीं जाता, तोफिर, प्रागभाव नहीं है या अप्रामाणिक-ऐसा न कहिये। क्योंकि स्वयं अनुभव ही उसका अस्तित्व को जनाता है। अगर ऐसा कहो-'अनुभूति अपने न होते हुये, तभी, फिर, अपनी अभाव को कैसे जनायेगी? एक ही काल में, एक वस्तु का भाव तथा अभाव सो विरुद्ध बात है'। नहीं यह आपत्ति नहीं हो सकती, कारण कि, अनुभूति जो, केवल वर्तमान विषय ही को ग्रहण करेगी, सो ऐसा कोई नेम नहीं है। तब तो, अतीत तथा भविष्यत् वस्तु का अनु-भव होही नहीं सकता: अगर मानों, उपलब्धि व्यतीत जब कोई भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती, तौ अनुभूति और उस को प्रागभावादिकी सम सामयिकता को नेम भी है ही है, तो, यह पूँछा जाता है-क्या आप ऐसे भी कहीं देखे हैं जिस लिये ऐसा नेम कह रहे हैं? और

अथ उच्येत, -न तावत् संवित् प्रागभावः प्रत्यक्षावसेयः, अवर्त्तमानत्वात्। न च प्रमाणान्तरावसेयः, लिंगाद्यभावात्। नहि संवित्-प्रागभाव व्याप्तमिह लिंग-मुपलभ्यते, नानुपपत्तिरपि कस्यचिद्दृश्यते,। नचागमस्तद् विषयो दृष्टचरः। अतस्तत् प्रागभावः प्रमाणाभावादेव न सेत्स्यतीति। यद्येवं, स्वतः सिद्धत्व-विभवं परित्यज्य प्रमाणाभावेऽवरूढश्चेत्; योग्यानुपलब्ध्यैवाभावः समर्थित इत्युपशाम्यतु भवान्।

किं च, प्रत्यक्षज्ञानं स्वविषयं घटादिकं स्वसत्ताकाले सन्तं साधयत् तस्य न सर्वदासत्तामवगमयद् दृश्यते; इतिघटादेः पूर्वोत्तर-कालसत्ता न प्रतीयते। तदप्रतीतिश्च संवेदनस्य काल-परिच्छिन्नतया प्रतीतेः घटादि विषयमेव संवेदनं स्वयं कालानवच्छिन्नं प्रतीतं चेत् संवेदन विषयो घटादिरपि कालानवच्छिन्नः प्रतीयेत, इति नित्यःस्यात्। नित्यं चेत् संवेदनं स्वतः सिद्धं, नित्यमित्येवप्रतीयेत; न च तथाप्रतीयते।

एवमनुमानादि सम्विदोऽपि कालानवच्छिन्नाः प्रतीताश्चेत्; स्वविषयानपि कालानवच्छिन्नान प्रकाशयन्ति, इति ते च सर्वेकालानवच्छिन्नानित्याः स्युः; संविदनुरूप-स्वरूपत्वाद विषयाणाम्। न च निर्विषया काचित् संविदस्ति; अनुपलब्धेः विषय प्रकाशनतयैवोपलब्धेरेव हि संविदः स्वयंप्रकाशता समर्थिता; संविदोविषय प्रकाशनता स्वभावविरहे सति स्वयंप्रकाशत्वासिद्धेः अनुभूते रनुभवान्तराननुभाव्यत्वाच्च संविदस्तुच्छतैव स्यात्।

न च स्वाप-मद-मूर्च्छादिषु सर्व्वविषयशून्या केवलैव संवित् परिस्फुरतीति वाच्यम्; योग्यानुपलब्धि-पराहतत्वात्। तास्वपि दशासु अनुभूति रनुभूताचेत्; तस्याः प्रबोधसमयेऽनुसन्धानं स्यात्; न च तदस्ति ॥ ५६ ॥

जो तो देखे भी हों, तब तो वह देखना ही अनुभूति को प्रागभाव का दृष्टान्त भया, तो, प्रागभाव भी सिद्ध हुआ। अतएव, प्रागभाव का अपलाप नहीं किया जा सकता। एकही वस्तु को उसी वखत होना और न होना कोई पागल ही कह सकता है।

स्मरण, अनुमान भी योगि-प्रत्यक्ष में तत्काल ही अनुपस्थित-कालान्तरवर्ती

वस्तु का ग्रहण अथवा उपलब्धि दृष्ट होता है। अपना समकालवर्ति–वस्तु ग्रहण का नियम सो केवल इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही में प्रयोज्य-समस्त ज्ञान तथा समस्त प्रमाण के वारे नहीं इसी कारण से ही, प्रमेय (ज्ञेय) पदार्थ के साथ प्रमाण का अविना भाव, याने, नियत सम्बन्ध भी सिद्ध हो रहा है। कारण-स्वीय समकालवर्ती वस्तु के सहित, जो अविना भाव सोई प्रमाण का विषय सम्बन्ध (विषय का ग्रहण) नहीं। परन्तु जो पदार्थ जिस काल विषे, जिस देश के साथ सम्बद्ध हो करके प्रतीत होता है, उसी पदार्थ को, उसी अवस्था में, मिथ्यात्व निवृत्ति अर्थात् अस्तित्व ज्ञापन करना सोई (प्रमाण का अर्थ सम्बन्ध या विषय ग्रहण)। क्योंकि, विनष्ट वस्तु का स्मरण सो होते देखा जाता है, अतएव, स्मृति ज्ञान–सो बाह्य पदार्थ विषयक नहीं है - अर्थात् स्मृति का कोई विषय नहीं है - वह निर्विषय यह जो बौद्ध सिद्धान्त सो भी उक्त हेतु बल से ही निरस्त भया ॥ ५८ ॥

अगर कहो कि, संविद् का प्रागभाव प्रत्यक्ष से निरूपण नहीं किया जा सकता, कारण कि तत्काल में सो वर्तमान नहीं रहता है। अनुमानादि प्रमाणों से भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि लिंग या हेतु प्रभृति कोई साधन, इस विषय पर नहीं है। क्योंकि, अनुभूति के प्रागभाव से व्याप्त अर्थात् उस प्रागभाव के अधीन कोई हेतु (लिंग) देखा नहीं जाता, अथ च, उसका अभाव में से कोई विषय की अनुपपत्ति या असामंजस्य भी नहीं देख पड़ रहा है, तथा प्रागभाव का अस्तित्व बोधक कोई शब्द–प्रमाण भी दृष्ट नहीं हो रहा है; अतएव प्रमाणाभाव से ही प्रागभाव असिद्ध हुवा। अच्छी कही गयी,–इस माफिक, अगर आपको, (अनुभूति की) स्वत: सिद्धत्व रूप सम्पत्ति अर्थात् प्रागभाव अस्वीकार के पक्ष पर अनुभूति का स्वत: सिद्धत्व रूप जो पूर्व कल्पित हेतु उसको छोड़कर, प्रमाणाभाव ही को प्रागभाव अस्वीकार पर हेतु निर्देश करना पड़ा, तो भी (न्यायानुसार) अनुपलब्धि ही से अभाव समर्थित या प्रमाणित भया है। अतएव, आपको विचार-विरत होना ही उचित है। और भी जानना चाहिये कि, देखा जाता है कि, प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय घटादि पदार्थ जब तक विद्यमान रहता है। तभी तक सत् रूप, प्रत्यक्ष ज्ञान तत्साधक होने से भी, उस को सर्वकालीन सत्ता का ज्ञापक नहीं होता, इसी कारण, पूर्वोत्तर काल विषे अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व तथा ध्वंस के बाद फिर घट की सत्ता की प्रतीति नहीं होती। संवेदन या अनुभव

नन्वनुभूतस्य पदार्थस्य स्मरणनियमो न दृष्टचरः;अतः स्मरणाभावः कथमनुभवाभावं साधयेत ? उच्यते,-निखिलसंस्कार-तिरस्कृतिकर-देह-विगमादि-प्रबल हेतु-विरहेऽप्यस्मरण-नियमोऽनुभवाभावमेव साधयति; न केवल स्मरण-नियमादनुभवाभावः, सुप्तोत्थितस्य 'इयन्तं कालं नकिञ्चिदहमज्ञासिषम् इति'प्रत्यवमर्शैनैर्वासिद्धेः । न च सत्यप्यनुभवे तदस्मरण नियमो विषयावच्छेद-विरहाद-हंकारविगमाद्वेति शक्यतेवक्तुम्; अर्थान्तरानुभवस्यार्थान्तराभावस्य च अनुभूतार्थान्तरास्मरण-हेतुत्वाभावात् । तास्वपि दशास्वहमर्थोऽनुवर्त्तत-इति च वक्ष्यते।

ननु स्वापादि-दशास्वपि सविशेषोऽनुभवोऽस्तीति पूर्वमुक्तम् ? सत्यमुक्तम्; सत्वात्मानुभवः; सच सविशेष एवेति स्थापयिष्यते । इह तु सकल विषय विरहिणी निराश्रया च संविद् निषिध्यते । केवलैव संविदात्मानुभव इति चेत्; न सा च साश्रयेतिह्यु पपादयिष्यते । अतोऽनुभूतिःसती स्वयं स्वप्रागभावं न साधयतीति इति प्रागभावासिद्धिर्न शक्यते वक्तुम् । अनुभूतेरनुभाव्यत्व सम्भवोपपादनेनान्यतोऽप्यसिद्धिर्निरस्ता । तस्मात् न प्रागभावाध सिद्ध्या संविदोऽनुत्पत्तिरूपपत्तिमती ॥६०॥

स्वयं कालावच्छिन्न होने के कारण अर्थात् सर्वकालीन न होने से, (समय पर) उस घटादि सत्ता की अप्रतीति होती है । और उस घटादि विषय का जो अनुभव-सो स्वयं ही यदि कालावच्छिन्न या सीमाबद्ध न हो के प्रतीत होते, तो अनुभव का विषय घटादि पदार्थ भी काल द्वारा अनवच्छिन्न भाव से प्रतीति होते, सुतरां वह भी सब नित्य हो सकते थे । स्वतः सिद्ध संवेदन अगर नित्य होते, तो नित्य ही करके प्रतीत होते । किन्तु सो तो नहीं होता है ।

इस रूप से अनुमानादि जन्य ज्ञान भी यदि काल द्वारा अनवच्छिन्न होता, तो, स्व स्व विषय समूह को भी सर्वकालीन रूप में ज्ञापन करता । सुतरां वह भी सब नित्य हो सकते थे, क्योंकि, अनुभूयमान विषय, तथा उसका अनुभव तुल्य रूप होते हैं । और विषय विहीन, जो कुछ अनुभूति है या रह सकती है-सो भी नहीं कहा जा सकता है । कारण-वैसी अनुभूति देखी नहीं जाती । क्योंकि, अनुभूति का, जो, विषय प्रकाशकारी स्वभाव उसी से ज्ञान की स्वयं प्रकाशता सिद्धि की गयी है । अब, विषय प्रकाशन समय अनुभूति को वर्तमान रहने का स्वभाव, सो न होने से उसका स्वयं प्रकशत्व-ही सिद्ध नहीं हो सकता,

और, अनुभूति-विषय पर पृथक् अनुभव स्वीकार से अनुभूति की तुच्छता ही हो पड़ी।

और, स्वप्न, मत्तता तथा मूर्च्छा प्रभृति दशा में, जो सर्व विषय शून्य, केवल ज्ञान मात्र फुरता है, सो नहीं कहा जा सकता। कारण पूर्वोक्त योग्यानुपलब्धि युक्ति से ही सो प्रति सिद्ध हो चुका। यदि, उन अवस्थाओं में अनुभूति का अभाव न होता, तो निद्राभंग के बाद भी उसको स्मरण होते; (लेकिन) सो नहीं होता॥ ५९॥

भला, अनुभूत पदार्थ मात्र ही स्मरण होगा-सो ऐसा नेम तो कहीं भी देख नहीं पड़ता ? तब फिर, उक्त स्मरणाभाव से अनुभव का अभाव कैसे होता है ?-सो कहा जाता है-देह त्यागादि कारणों से ही समस्त संस्कार छूट जाता है, (निद्रोत्थित का) संस्कार नाशक वही सब कारणों का अभाव में भी जो, स्मरणाभाव, सोई तात्कालिक अनुभव का अभाव ज्ञापन कर रहा है। और, केवल स्मरणाभाव का नियम ही से, जो, अनुभव का अभाव सिद्ध हो रहा है सो नहीं-'हम इतनी देर तक कुछ भी नहीं जान रहे थे' जागे हुये के ऐसा बोध से सो सिद्ध होता है। यह भी कहने की बात नहीं कि, अनुभव होते हुये भी, विषय निर्धारण का अभाव किम्वा अहंकार का अपगम वशत: अनुभूति का स्मरण नहीं होता। सो, उसका कारण यह है कि और वस्तु का अनुभूति की अभाव, और अन्य वस्तु का विनाश, सो कभी भी अपर अनुभूत पदार्थ का अस्मरण का हेतु नहीं होसकता। वस्तुत: उस स्वप्नादि अवस्थामें भी जो अहंभाव अनुवृत्त रहता है सो बाद को कहा जायगा। अच्छा, स्वप्नादि दशा में भी सविशेष अनुभव रहता है, (आप रामानुज) यह पहिले कहे हैं ? हाँ कहा गया है, सत्य है, किन्तु, सो आत्मानुभव के बारे में, सो अनुभव जो निश्चय सविशेष सो इतः पर व्यवस्थापित किया जायगा यहाँ पर केवल सर्वप्रकार विषय विरहित और निराश्रय अनुभूति का प्रतिषेध किया जा रहा है। यदि कहो कि, केवल निर्विशेष ज्ञान ही आत्मानुभव, नहीं, ऐसा कहना वृथा है; क्योंकि, सो अनुभूति भी पराश्रित (निर्विशेष नहीं), यह भी बाद को उपपादन किया जायगा। अतएव, अनुभूति अपने रहते रहते प्रागभाव साधन नहीं कर सकती, अतएव अनुभूति (को) प्रागभाव असिद्ध ऐसा नहीं कहिये। अनुभूति का अनुभव (युक्त से) सम्भव पर है,-यह प्रतिपादित हो चुका है। तब फिर, प्रमाणान्तर से असिद्ध-यह युक्ति भी कट गयी। अतएव, प्रागभावादि कारणाभाव से संविद् की उत्पत्ति नहीं होती यह भी बात युक्ति युक्त नहीं है॥ ६०॥

यदप्यस्या अनुत्पत्या विकारान्तर-निरसनम्; तदप्यनुपपन्नम्। प्रागभावे-व्यभिचारात्; तस्यहि जन्माभावेऽपि विनाशोदृश्यते; भावेष्विति विशेषणे तर्क-कुशलता आविष्कृता भवति। तथा च भवदभिमता विद्यानुत्पन्नैव विविधविकारास्पदं तत्वज्ञानोदयादन्तवती च इति तस्यामनैकान्त्यम्। तद्विकाराः सर्वेमिथ्याभूता इति चेत्; किं, भवतः परमार्थ भूतोऽप्यस्ति विकारः ? येनैतद्विशेषणमर्थवद् भवति न इहि सावभ्युपगम्यते।

यदपि-अनुभूतिरजत्वात् स्वस्मिन् विभागं न सहते इति। तदपि नोपपद्यते, अजस्यैवात्मनोदेहेन्द्रियादिभ्यो विभक्तत्वाद, अनादित्वेन चाभ्युपगताया अविद्याया आत्मनो व्यतिरेकस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। सविभागोमिथ्यारूप इति चेत्; जन्म प्रतिवद्धः परमार्थ-विभागः किं कचिद् दृष्टस्त्वया ? अविद्याया आत्मनः परमार्थतो विभागाभावे वस्तुतो ह्यविद्यैवस्यादात्मा। अवाधित प्रतिपत्ति सिद्ध-दृश्यभेद-समर्थनेन दर्शन भेदोऽपि समर्थित एव, च्छेद्य-भेदात् छेदनभेदवत्॥८१।

और जो, यही अनुत्पत्ति की सहायता से अन्यान्य विकारों का भी प्रत्याख्यान किया गया है सो भी असंगत है। कारण-कि, प्रागभाव ही में उसका व्यभिचार (नियम भंग) दृष्ट होता है। क्योंकि, जन्म न रहने से भी विनाश देखा जाता है। यदि कहिये कि, अभाव भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध में ही (वह नियम); सो, ऐसे विशेषण से केवल तर्क कौशल प्रदर्शित-(कोई वस्तु सिद्धि नहीं होती) है। देखिये, आपके मत में जो, अविद्या पदार्थ उत्पन्न न हो के भी विविध विकार को जन्माता है और तत्व ज्ञान का उदय होते ही विनष्ट हो जाती है। सुतरां, उसी अविद्या ही में (पूर्वोक्त नियम) अनैकान्तिक अर्थात् व्यभीचारी हो रही है। यदि यों कहिये कि, अविद्या की विकार सभी मिथ्या (सुतरां नियम भंग नहीं होगा)। तो पूँछा जाता है कि-आप के मत में सत्य स्वरूप भी कोई विकार है ? जिसमें ऐसा विशेषण सार्थक हो सकता ? सो, विकार की सत्यता आप निश्चय नहीं मान सकते।

और भी जो कहा गया है कि, अनुभूति स्वयं अज-सुतरां अपना विभाग नहीं कर सकती, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा जन्म रहित होते हुये भी देहेन्द्रियादि द्वारा विभक्त (पृथक् वत्) हो रहे हैं। और अनादि रूपा मानीहुई जो अविद्या तिस से भी आत्मा

यदपि-नास्या दृशेर्दृशिस्वरूपाया दृश्यः कश्चिदपि धर्म्मोऽस्ति; दृशत्वादेव तेषां न दृशिधर्म्मत्वम् इति च। तदपि स्वाभ्युपगतैः प्रमाणसिद्धैर्नित्यत्व-स्वयंप्रकाशत्वादि-धर्म्मैरुभयमनैकान्तिकम्।

न च ते संवेदन मात्रम्; स्वरूप भेदात् स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद् विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्। स्वयंप्रकाशता तु स्वसत्तयैव स्वाश्रयाय प्रकाशमानता। प्रकाशश्च चिदचितशेष-पदार्थसाधारणं व्यवहारानुगुण्यम्। सर्व्वकाल-वर्त्तमानत्वं हि नित्यत्वम्। एकत्वम्-एक संख्यावच्छेद इति। तेषां जड़त्वाद्यभावरूपतायामपि तथाभूतैरपि चैतन्य-धर्म्मभूतैस्तैरनैकान्त्यमपरिहार्य्यम्। संविदि तु स्वरूपातिरेकेण जड़त्वादिप्रत्यनीकत्वमित्यभावरूपो भावरूपो वा धर्म्मो नाभ्युपेतश्चेत्; तन्निषेधोक्त्या किमपि नोक्तम्भवेत्॥ ६२॥

को पृथक मानना ही पड़ेगा। अगर कहिये कि, सो विभाग मिथ्या फिर पूँछा जाता है। जन्माधीन पारमार्थिक विभाग भी कहीं देख पड़ता है? वस्तुतः, अविद्या से आत्मा का यथार्थ विभाग न रहने से दोनों को एक मनना पड़ेगा। अतएव, जैसे छेद्य-भेद से छेदन-भेद होता है, तैसे ही अबाधित दृश्य भेद से दर्शन भेद (अनुभूति की नानात्व) स्वीकार करना ही पड़ेगा॥ ६१॥

और भी जो कहा जा चुका-यह अनुभूति स्वयं ही दृशिस्वरूप (ज्ञान स्वरूप) सुतरां उसका दृश्य कोई धर्म नहीं रह सकता; और, पक्षान्तर में (नित्यत्व तथा स्वयम्प्रकाशत्व प्रभृति भावों को उसका दृश्य रहने में) सोई, दृश्यत्व निबन्धन ही वह सब, दृशिरूपा अनुभूति के धर्म नहीं हो सकते। यह उभय युक्ति भी उन लोगों को स्वीकृत और प्रमाण सिद्ध नित्यत्व प्रभृति धर्मों से अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी हो रही है।

और सो नित्यत्व स्वयं प्रकाशत्वादि धर्म जो अनुभूति ही के स्वरूप, सो नहीं, कारण उन में स्वरूपगत भेद है। (अनुभूति) रहते रहते, तदाश्रय आत्मासमीप जो, कोई विषय प्रकाश करना, उसका नाम सम्वेदन। और, स्वीय आश्रय आत्मा सम्मुख जो प्रकाशमान भाव में विद्यमान रहना, सोई स्वयम् प्रकाशमानता कहलाती है। चित् जड़ सर्व-पदार्थगत व्यवहार-सम्पादन-सामर्थ्य का नाम प्रकाश। सर्वकाल में वर्तमानता ही नित्यत्व

अपि च, संवित् सिध्यति वा न वा ? सिध्यति चेत्, सधर्म्मतास्यात्, न चेत्; तुच्छता, गगन कुसुमादिवत्। सिद्धिरेव संविदिति चेत्; कस्य कं प्रति, इति, वक्तव्यम्। यदि न कस्यचित् कंचित् प्रति; सा तर्हि न सिद्धिः । सिद्धिर्हि पुत्रत्व मिव कस्यचित् कंचित प्रति भवति। आत्मन इति चेत्; कोयमात्मा ? ननु संवि-देवेत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्, दुरुक्तं तु तत्। तथाहि कस्यचित् पुरुषस्य किञ्चिदर्थं जातं प्रति सिद्धरूपतया तत्सम्बन्धिनी सा संवित् स्वयं कथमिवात्म भावमनुभवेत्।

एतदुक्तम्भवति;-अनुभूतिरिति स्वाश्रयं प्रति स्वसद्भावेनैव कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारानुगुण्यापादनस्वभावो ज्ञानावगति-संविदाद्यपरनामा सकर्म्मकोऽनुभवितु-रात्मनो धर्म्म विशेषः 'घटमहं जानामि' इममर्थमवगच्छामि' 'पटमहं सम्वेद्मि' इति सर्व्वेषामात्म-साक्षिकः प्रसिद्धः। एतत् स्वभावतया हि तस्याः स्वयम्प्रकाशता भवताप्युपपादिता। अस्य सकर्म्मकस्य कर्त्तृधर्म्मविशेषस्य कर्म्मत्ववत् कर्त्तृत्व-मपि दुर्घटमिति। तथाहि, अस्य कर्त्तुः स्थिरत्वं कर्त्तृधर्म्मस्य सम्वेदनाख्यस्य सुख-दुःखादेरिव उत्पत्ति-स्थिति-निरोधाश्च प्रत्यक्षमीक्ष्यंते। कर्त्तृस्थैर्य्यं तावत् ,स एवायमर्थः पूर्व्वमयानुभूतः' इति प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षसिद्धम्। 'अहं जानामि, अहमज्ञासिषं, ज्ञातुरेवममेदानीं ज्ञानं नष्टम्' इति च संविदुत्पत्त्यादयःप्रत्यक्षसिद्धाः इति कुतस्तदैक्यम्। एवं क्षणभंगिन्याःसंविद् आत्मत्वाभ्युपगमे पूर्व्वेद्युर्दृष्टं परेद्युः 'इदमहमदर्शम्' इति प्रत्यभिज्ञा च न घटते; अन्येनानुभूतस्य नह्यन्येन प्रत्यभिज्ञान-सम्भवः।

किं च, अनुभूतेरात्मत्वाभ्युपगमे तस्यानित्यत्वेऽपि प्रतिसन्धानासम्भवःतद-वस्थः। प्रतिसन्धानं हि पूर्व्वापरकालस्थायिनमनुभवितारमुपस्थापयति; नानुभूति-मात्रम् 'अहमेवेदं पूर्व्वमप्यन्वभूवम्' इति भवतोऽप्यनुभूतेर्नह्यनुभवितृत्वमिष्टम्, अनुभूतिरनुभूतिमात्रमेव। संवित् नाम काचित् निराश्रया निर्व्विषया वा अत्यन्ता-नुपलब्धेर्न सम्भवतीत्युक्तम्। उभयाभ्युपगता संविदेवात्मेत्युपलब्धि पराहतम्। अनुभूतिमात्रमेव परमार्थ इति निष्कर्षक हेत्वाभासाश्च निराकृताः॥ ६३ ॥

संज्ञा । एक ही संख्या से परिमित-सोई ऐकत्व। उक्त सब पदार्थ जड़ न होते हुये भी चैतन्य का धर्म स्वरूप। सुतरां एवम्विध चैतन्य धर्म-नित्यत्वादि से जो पूर्वोक्त युक्ति का व्यभिचार, उसका परिहार सो सहज साध्य नहीं है। अधिकन्तु उस अनुभूति से पृथक्, जड़त्वादि विरोधी-वह सब धर्म-भावरूपी ही हों, चाहे अभाव रूपी ही हों, उनके अनुभूति-सम्बन्ध-स्वीकार न करने से, फलत: कुछ भी नहीं प्रतिपादन भया, ताते, उन सबके निषेध रहने से कुछ भी कहा नहीं जा सकता ॥ ६२ ॥

अपि च, यह संवित् प्रमाण-सिद्ध है या नहीं ? यदि सिद्ध है, तब तो उसका धर्म्म भी सिद्ध होगा। और, जो असिद्ध हो, तो गगन-कुसुम के न्याय मिथ्या हो जायगी। संवित्, अगर, सिद्धि ही का नामान्तर है, तब तो कहना चाहिये-किसकी सिद्धि किस के प्रति। अगर, वह किसी के प्रति किसी की सिद्धि न हो, तो, वह सिद्धि भी नहीं हो सकती; एक के पुत्रत्व जैसे और के सम्बन्ध में होता है सिद्धि भी ठीक उसी प्रकार। यदि कहिये कि सिद्धि आत्मा का धर्म; तो, यह आत्मा कौन है ? उत्तर-संवित् ही आत्मा,-सो यह पूर्व में कहा गया है। हाँ, कहा गया है, किन्तु ठीक नहीं कहा गया। देखिये, जब किसी को, कोई विषय पर सिद्धि रूपा संवित् उत्पन्न होता है, तब उस विषय-गत संवित् स्वयं स्वीय आत्मत्व अनुभव कैसे करैगा ?

यह कहा गया कि, अभिव्यक्ति मात्र ही का ऐसा स्वभाव है, कि स्वीय आश्रय समीप कोई न कोई वस्तु को व्यवहार योग्य कर देती है। अवगति, ज्ञान तथा संवित् प्रभृति नामान्तर हैं। और जो सकर्मक है, विषय अवलम्बन युक्त। अनुभव कर्ता आत्मा के उस प्रकार धर्म ही का नाम अनुभूति। 'हम घट जानते हैं', 'इस विषय को अवगत हो रहा हूं, तथा 'पट सम्वेदन कर रहे हैं'-ऐसे ही, वह अनुभूति सब ही के आत्म प्रतीति सिद्ध रहि रहे हैं। और, आप भी निश्चय उसी के बल से अनुभूति की स्वप्रकाशता धर्म को समर्थन किये हैं।

कर्तृगत धर्म विशेष यह सकर्मक अनुभूति जैसे स्वयं स्वीय कर्म स्वरूप नहीं हो सकती, वैसे ही कर्तृ स्वरूप भी हो नहीं सकती। देखिये इस अनुभव का जो कर्ता-अनुभविता सो (वह) बहुकालस्थायी-स्थिरतर; किन्तु, उसी अनुभव कर्ता ही का धर्म रूप-

ननु च, 'अहं जानामि' इत्यस्मत्-प्रत्यये योऽनिदमंशः प्रकाशैकरसश्चित्-पदार्थः, स आत्मा। तस्मिन् तद्बल निर्भासिततया युष्मदर्थ लक्षणः 'अहं जानामी'-ति सिध्यन् अहमर्थश्चिन्मात्रातिरेकी युस्मदर्थ एव। नैतदेवम्, 'अहं जानामि' इति धर्म्मधर्म्मितया प्रत्यक्षप्रतीति-विरोधादेव। किञ्च,—

अहमर्थो नचेदात्मा प्रत्यक्त्वं नात्मनो भवेत्।
अहं-बुद्ध्या परागर्थात् प्रत्यगर्थो हि भिद्यते॥
निरस्ताखिल दुःखोऽहमनन्ता नन्दभाक् स्वराट्।
भवेयमिति मोक्षार्थी श्रवणादौ प्रवर्त्तते॥
अहमर्थविनाशश्चेन्मोक्ष इत्यध्यवस्यति।
अपसर्पेदसौ मोक्ष कथा-प्रस्तावगन्धतः॥
मयिनष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचित् ज्ञप्तिरवस्थिता।
इति तत्प्राप्तये यत्नः कस्यापि न भविष्यति॥
स्वसम्बन्धितया ह्यस्याः सत्ताविज्ञप्तितादिच।
स्वसम्बन्ध वियोगेतु ज्ञप्तिरेव न सिध्यति॥
छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे च्छेदनादेरसिद्धिवत्।
अतोऽहमर्थो ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम्॥
'विज्ञातारमरेकेन विजानीयाद्' इति श्रुतिः॥ वृहदा०-४-५-१४
'एतद्योवेत्तितं प्राहुः क्षेत्रज्ञ' इति च स्मृतिः॥ गीता०, १३-१
'नात्माश्रुते' रित्यारभ्य सूत्रकारोऽपि वक्ष्यति।
'ज्ञोऽतएव' त्यतोनात्मा ज्ञप्ति मात्रमितिस्थितम्॥ ६४॥

अनुभव को ठीक सुख दुःखादि का (बुद्धि धर्म को) न्याय उत्पत्ति, स्थिति तथा विलय प्राप्त होते देखा जाता है। 'सोई यही वस्तु हम पूर्व में प्रत्यक्ष कर चुके हैं'—इसी प्रत्यभिज्ञा सेकर्ता की स्थिरता सिद्ध—हो रही है', 'हम जान रहेहैं' 'हम जाने रहे' तथा 'हम जो जानते थे सो ज्ञान अब नहीं रहा'—इत्यादि रूप ज्ञान का उत्पत्ति प्रभृति धर्म निचय प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतएव, ज्ञाता और ज्ञान एक सो कैसे हो जायेंगे? और भी हेतु-संवित् अथवा ज्ञान जो पदार्थ सो

क्षणभंगुर-प्रतिक्षण विषे जन्म मरणशील-उसी संवित् को आत्मा करके मानने में,-पूर्व दृष्ट वस्तु को, जो पर दिवस 'हम इसको देखे रहे'-ऐसी प्रत्यभिज्ञा, जो, होती है सो फिर हो नहीं सकती, क्योंकि, किसी के देखे हुये पदार्थ पर और कोई दूसरा प्रत्यभिज्ञा नहीं कर सकता।

और भी, अनुभूति को आत्मा करिके मानने में, यद्यपि उसका नित्यत्व ही स्वीकृत भया, सत्य है, तथापि प्रत्यभिज्ञा का असम्भावना दोष पूर्ववत् ही स्थिरतर रहा; कारण-प्रतिसन्धान या प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान,एक ही अनुभविता का पूर्वापर-काल-स्थायित्व ज्ञापन करता है, अर्थात्-इस समय जिन्होंने प्रत्यभिज्ञा कर रहे हैं, इतः पूर्व में भी वही विद्यमान रहे-ऐसी प्रतीति समुत्पादन-करती है। अतएव, प्रत्यभिज्ञा और साधारण अनुभूति एक ही बात नहीं। और, 'हम ही यह पहिले अनुभव किये थे'-इस प्रकार अनुभूति को अनुभाविता कहना, कदाचित् आप को भी अभिप्रेत नहीं है। अनुभूति केवल अनुभूति ये है (अनुभविता हो नहीं सकते)। पहिले ही उक्त भया है- निराश्रय तथा निर्विषय अनुभूति कभी सम्भव पर नहीं' | क्योंकि, वैसी अनुभूति कभी देखी नहीं गई। और, जो वादी प्रतिवादी उभय सम्मत अनुभूति को आत्मा कहा गया, सो भी प्रतीति सिद्ध भेदानुभव द्वारा ही प्रत्याख्यात भया, और, मात्र अनुभूति ही की परमार्थ सत्यता पर जो सब असत् युक्ति या हेतु प्रदर्शित भया था वह भी सब उन्ही युक्तियों से निरस्त भया ॥ ६३ ॥

अच्छा,-'हम जानते हैं'-यह 'अहम्' प्रतीति में जो, अनिदमंश (अजड़) एक मात्र प्रकाश स्वभाव चैतन्य पदार्थ, वही यथार्थ आत्मा, और, 'हम जानते हैं'-इस प्रतीति सिद्ध जो अर्थ, सो भी वही आत्म-चैतन्य से ही नियत समुद्भासित होता है। सुतरां वह 'अहम्' पदार्थ भी फलत: चैतन्यातिरिक्त (अचेतन) 'युस्मद्'-अर्थ, या बाह्य पदार्थ ही हो रहे हैं। नहीं ऐसा नहीं होगा। क्योंकि, 'हम जानते हैं'-इस प्रतीति में 'अहम्' जो पदार्थ सो धर्म्मी (विशेष्य) है, और जो ज्ञान पदार्थ सो उसीका धर्म-विशेषण भाव में अनुभूत होता है, (अहम् को युष्मद् कहने से) पूर्वोक्त प्रत्यक्ष सिद्ध-प्रतीति का व्याघात होगा।

किंच, 'अहम्' पदार्थ, यदि आत्मा न होते तो उसको प्रत्यक्त्व या अबाह्यत्व भी

अहं प्रत्ययसिद्धयोह्यस्मदर्थः युस्मत-प्रत्ययविषयो युस्मदर्थः। तत्राहं जानामीति सिद्धोज्ञाता युस्मदर्थ इति वचनं 'जननोमेवन्ध्या' इति वद् व्याहतार्थञ्च। नचासौज्ञाताहमर्थोऽन्याधीन प्रकाशः, स्वयंप्रकाशत्वात्। चैतन्य स्वभावता हि स्वयं प्रकाशता। यः प्रकाश-स्वभावः, सोऽनन्याधीन प्रकाशोदीपवत्। नहि दीपादेः स्वप्रभा बल निर्भासितत्वेन अप्रकाशत्वमन्याधीन प्रकाशत्वञ्च। किं तर्हि? दीपः प्रकाशस्वभावः स्वयमेव प्रकाशते, अन्यानपि प्रकाशयति प्रभया।

एतदुक्तम्भवति,-यथा एकमेव तेजोद्रव्यं प्रभाप्रभावद्रूपेणवतिष्ठते। यद्यपि प्रभाप्रभावद्द्रव्यगुणभूता,-तथापि तेजोद्रव्यमेव न शौक्ल्यादिवद् गुणः। स्वाश्रयादन्यत्रापि वर्त्तमानत्वाद् रूपवत्त्वाच्च शौक्ल्यादि धर्म्म वैधर्म्यात् प्रकाशवत्वाच्च तोजो द्रव्यमेव, नार्थान्तरम् प्रकाशवत्वं च स्व स्वरूपस्यान्येषाञ्च प्रकाशकत्वात्। अस्यास्तु गुणत्वव्यवहारो नित्यतदाश्रयत्व तच्छेषत्व निवन्धनः।

✓ न चाश्रयावयवा एव विशीर्णाः प्रचरन्तः प्रभेत्युच्यन्ते, मणि द्युमणि प्रभृतीनां विनाशप्रसंगात्। दीपोऽप्यवयवि-प्रतिपत्तिः कदाचिदपि न स्यात। नहि विशरण स्वभावावयवा दीपाश्चतुरंगुलमात्रं नियमेन पिण्डीभूता उद्धर्वमुद्गम्य ततः पश्चाद् युगपदेवतिर्य्यगूर्द्धवं मधश्चैक रूपा विशीर्णाः प्रचरन्तीति वक्तुं शक्यते। अतः सप्रभाका एव दीपाः प्रतिक्षणमुत्पन्ना विनश्यन्तीति पुष्कल कारण क्रमोपनिपातात् तद्विनाशे विनाशाच्चावगम्यते। प्रभायाः स्वाश्रयसमीपे प्रकाशाधिक्यमौष्ण्याधिक्यमित्याद्युपलब्धि व्यवस्थाप्यम् अग्न्यादीनामौष्ण्यादिवत्। एवमात्मा चिद्रूप एव चैतन्यगुणक इति॥ ६५॥

नहीं हो सकता था। अहम् ज्ञान से ही अन्तरात्मा वाह्य पदार्थ से पृथक् कृत होता है। हम सर्व दुःख रहित आनन्दमय स्वराट होंगे। (इस अहमत्व का विनाश होने से, तब ही निश्चय मुक्ति लाभ होता है) इसी अभिलाप से मोक्षार्थी पुरुष शास्त्र श्रवणादि में प्रवृत्त होता है। तब तो वह पुरुष मोक्ष के बात से भी दूर हट जायगा। आत्मा विनष्ट होने से भी, अगर तद्व्यतिरिक्त कोई ज्ञान रहा जाता तब वह अनात्म पदार्थ लाभ के लिये कोई भी यत्न नहीं करता। ज्ञान की सत्ता तथा ज्ञानत्व प्रभृति धर्म निश्चय आत्म सम्बद्ध है। जैसे

छेदन के कर्ता तथा कर्म का अभाव में छेदनादि क्रिया नहीं हो सकती, वैसे ही, आत्म सम्बन्ध परित्याग से ज्ञान ही सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव, वही ज्ञाता ही अहम् पदार्थ; प्रत्यगात्मा-जीवात्मा वही है-निश्चय । 'अरे मैत्रेय ! विज्ञाता को कैसे जानोगे ? यह श्रुति है । और इसको जो जानता है; उसको क्षेत्रज्ञ करके कहा जाता है, स्वयं सूत्रकार भी 'नात्मा श्रुतेः (ब्रह्मः २-३-१८) से लेकर 'ज्ञः अतएव' (२-३-१९) इत्यादि सूत्रों में आत्मा के ज्ञान स्वरूपता का प्रतिपादन करेंगे ॥ ६४ ॥

विशेषतः, अहम्' पदार्थ-अहम् प्रतीति सिद्ध; और 'युस्मत्' पदार्थ-युष्मत् ज्ञान का विषय, सुतरां 'हम जानते हैं'-इस अहम् प्रतीतिगम्य ज्ञाता को जो युस्मत् पदार्थ कहना सो ठीक 'हमारी माता वन्ध्या' इस प्रकार व्याहतार्थ स्वोक्ति विरुद्ध । उक्त 'अहम्' पदार्थ-ज्ञाता का प्रकाश या प्रतीति कभी और के अधीन नहीं क्योंकि वह स्वप्रकाश है । कारण स्वभाव सिद्ध चैतन्य ही का नाम स्वयम्प्रकाशता, सुतरां जो स्वभावतः स्वयं ही प्रकाशमान, उसका प्रकाश कभी भी पराधीन नहीं हो सकता; इसका दृष्टान्त प्रदीप । प्रदीप प्रभृति ज्योति पदार्थ स्वीय प्रकाश शक्ति प्रभाव से समुद्भासित रहता है, इसी से कभी भी अप्रकाशित या पराधीन-अप्रकाश सम्पन्न नहीं होता । फिर बात यह है कि, प्रकाशमय दीप स्वयं प्रकाशित होता है, तथा प्रभा से और और पदार्थों में प्रकाश उत्पन्न करता है । यह कहा गया कि जैसे एक ही तेजोमय द्रव्य प्रभा और प्रभा युक्त रूप में रहता है, इसी प्रकार आत्मा चित्स्वरूप हो के भी चैतन्य गुणसम्पन्न रूप में विराजते हैं। यद्यपि प्रभा धर्म, प्रभायुक्त द्रव्य का गुण या धर्म, तथापि वह तेजो पदार्थ ही है, शुक्लत्वादि न्याय गुण नहीं है । कारण-वह प्रभा स्वीय आश्रय छोड़ के भी दूर तक रह सकती और अपने स्वयं भी रूप सम्पन्न है। अतएव, शुक्लत्वादि गुणों के साथ उसका धर्मगत पार्थक्य है । इसी कारण से और प्रकाश्यत्व हेतु से भी वह निश्चय ही तेजोमय द्रव्य, भिन्न पदार्थ नहीं है । प्रभा जब अपने स्वरूप तथा अपर पदार्थ को भी प्रकाशित करती है, तब तो निश्चय ही उसकी प्रकाशवत्ता है । प्रभा का जो गुणत्व व्यवहार होता है, सो उसका कारण यह है कि प्रभा सदा ही तेजोद्रव्य का आश्रय करके उसी के अधीन हो के रहती है ।

यह भी कह नहीं सकते कि, तेजोद्रव्य का अवयव राशि ही इतस्ततः प्रसारित हो के-विचरण करके प्रभा नाम से अभिहित होता है । कारण-मणि औ सूर्यादि तेजो पदार्थों

चिद्रूपताहि स्वयंप्रकाशता। तथाहि श्रुतयः।–'स यथा सैन्धव घनोऽनन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नो रस घन एव, एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽवाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'-वृहदा–६–५–१३। 'विज्ञान घन एव'–वृहदा-४-४-१२॥ अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति'–वृहदा-६-३-९। 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते'-४-३-३०। अथयोवेदेदं जिघ्राणीति,सआत्मा'।–वृहदा-६-३-३०। 'कतम आत्मा? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेपुहृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'।–वृहदा–८–१२–४ । 'एषहि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मापुरुषः'।–वृहदा–६–३–७। 'विज्ञातारमरेकेन विजानीयात्'।–वृहदा–२–४–१४। 'जानात्येवायंपुरुषः'।–वृहदा-४–४–१४।'न पश्यो मृत्युम्पश्यति। न रोगं नोतदुःखताम्। स उत्तमःपुरुषः'छान्दो० ७–२६–२। 'नोपजनंस्मरन्निदं शरीरम्'।–छान्दो-८–२-३। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़शकलाःपुरुषायणाःपुरुषं प्राप्यास्तं गच्छंति'। प्रश्न उ० ६–५ । 'तस्माद्वाएतस्माद् मनोमयादन्योऽन्तर आत्माविज्ञानमयः'। तैत्ति, आनन्द-४–१। इत्याद्याः। वक्ष्यति च 'ज्ञोऽतएव'।-ब्रह्म सू०-२-३-१९ इति। अतः स्वयम्प्रकाशोऽयमात्माज्ञातैव न प्रकाशमात्रम्। प्रकाशत्वादेव कस्यचिदेवभवेत् प्रकाशः प्रदीपादि प्रकाशवत्। तस्मान्नात्मा भवितुमर्हति संवित्। संविदनुभूति–ज्ञानादि शब्दाःसम्बन्धि शब्दा इति च शब्दार्थविदः। न हि लोक-वेदयोर्जानात्यादेरकर्म्मकस्या कर्त्तृकस्य च प्रयोगो दृष्टचरः॥ ६६॥

को, तब तो, प्रतिमुहूर्त पर विनाशशील मानना पड़ेगा। और (उस प्रकार सिद्धान्त सर्वसम्मत होने से) प्रदीप की अवयविस्व प्रतिपत्ति या बोध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि, प्रत्येक दीपावयव ही विशरण स्वभाव, तादृश अवयव सम्पन्न दीप नियमितरूप चार अंगुली (किञ्चित) परिमाण उन्नत भाव से पिण्डीभूत। (घनीभूत) होके ही, बाद को ऊर्ध्व अधः तथा वक्र भाव से प्रसारित हो के समभाव में विचरण करते हैं –ऐसा भी नहीं कह सकते। अतएव, (तैल, वर्ती आदि) उपयुक्त कारण सद्भाव से सद्भाव, और उनके अभाव से अभाव दर्शन से जाना जाता है कि दीप सकल प्रतिक्षण स्व स्व प्रभा के सहित ही उत्पन्न और विनष्ट होता है। अग्नि प्रभृति के सान्निध्य निवन्धन जैसे (और वस्तु का)

✓ यच्चोक्तम्,-अजड़त्वात् संविदेवात्मेति। तत्रेदं प्रष्टव्यम्, अजड़त्वमिति किमभिप्रेतम्। स्वसत्ताप्रयुक्त प्रकाशत्वमिति चेत्, तथा सति दीपादिष्वनैकान्त्यम्, संविदतिरिक्त प्रकाशधर्म्मानभ्युपगमेनासिद्धिरिति विरोधश्च। अव्यभिचरित प्रकाश-सत्ताकत्वमपिसुखादिषु व्यभिचारान्निरस्तम्।

यद्युच्येत, सुखादिरव्यभिचरित-प्रकाशोऽप्यन्यस्मै प्रकाशमानतया घटादिरिव जड़त्वेन नात्मेति। ज्ञानं वा किं स्वस्मैप्रकाशते? तदपि ह्यन्यस्यैवाहमर्थस्य ज्ञातुरवभासने, अहंसुखीतिवत् जानाम्यहमिति। अतः स्वस्मै प्रकाशमानत्वरूपमजड़त्वं संविद्यसिद्धम्। तस्मात् स्वात्मानं प्रति स्वसत्तयैव सिध्यन् अजड़ोऽहमर्थ एवात्मा। ज्ञानस्यापि प्रकाशता तत्सम्बधायत्ता, तत्कृतमेव हि ज्ञानस्य सुखादेरिव स्वाश्रय चेतनं प्रति प्रकटत्वमितरम् प्रति अप्रकटत्वञ्च। अतो न ज्ञप्तिमात्रमात्मा अपितु ज्ञातैवाहमर्थः॥ ६७॥

उत्तापाधिक्य अनुभूत होता है; प्रभा का भी स्वीय आश्रय समीप ही, वैसे ही, प्रकाश तथा उत्ताप आधिक्य अनुभूत होता है। अनुभव अनुसार ही इसकी व्यवस्था की जाती है। अतएव,, आत्मा चित् स्वरूप होते हुये भी प्रदीपादिवत् चैतन्य गुण सम्पन्न है॥ ६५॥

चित् स्वरूपत्व नाम स्वप्रकाशत्व; श्रुतियाँ भी कह रही हैं,-'अरे मैत्रेयि, प्रसिद्ध सैन्धव खण्ड जैसे भीतर बाहर सर्वतोभाव से केवल लवणमय, आत्मा भी उसीरूप वाह्यान्तर भाव रहित सर्वतः प्रज्ञास्वरूप ही है'। 'यह सुषुप्ति में आत्मा स्वयम्प्रकाश होते हैं'। 'ज्ञाता की ज्ञान विलुप्त नहीं होता है'। 'हम यह सूँघ रहे हैं, ऐसा जो जान रहे हैं सो आत्मा'। 'आत्मा कौन है?-जो यह हृदयस्थित, प्राणाधिदेवता, विज्ञानमय तथा ज्योतिर्मय पुरुष'। 'यह विज्ञानमय आत्मा ही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा और कर्ता'। 'अरे मैत्रेयि, विज्ञाता का फिर कैसे-किस से जानोगे'?-'यह पुरुष ही अनुभवकारी'। द्रष्टा कभी मृत्यु दर्शन नहीं करते हैं; रोग निरीक्षण नहीं करते हैं किम्वा दुःख भोग नहीं करते'। 'वही उत्तम पुरुष-आत्मा।' 'उपजन (सजन,) शरीर स्मरण नहीं करते हैं'। 'आत्मदर्शीका, पुरुषाश्रित

षोड़श कला पुरुष को पाकर अस्तमित हो जाते हैं' : 'सो यह मनोमय कोष से भी अन्तर्वर्ती आत्मा-जिनका नाम विज्ञान मय' इत्यादि, सूत्रकार भी कहेंगे-'अतएव (वही) ज्ञाता'। अतएव यह स्वप्रकाश आत्मा प्रकाश मात्र ही नहीं, ज्ञाता भी है ही है। प्रदीप प्रकाश जैसे पराश्रित होने से सर्वदा अभिव्यक्त नहीं होता, वैसे ही, आत्म प्रकाश भी प्रकाश्यत्व ही के कारण स्थल विशेष पर आविर्भूत होते हैं, ताते, केवल संवित् कभी आत्मा नहीं हो सकते। शब्दार्थ को जानने वालों ने कहे हैं-संवित्-अनुभूति-ज्ञान प्रभृति सम्बन्ध विशिष्ट शब्द-किसी और को सम्बन्ध सापेक्ष। क्योंकि, क्या लौकिक क्या वैदिक प्रयोग में 'जानाति' प्रभृति पदों को कर्ता या कर्म रहित भाव में प्रयुक्त होते देखा नहीं जाता ॥ ६६ ॥

और भी, आप जो कहे हैं कि, जड़ न होने के कारण संवित् को आत्मा जानना चाहिये, सो, उसमें जिज्ञास्य यह है कि, आप का अभिप्रेत यह जो अजड़त्व पदार्थ सो क्या है? यदि कहिये कि स्वीय सत्ता वशतः प्रकाशत्व ही अजड़त्व, तब तो दीपादि में उसका व्यभिचार है। औरो (आप तो) संवित् अतिरिक्त प्रकाश नामक कोई धर्म ही नहीं मानते, तब तो, आप का भी अभिप्राय सिद्ध नहीं भया। सुतरां विरोध आय पड़ा। यदि, यों कहिये कि-जिसकी सत्ता कभी अप्रकाश नहीं रहती सो, अजड़, तो भी, सुख दुःखादि में व्यभिचार होगा, सुतरां उक्त नियम भी निरस्त भया। (सुख दुःखादि भी उत्पन्न हो के अप्रकाश नहीं रहता है।) यदि कहिये-सुखादि की सत्ता प्रकाश सहकृत होते हुये भी उसका प्रकाश परार्थ में है सुतरां परार्थत्व निबन्धन घटादि न्याय जड़ता वश ही वह आत्मा नहीं होगा? ज्ञान का प्रकाश स्वार्थ पर अथवा परार्थ पर ? हम सुखी-कहने में सुख जैसे ज्ञाता के लिये होता है, वैसे ही, हम जानते हैं कहने में-यह ज्ञान और अहम् पदार्थ ज्ञाता के बारे में प्रकाशित होता है। अतएव, संवित् में, स्वार्थ पर, प्रकाशमानता रूप पूर्वोक्त प्रकार अजड़ता नहीं सिद्ध होती है। अतएव, स्वीय आत्मा निमित्त, स्वीय सत्ता वशतः सुसिद्ध 'अहम्' पद-वाच्य ही आत्मा है। ज्ञान का प्रकाश भी उसी आत्मा के अधीन, उसी निमित्त ज्ञान पदार्थ सुखादि-न्याय से अपना आश्रयीभूत-चेतन आत्मा समीप ही प्रकटित होता है। और के पास अप्रकटित रहता है। अतएव, शुद्ध ज्ञान ही मात्र आत्मा नहीं, परन्तु ज्ञाता-अहम् पदार्थ, ज्ञान कर्ता ही आत्मा ॥ ६७ ॥

अथ यदुक्तम्, अनुभूतिः परमार्थतो निर्विषया निराश्रया च सती भ्रान्त्या ज्ञातृतयावभासते, रजततयेव शुक्तिः, निरधिष्ठान- भ्रमानुपपत्तेरिति । तदयुक्तम्; तथा सति अनुभव-सामानाधिकरण्येनानुभविता अहमर्थः प्रतीयेत-'अनुभूतिरहम्' इति पुरोऽवस्थितभास्वरद्रव्याद्याकारतया रजतादिरिव । अत्र तु पृथगवभासमानैवेयमनुभूतिरर्थान्तर महमर्थं विशिनष्टि दण्डइव देवदत्तम् । तथाहि 'अनुभवाम्यहम्' इति प्रतीतिः तदेवमस्मदर्थमनुभूतिं विशिष्टंप्रकाशयन् अनुभवाम्यहमिति प्रत्ययो दण्डमात्रे 'दण्डीदेवदत्तः' इति प्रत्ययवद् विशेषणभूतोऽनुभूतिमात्रावलम्बनः कथमिव प्रतिज्ञायेत ?

यदप्युक्तम्-स्थूलोऽहमित्यादि-देहात्माभिमानवत् एव ज्ञातृत्व प्रति भासनात् ज्ञातृत्वमपिमिथ्येति । तदयुक्तम्; आत्मतयाभिमताया अनुभूतेरपि मिथ्यात्वंस्यात्. तद्वदेव प्रतीतेः सकलेतरोपमर्दि तत्वज्ञानाबाधितत्वेनानुभूतेर्न मिथ्यात्वोमिति चेत्; हन्तैवसति तद्बाधादेव ज्ञातृत्वमपि न मिथ्या ॥ ६८ ॥

और जो कहा गया है कि शुक्ति जो भ्रान्ति वशत: रजत प्राय प्रतीति होती है, स उसी प्रकार अनुभूति वस्तुत निर्विषय और निराश्रय हो के भी भ्रान्ति वशतः ज्ञाता रूप में प्रकाश प्राप्त होता है; कारण-कोई एक सत्य प्रतिष्ठान व्यतीत भ्रम नहीं हो सकता, सो यह भी युक्त के साथ नहीं । कारण-वैसा होने से जैसे सम्मुखस्थ उज्वल शुक्ति सहित रजत अभेद प्रतीति होता है, तैसे 'अहम्' पदार्थ अनुभविता भी अनुभूति के साथ 'हम अनुभूति'-इस प्रकार अभिन्न भाव प्रतीयमान होते,-उभय का भेद कभी न जान पड़ता । किन्तु यहाँ पर, (दण्डी देवदत्त कहने में, जैसे दण्ड और देवदत्त का अभेद प्रतीति नहीं होती (आश्रयी भाव प्रतीति होता है;) तैसे अनुभूति स्वयं पृथक भाव में अनुभूत हो के, अनुभविता-अहम् पदार्थ को स्वीय आश्रय रूप में विशेषित कर देती है । देखिये 'हम अनुभव कर रहे हैं'- ऐसी प्रतीति होती हैं । (हम अनुभव ऐसी नहीं) । अतएव, 'हम अनुभव कर रहे हैं'- कहने से भी जब अनुभूति को 'अहम् पदार्थ का विशेषण रूप में प्रतीति होती तब तो, वह 'अहम्' पदार्थ का विशेषणीभूत सोई ज्ञान को अनुभूति मात्र- विषयक करके कैसे प्रतिज्ञा की जायगी ?

यदप्युक्तम्, अविक्रियस्यात्मनो ज्ञानक्रिया-कर्तृत्वरूपं ज्ञातृत्वं न सम्भवति, अतो ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकं जड़ं विकारास्पदाव्यक्त-परिणामाहंकार-ग्रन्थिस्थमिति न ज्ञातृत्वमात्मनः, अपितु अन्तःकरणरूपस्याहंकारस्य। कर्तृत्वादिर्हि रूपादिवद् दृश्यधर्म्मः, कर्तृत्वेऽहम्प्रत्ययगोचरत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने देहस्येव अनात्मत्व पराक्त्व जड़त्वादि प्रसंगश्चेति। नैतदुपपद्यते देहस्येवाचेतनत्व-प्रकृतिपरिणामित्व-दृश्यत्व-पराक्त्व-परार्थत्वादि योगादन्तःकरणरूपस्याहंकारस्य, चेतनासाधारणस्वभावत्वाच्च ज्ञातृत्वस्य।

एतदुक्तम्भवति, यथा देहादिर्दृश्यत्व-पराक्त्वादिभिर्हेतुभिस्तत् प्रत्यनीक द्रष्टृत्व-प्रत्यक्त्वादेर्विविच्यते, एवमन्तःकरणरूपाहंकारोऽपि तद्‌द्रष्टृत्वादेव तैरेव हेतुभिः तस्माद्‌विविच्यत इति। अतो विरोधादेव न ज्ञातृत्वमहंकारस्य, दृशित्ववत् यथा दृशित्वं तत्कर्म्मणोऽहंकारस्य नाभ्युपगम्यते, तथा ज्ञातृत्वमपि न तत् कर्म्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्। न च ज्ञातृत्वं विक्रियात्मकम्; ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वम्; ज्ञानं चास्य नित्यस्य स्वाभाविक-धर्म्मत्वेन नित्यम्। नित्यत्वंचात्मनो 'नात्माश्रुतेः' इत्यादपु वक्ष्यति। 'ज्ञोऽतएव' इत्यत्र 'ज्ञइति व्यपदेशेन ज्ञानगुणाश्रयत्वं च स्वाभाविकमिति वक्ष्यति। अस्यज्ञानस्वरूपस्यैव मणि प्रभृतीनां प्रभाश्रयत्वमिव ज्ञानाश्रयत्वमप्यविरुद्धमित्युक्तम्। स्वयमपरिच्छिन्नमेव ज्ञानं संकोच-विकाशार्हमित्युपपादयिष्यामः। अतः क्षेत्रज्ञावस्थायां कर्मणा संकुचित स्वरूपं तत्तत् कर्म्मानुगुण-तरतम भावेनवर्त्तते, तच्चेन्द्रियद्वारेण व्यवस्थितम्। तमिममिन्द्रियद्वार-ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमय व्यपदेशः प्रवर्त्तते। ज्ञान प्रसरेतु कर्तृत्वमस्त्येव, तच्च न-स्वाभाविकम्, अपितु कर्म्मकृतमित्यविक्रिया स्वरूप एवात्मा। एवं-रूपाविक्रियात्मकं ज्ञातृत्वं ज्ञानस्वरूपस्यात्मन एवेति न कदाचिदपि जड़स्याहंकारस्य ज्ञातृत्व सम्भवः।

जड़स्वभावस्याहंकारस्य चित्सन्निधाने तच्छायापत्त्या तत्सम्भव इति चेत्; केयं चिच्छायापत्तिः? किमहंकारच्छायापत्तिः संविदः, उत संविच्छायापत्तिरहंकारस्य। न तावत् संविदः, संविद ज्ञातृत्वानभ्युपगमात्। नाप्यहंकारस्य, तस्य जड़स्य उक्तरीत्याज्ञातृत्वायोगात्, द्वयोरप्य चाक्षुषत्वाच्च, नह्यचाक्षुषाणां छायादृष्टा।

अथाग्नि सम्पर्कादयः पिण्डौष्ण्यवत् चित् सम्पर्कात् ज्ञातृत्वोपलब्धिरिति। नैतत्, संविदि वास्तव ज्ञातृत्वा नभ्युपगमादेव न तत् सम्पर्कादहंकारे ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा। अहंकारस्य त्वचेतनस्य ज्ञातृत्वा सम्भवादेव सुतरां न तत् सम्पर्कात् संविदि ज्ञातृत्वं तदुपलब्धिर्वा॥ ६६॥

और, 'हम स्थूल-इत्यादि प्रकार जिसको देह में आत्माभिमान है, तादृश व्यक्ति का जब ज्ञातृत्व प्रकाश पाता है, तब, सो ज्ञातृत्व भी मिथ्या-सत्य नहीं' यह भी जो कहे हैं सो भी अयौक्तिक, क्योंकि, आप जिसको आत्मा करके मान रहे हैं, सो अनुभूति भी जब देहाभिमानी ही के लिये तब तो वह भी मिथ्या नहीं होगी। यदि कहा जाय कि मिथ्यामय वस्तुमात्र विमर्दक जो तत्वज्ञान उससे बाधित न होने से, अनुभूति की मिथ्यात्व नहीं हो सकता, तो फिर ज्ञातृत्व भी मिथ्या नहीं', क्योंकि वह भी तत्वज्ञान से बाधित नहीं है ॥ ६८ ॥

और भी जो आप कहे हैं-'ज्ञातृत्व अर्थात् ज्ञान क्रिया की कर्तृत्व, सो कभी विकार रहित आत्मा में सम्भव नहीं। अतएव, विकारात्मक, जड़ स्वभाव ज्ञातृत्व धर्म सो विकारमय प्रकृति-परिणाम अहं का ग्रन्थि ही में अवस्थित, आत्मा में नहीं। पक्षान्तर पर रूप रसादि न्याय कर्तृत्व भी दृश्य धर्म; सुतरां आत्मा में वह कर्तृत्व धर्म तथा अहम्-बुद्धि की विषयता स्वीकार करने से देह न्याय उसका भी अनात्मत्व, पराक्त्व (बाह्य पदार्थत्व) और जड़त्वादि धर्मों का सम्भावना हो ही पड़ेगा'।-यह भी अयौक्तिक है,-कारण-अचेतनत्व, प्रकृति-परिणामित्व, दृश्यत्व, पराक्त्व तथा परार्थत्व प्रभृति धर्मों के साथ देह के माफिक अहंकार-अन्तःकरण ही के सम्बन्ध, ज्ञातृत्व प्रभृति भाव चेतन वस्तु ही का असाधारण (विशेष) धर्म (सुतरां उभय का एकत्व असम्भव।) अभिप्राय-देहादि पदार्थों जैसे दृश्यत्व और पराक्त्व प्रभृति हेतु बस, तद्विपरीत-द्रष्टत्व और प्रत्यक्त्व प्रभृति धर्मों से पृथक्-कृत होता है वैसे अन्तःकरण-अहंकार भी स्वीय दृश्यत्व निबन्धन ही अचेतनत्व तथा परिणामित्व आदि धर्मों द्वारा द्रष्टत्व तथा पराक्त्वादि धर्मों से विविक्त या पृथक् कृत होता है। अतएव, विरोध वशत: ही दृशित्व (ज्ञानरूपता) न्याय ज्ञातृत्व भी अहंकार का धर्म नहीं है। अर्थात्-दृशित्व या ज्ञान जैसे उसका कर्म या प्रकाश्य अहंकार का धर्म नहीं, तैसे ही ज्ञातृत्व भी उसका धर्म नहीं हो सकता।

और, ज्ञातृत्व अर्थ कोई विकार नहीं,-बल्कि ज्ञान गुण का आश्रयत्व, आत्मा नित्य सुतरां उसका साधारण (स्वाभाविक) ज्ञान भी नित्य। 'नात्मा श्रुतेः'-इत्यादि सूत्रों में आत्मा का नित्यत्व अभिहित होगा। और 'ज्ञः अतएव-इस सूत्र में 'ज्ञ' शब्द से आत्मा का स्व-

भावत: ज्ञान गुणाश्रयत्व प्रतिपादित होगा। और, पहिले कहा जा चुका है कि मणि प्रभृति तेजो पदार्थ जैसे स्वभावत: ही प्रभा का आश्रय रूप है, तैसे ही आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व भी विरुद्ध नहीं। ज्ञान स्वयं अपरिच्छिन्न (असीम) होते हुये भी, जो संकोच-विकाश योग्य सो भी उपपादन किया जायगा।

अतएव, बद्ध दशा में (जीवावस्था पर) ज्ञान धर्म यथा योग्य कर्मानुसार आवश्यक पर तारतम्यरूप से संकुचित होती है, इन्द्रियों से ही ज्ञान संकोच का व्यवस्था होती है। यह जो संकुचित भाव से ज्ञान-प्रसारण, सो भी इन्द्रिय सहायता से होता है, इसी वास्ते इन्द्रिय वृत्ति का आविर्भाव तथा तिरोभावानुसार वह ज्ञान का उत्पत्ति और विलय का व्यवहार होता है,-इन्द्रिय वृत्ति से ज्ञान का विकाश तथा वृत्ति संकोच में विनाश या संकोच व्यवहार किया जाता है। किन्तु, ज्ञान का प्रसारण में निश्चय (आत्मा का) कर्तृत्व है। सो भी (आत्मा का कर्तृत्व भी) स्वभाव सिद्ध नहीं कर्म निमित्तमात्र, सुतरां, उसमें भी आत्मा का स्वरूपत: विकार नहीं होता है। आत्मा अविक्रिय ही रहते हैं। एवम्विध कर्तृत्व धर्म विकारात्मक, ज्ञान स्वरूप आत्मा ही में सम्भव, अतएव, जड़ रूपी अहंकार का कभी ज्ञातृत्व धर्म हो नहीं सकता।

यदि कहिये कि, अहंकार जड़ स्वभाव होते हुये भी सान्निध्य वशत: चित् छाया सम्पात् या चैतन्य-प्रतीबिम्बन होता है, उसी से, अहंकार का भी ज्ञातृत्व सम्भव है। (जिज्ञास्य) यह 'चित छायापत्ति' है क्या? क्या, संवित् के ऊपर अहंकार का छाया या अहंकार के ऊपर चित् छायापात? संवित् के ऊपर कह नहीं सकते, क्योंकि आप तो संवित् का ज्ञातृत्व ही नहीं मानते। अहंकार के ऊपर भी नहीं होगा। क्योंकि पूर्वोक्त नियमानुसार अहंकार में भी ज्ञातृत्व सम्बन्ध असम्भव, परन्तु, संवित् और अहंकार दोनों देखा नहीं जाता (आँखों से) जो दिखता ही नहीं उसका छाया कैसा? फिर यों कहा जाय कि, आग से जैसे लोहा गरम होता है, वैसेही चित् के निकटता से अहंकार में ज्ञातृत्व प्रतीति होती है। नहीं, सो भी नहीं, क्योंकि, चित् पदार्थ ही का जब ज्ञतृत्व अस्वीकार किये गये तो फिर उसके सम्बन्ध से अहकार का ज्ञातृत्व सो बिलकुल असम्भव। और, अचेतन अहंकार का ज्ञातृत्व जब असम्भव है ही है, तब उसके सम्बन्ध से संवित् का ज्ञातृत्व कैसे होगा? ॥ ६१ ॥

यदप्युक्तम्-उभयत्र वस्तुतो न ज्ञातृत्वमस्ति, अहंकारस्त्वनुभूतेरभिव्यंजकः स्वात्मस्थामेवानुभूतिमभिव्यनक्ति, आदर्शादिवदिति। तदयुक्तम्, आत्मनः स्वयं ज्योतिषो जड़रूपाहंकाराभिव्यंग्यत्वायोगात्। तदुक्तम्-

शान्तांगार इवादित्य महंकारो जड़ात्मकः।

स्वयं ज्योतिषमात्मानं व्यनक्तीति न युक्तिमत्-इति॥

स्वयम्प्रकाशानुभवाधीनसिद्धयो हि सर्व्वेपदार्थाः, तत्र तदायत्त प्रकाशोऽचिदहंकारोऽनुदितानस्तमितस्वरूपप्रकाश मशेषार्थसिद्धि हेतुभूत मनुभवमभिव्यनक्तीत्यात्मविदः परिहसन्ति।

किञ्च अहंकारानुभवयोः स्वभावविरोधादनुभूतेरननुभूतित्व प्रसंगाच्च न व्यङ्क्तृ-व्यंग्यभावः। तथोक्तम्-

व्यङ्क्तृ-व्यंग्यत्वमन्योन्यं न चस्यात् प्रतिकल्यतः।

व्यंग्यत्वेऽननुभूतित्वमात्मनिस्याद् यथाघटे इति॥

न च रविकर निकराणांस्वाभिव्यंग्य-करतलाभिव्यंग्यत्ववत् संविदभिव्यंग्याहंकाराभिव्यंग्यत्वं संविदः साधीयः, तत्रापि रविकर निकराणां करतलाभिव्यंग्यत्वाभावात्। करतल प्रतिहतगतयोहि रश्मयोबहुलाः स्वयमेव स्फुटतरमुपलभ्यन्ते, इतितद्बाहुल्यमात्रहेतुत्वात् करतलस्य नाभिव्यंजकत्वम्।

किञ्च, अस्य संविद्रूपस्यात्मनोऽहंकार-निर्व्वर्त्याभिव्यक्ति किंरूपा? न तावदुत्पत्तिः, स्वतः सिद्धतयानन्योत्पाद्यताभ्युपगमात्। नापि तत् प्रकाशनम् तस्या अनुभवान्तराननुभाव्यत्वात्। तत एव च न तदनुभवसाधनानुग्रहः। सहि द्विधा, ज्ञेयस्येन्द्रिय सम्बन्धहेतुत्वेन वा यथा जाति निजमुखादिग्रहणे व्यक्तिदर्पणादीनां नयनादीन्द्रियसम्बन्ध हेतुत्वेन, वोद्धृगत कल्मषापनयनेन वा यथा परत्वाववोधन-साधनस्य शास्त्रस्य शमदमादिना। यथोक्तम् करणानामभूमित्वान्न तत् सम्बन्धहेतुतेति॥ ७० ॥

और जो कहा गया है कि, संवित् और अहंकार इन दोनों में वास्तविक ज्ञातृत्व नहीं है, परन्तु अहंकार अनुभूति ही की अभिव्यञ्जक, सुतरां वह दर्पणादि न्याय स्वगत अनुभूति

की ही अभिव्यक्ति करता रहता है । सो यह भी असंगत; क्योंकि, स्वयं ज्योतिर्मय स्वप्रकाश आत्मा, कभी भी जड़स्वरूप अहंकार का प्रकाशक नहीं हो सकते-ऐसा अन्यत्र भी कहा गया है । 'शान्त-अग्नि रहित अंगार सदृश जड़स्वभाव अहंकार, आदित्यवत् स्वयं-प्रकाश आत्मा को अभिव्यक्त करता है । यह युक्तियुक्त नहीं अभिप्राय सकल वस्तु ही प्रकाशमान अनुभूति या प्रतीति द्वारा सिद्ध होता है : तहाँ, जिसका प्रकाशस्वयं अनुभव के अधीन सो अचित् अहंकार ही जो उदय अस्त रहित-नित्य प्रकाश सम्पन्न और सर्वप्रतीति की कारणीभूत अनुभव को अभिव्यक्त करता है-ऐसी बातों में आत्मवित् पण्डितों ने उपहास करते हैं ।

और एक बात-अहंकार और अनुभव परस्पर विरुद्ध भाव सम्पन्न, इस हेतु, और अनुभव का अयुभावत्व नाश के सम्भावना से भी व्यंग्य व्यंजक भाव हो नहीं सकते । ऐसा भी उक्त भया है-'स्वाभाविक विरोध वशत: अनुभव और अहंकार दोनों को परस्पर वैलक्षण्य से, परस्पर व्यंग्य व्यंजक नहीं हो सकते । परन्तु, यदि व्यंग्य हो, तो घटादि न्याय अनुभूति रहित आत्मा भी हो जायेंगे । सूर्य किरण मण्डल जैसे करतल को अभिव्यक्त करके, स्वयं ही उसमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे संवित् भी अहंकार को अभिव्यक्त करके अपने भी उसमें प्रतिफलित होता है:-ऐसा भी कहना ठीक नहीं । क्योंकि, वहाँ भी, सूर्य्य रश्मी करतल में प्रतिबिम्बित नहीं होती, मात्र, करतल द्वारा प्रतिहत हो के किरण जाल इतस्ततः प्रसृत होके समधिकस्पष्ट भाव प्रत्यक्षीभूत होता है । अतएव, किरणों को विस्तार मात्र करने के कारण, अभिव्यक्ति की हेतु करतल नहीं हो सकता ।

अपिच, यह जो कहा गया कि ज्ञानमय आत्मा की अभिव्यक्ति अहंकार द्वारा होती है-सो यह अभिव्यक्ति किस प्रकार की ? उत्पत्ति रूप उसको नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान पदार्थ स्वतः सिद्ध-नित्य, सुतरां-और वस्तु से उसकी उतपत्ति नहीं होगी । इसीसे, पहिले ही सो मानलिया गया । अभिव्यक्ति की अर्थ प्रकाशन, सो भी कहना ठीक नहीं, कारण-अनुभूति तो फिर अनुभवान्तर द्वारा प्रकाशित या अनुभूत नहीं हो सकती इन्हीं कारणों से ज्ञानानुभव का साधनों में साहाय्य करने को भी 'अभिव्यक्ति'नहीं कही जा सकती । सो सहायता भी दो प्रकार की,-ज्ञेय पदार्थ साथ इन्द्रिय सम्बन्ध समुत्पादन करना, एक,

किञ्च अनुभूते रनुभाव्यत्वाभ्युपगमेऽप्यहमर्थेन न तदनुभव-साधनानुग्रहः सुवचः; स हि अनुभाव्यानुभवोत्पत्ति प्रतिबन्धक निरसनेन भवेत्, यथारूपादि ग्रहणोत्पत्ति विरोधि-सन्तमसनिरसनेन चक्षुषोदीपादिना। न चेह तथाविधं निरसनीयं सम्भाव्यते। न तावत् संविदात्मगतं तज्ज्ञानोत्पत्ति विरोधिकिञ्चिदप्यहंकारापनेयमस्ति। अस्तिह्यज्ञानमिति चेत्; न अज्ञानस्याहंकारापनोद्यत्वा नभ्युपगमात्; ज्ञानमेव ह्यज्ञानस्य निवर्त्तकम्। न च संविदाश्रयत्वमज्ञानस्य सम्भवति;ज्ञान समानाश्रयत्वात् तत् समान विषयत्वाच्च ज्ञातृभाव-विषय भाव विरहिते ज्ञानमात्रे साक्षिणि नाज्ञानं भवितुमर्हति। यथा ज्ञानाश्रयत्व प्रसक्ति शून्यत्वेन घटादेर्नाज्ञानाश्रयत्वम् तथाज्ञान मात्रेऽपि ज्ञानाश्रयत्वाभावेन नाज्ञानाश्रयत्वं स्यात्।

संविदोऽज्ञानाश्रयत्वाभ्युपगमेऽप्यात्मतयाभ्युपेताया स्तस्या ज्ञानविषयत्वाभावेन ज्ञानेन न तद्गताज्ञाननिवृत्तिः। ज्ञानं हि स्वविषय एवाज्ञानं निवर्त्तयति, यथा रज्ज्वादौ। अतो न केनापि कदाचित् संविदाश्रयमज्ञानमुच्छिद्येत। अस्यच सदसद्निर्व्वचनीयस्याज्ञानस्य स्वरूपमेव दुर्निरूपमित्युपरिष्टाद्वक्ष्यते; ज्ञानप्रागभावरूपस्य चाज्ञानस्य ज्ञानोत्पत्ति विरोधित्वाभावेन न तन्निरसनेन तज्ज्ञान-साधनानुग्रहः। अतो न केनापि प्रकारेणाहंकारेणानुभूतेरभिव्यक्तिः ॥ ७१ ॥

जैसे-मनुष्यादि जाति प्रत्यक्ष में, जाति सहचक्षुः सम्बंध सम्पादक मनुष्यादि व्यक्ति। द्वितीय-ज्ञाता की हृदय गत पाप-दोष अपनयन द्वारा, जैसे-परतत्व-परमेश्वर बोधोपाय शास्त्र सम्बन्ध में शम दमादि साधन। अन्यत्र भी उक्त है-'वह इन्द्रियों का अगम्य, सुतरां इन्द्रिय गण तत सह सम्बन्ध का कारण नहीं' ॥ ७० ॥

और कुछ,-अनुभव का अनुभाव्यत्व (अनुभवान्तर का विषयता) स्वीकार करने से भी, अहम् पदार्थ द्वारा तद्विषयक अनुभव साधन का सहाय होता है, यह सहज में नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, अनुभवोत्पत्ति में जो सब प्रतिबन्धक हैं, केवल तत् समुदय को निरास, याने, अपसारण से ही सो सहाय सम्पादित हो सकता, जैसे-प्रदीपादि आलोक रूपादि प्रत्यक्ष का विरोध गाढ़ अन्धकार निवारण से आँखों का सहायता करती है, यहाँ पर तो वैसा निवारणीय कोई वस्तु नहीं देख पड़ रहा है। स्वयं ज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञानो-

न च स्वाश्रयतया भिव्यंग्याभिव्यञ्जनमभिव्यञ्जकानां स्वभावः, प्रदीपादिष्वदर्शनात्, यथावस्थितपदार्थ प्रतीत्यनुगुणस्वाभाव्याच्च ज्ञान-तत्साधनयोरनुग्राहकस्य च। तच्च स्वतः प्रामाण्य-न्यायसिद्धम्। न च दर्पणादिर्मुखादेरभिव्यञ्जकः, अपितु चाक्षुषतेजः-प्रतिफलनरूपदोष हेतुः तद्दोषकृतश्च तत्रान्यथावभासः, अभिव्यञ्जकस्तु, आलोकादिरेव। न चेह तथाहंकारेण संविदि स्वप्रकाशायां तादृशदोषापादनं सम्भवति। व्यक्तेस्तु जातिराकारः, इतितदाश्रयतया प्रतीतिः; न तु व्यक्ति-व्यंग्यत्वात्। अतोऽन्तःकरणभूताहंकारस्थतया संविदुपलब्धेर्वस्तुतो दोषतो वा न किञ्चिदिह कारणमिति नाहंकारस्य ज्ञातृत्वं, तथोपलब्धिर्वा। तस्मात् स्वत एव ज्ञातृतया सिध्यन्नहमर्थ एव प्रत्यगात्मा—न ज्ञप्ति मात्रम्। अहम्भाव विगमे तु ज्ञप्तेरपि न प्रत्यक्त्व सिद्धिरित्युक्तम्।

तमोगुणाभिभवात् परागर्थानुभवाभावाच्च अहमर्थस्य विविक्त स्फुट प्रतिभासा भावेऽप्यप्रबोधाद् अहमित्येकाकारेणात्मनः स्फुरणात् सुषुप्तावपि नाहंभाव विगमः। भवदभिमताया अनुभूतेरपि तथैव प्रथेति वक्तव्यम्। नांह सुप्तोत्थितः कश्चिदहम्भाव-वियुक्तार्थान्तर-प्रत्यनीकाकारा ज्ञप्तिरहमज्ञानसाक्षितया वातिष्ठे, इत्येवम्विधां स्वापसम कालामनुभूतिं परामृशति। एवं हि सुप्तोत्थितस्य परामर्शः 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति। अनेन प्रत्यवमर्शेन तदानीमप्यहमर्थस्यैवात्मनः सुखित्वं ज्ञातृत्वं च ज्ञायते ॥ ७२ ॥

त्पत्ति की प्रतिबन्धक ऐसा कुछ भी नहीं है, जो कि, अहंकार से अपनीत हो सकता। अगर अज्ञान, ही को प्रतिबन्धक रूप कहा जाय, तो सो नहीं हो सकता, कारण-ज्ञान ही मात्र, अज्ञान का निवर्तक, अहंकार भी अज्ञान का निवारक ऐसा तो नहीं माना गया है, और ज्ञान, अज्ञान का आश्रय भी, कभी नहीं हो सकता, क्योंकि, ज्ञान तथा अज्ञान का आश्रय और विषय तुल्य या समान-ज्ञान भी यद् आश्रित, यद्विषयक, अज्ञान भी तद्विषयक तथा तदाश्रित रहता है। वस्तुतः ही ज्ञातृत्व और विषयभाव-विरहित, साक्षिस्वरूप शुद्ध ज्ञान में कभी अज्ञान रह ही नहीं सकते। ज्ञानाश्रयत्व का सम्भावना-शून्य घटादि वस्तु जैसे अज्ञान का (भी) आश्रय नहीं होता, तद्रूप ज्ञानाश्रयत्व-सम्भावना की हीनता से, मात्र ज्ञान भी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकेगा।

संवित् को अज्ञान का आश्रयरूप मान लेने से भी, जब उसी को आत्मा करके माना गया है, तब फिर वही ज्ञान का विषय या ज्ञेय नहीं हो सकता, सुतरां ज्ञान से कोई सम्विदाश्रित अज्ञान का निवृत्ति भी नहीं होगी । (क्योंकि) ज्ञान स्वीय विषय गत अज्ञान ही को निवारण करता है । जैसे रज्जु सर्पादि में होता है । अतएव (अज्ञान को ज्ञान आश्रित कहने में) कभी कोई उपाय से उस ज्ञानाश्रित अज्ञान का उच्छेद नहीं होगा। और सदसद् रूप अनिर्वचनीय अज्ञान का निरुपण नहीं हो सकता । यह वाद को उठाया जायगा। और अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव कहने से भी, वह जब ज्ञानोत्पत्ति का प्रतिबन्धक ही नहीं होता तब उनको प्रत्याख्यान में भी, ज्ञानोत्पत्ति का साधनों से कोई प्रकार की अनुकूलता न होगी। अतएव, अनुभूति की अभिव्यंजक अहंकार-ऐसा कभी न कहिये ॥ ७१ ॥

यह भी नहीं है-'अभिव्यजकों का स्वभाव ही है कि,-आश्रयीभूत पदार्थों का ही प्रकाश करना (अभिव्यक्ति करना' ।) कारण-प्रदीपादि में ऐसा नहीं देखा जाता है। विशेषत:, ज्ञान और ज्ञान साधन के अनुकूल वस्तु समूहों का यही स्वभाव है कि, वह सब यथा यथ वस्तु प्रतीति में सहायता करता है । प्रमाण का स्वत: प्रामाण्य युक्ति से ही यह नियम व्यवस्थित होता है । और, दर्पणादि भी वस्तुत: मुखादि का अभिव्यंजक नहीं है, परन्तु, दर्पण में चाक्षुष-तेज का प्रतिफलन रूप दोष ही उस अभिव्यक्ति का कारण । उसी दोष से दर्पणादि में वस्तु का विपरीत भाव दर्शन होता है । वस्तुतः प्रत्यक्ष का सहायक आलोकादि ही वहाँ पर अभिव्यञ्जक या अभिव्यक्ति का कारण,- दर्पणादि नहीं । यहाँ पर, स्वप्रकाश ज्ञान में तो अहंकार द्वारा तादृशदोषोत्पादन सम्भव नहीं (साधारणत:) जाति या आकार व्यक्ति-समाश्रित, इसी वास्ते ही तदाश्रितरूप में प्रतीत होता है किन्तु व्यक्ति का अभिव्यंग्य करके नहीं । अतएव, ज्ञान का अहंकाराश्रितत्व प्रतीति पक्ष पर वस्तु सिद्ध या दोषकृत कोई कारण नहीं है, सुतरां अहंकार का ज्ञातृत्व भी नहीं है, एवं तादृश उपलब्धि या प्रतीति भी नहीं देखी जाती अतएव, स्वभावतः ही ज्ञान रूप प्रसिद्ध जो अहम् पदार्थ वही 'आत्मा', न कि शुद्ध ज्ञान मात्र । और, अहम् भाव की अभाव में, जो, ज्ञान क भी आत्मत्व असिद्ध है, सो, पहिले ही कहा जा चुका ।

सुषुप्ति काल पर तमोगुण से अभीभूत होने से और वाह्य प्रतीति न रहने से, यद्यपि,

न च वाच्यम्, यथेदानीं सुखं भवति, तथा तदानीमस्वाप्समित्येषा प्रतिपत्तिरिति, अतद्रूपत्वात् प्रतिपत्तेः। न चाहमर्थस्यात्मनोऽस्थिरत्वेनतदानीमहमर्थस्य सुखित्वानुसन्धानानुपपत्तिः, यतः सषुप्तिदशायाः प्रागनुभूतं वस्तुसुप्तोत्थितो 'मयेदं कृतं' 'मयेदमनुभूतम्' 'अहमेवेदमवोचम्' इति परामृशति। 'एतावन्तं कालं न किञ्चिदहमज्ञासिषम्' इति च परामृशति इति चेत् ततः किम्? 'न किञ्चिद' इति कृत्स्न प्रतिषेध इति चेत्; न-'नाहमवेदिषम्' इति वेदितुरहमर्थस्यैवानुवृत्तेः; वेद्यविषयो हि स प्रतिषेधः। न 'किञ्चिद' इति निषेधस्य कृत्स्न विषयत्वे भवदभिमतानुभूतिरपि प्रतिसिद्धा स्यात्। सुषुप्तिसमयेऽप्यनुसन्धीयमान महमर्थमात्मानं ज्ञातारम् 'अहमिति' परामृश्य 'न किञ्चिदवेदिषम्' इति वेदने तस्य प्रतिसिध्यमाने तस्मिन् काले प्रति सिध्यमानाया वित्तेः सिद्धि मनुवर्त्तमानस्य ज्ञातुरहमर्थस्य चा सिद्धिमनेनैव 'न किञ्चिदहमवेदिषम्' इति परामर्शेन साधयंस्तमिममर्थं देवानामेव साधयतु।

'मामप्यहम् न ज्ञातवान्' इत्यहमर्थस्यापि तदानीमननुसन्धानं प्रतीयते इति चेत्; स्वानुभव-स्ववचनयोर्विरोधमपि न जानन्ति भवन्तः 'अहं मां न ज्ञातवान्' इति ह्यनुभव-वचने। 'माम्' इति किं निसिध्यते इति चेत्; साधु पृष्टं भवता तदुच्यते अहमर्थस्य ज्ञातुरनुवृत्तेर्न स्वरूपं निषिध्यते, अपि तु प्रबोध समयेऽनुसन्धीयमानस्याहमर्थस्य वर्णाश्रमादि विशिष्टता। 'अहं मां न ज्ञातवान्' इत्युक्तेर्विषयो विवेचनीयः। जागरितावस्थानुसंहित जात्यादि विशिष्टोऽस्मदर्थो 'माम्' इत्यंशस्य विषयः। स्वापावस्था प्रसिद्धोऽविषदस्वानुभवैकतानश्चाहमार्थः 'अहम्' इत्यंशस्य विषयः अत्र सुप्तोऽहम्, इद्दशोऽहमिति च, मामपि न ज्ञातवानहमित्येव खल्वनुभव प्रकारः॥ ७१॥

तत् समय अहम् भाव की विस्पष्ट प्रतीति नहीं रहती, सत्य है तथापि उसका बिलकुल विलोप नहीं होता, क्योंकि प्रबोध या जागरण न होते तक उसमें भी अहम् भाव की स्फूर्ति रहती है। और, आपको भी आप की (आत्म स्वीकृत) अनुभूति की उसी प्रकार स्फुरण मानना पड़ेगा। कोई भी जागकर ऐसा नहीं सोचता है कि 'अहंकार तथा पदार्थान्तर सम्ब-

किञ्च, सुषुप्तावात्मा अज्ञान साक्षित्वे नास्ते, इति हि भवदीयाप्रक्रिया। साक्षित्वंञ्च साक्षात् ज्ञातृत्व मेव नह्यजानतः साक्षित्वम् । ज्ञातैव लोक-वेदयोः साक्षीति व्यपदिश्यते,न ज्ञान मात्रम्। स्मरति च भगवान् पाणिनिः 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्'–अष्टा० ५-२-९१ । इति साक्षात् ज्ञातर्य्येव साक्षि शब्दम् । स चायं साक्षी जानामीति प्रतीयमानोऽस्मदर्थ एवेति कुतस्तदानीमहमर्थो न प्रतीयेत।

न्ध रहित अर्थात् ज्ञातृ ज्ञेयादि सर्वविध विशेषभाव विरहित ज्ञानस्वरूप–हम सुषुप्ति समय अज्ञान का साक्षिरूप थे', परन्तु, 'हम सुख से सो रहे थे', जागे हुये का ऐसा ही परामर्श या स्मरण होता है। निद्रोत्थित का इस परामर्श अनुसार जानना चाहिये कि उस समय भी अहं पदार्थ-आत्मा का ज्ञान तथा सुख विद्यमान रहा ॥ ७२ ॥

यदि कहिये-'सुषुप्ति में, हम को भी हम नहीं जानते थे'–कहने से तत् काल विदे अहम् पदार्थ-आत्मा की भी अनुसन्धन या प्रतीति का अभाव समझा जाता है ? (नहीं, ऐसा कहने से) स्वकीय उक्ति और अनुभव का साथ विरोध होता है, सो यह भी आप लोग नहीं सोच सकते हैं। 'हम हमको भी नहीं जानते हैं' इसी प्रकार अनुभव तथा तदभिव्यञ्जक उक्ति होती है, (सुतरां, अहम् पदार्थ आत्मा न होने से, 'नहीं जानता हूँ' यह अनुभव कौन करेगा ?) यदि कहिये-(अहम् पदार्थ आत्मा जब रहा ही) तब, ,न माम्'- यह किसको निषेध में कहा जाता है ? हाँ, यह उत्तम् श्रेनों का प्रश्न है। सदुत्तर-अहम् पदार्थ ज्ञाता की अनुवृत्ति या सम्बन्ध तब भी रहता है; सुतरां सषुप्ति दशा में तत् प्रतिषेध नहीं होता। परन्तु-जागृत दशा पर वर्णाश्रमादि जो जो विशेष विशेष धर्म की प्रतीति रहती है,सुषुप्ति दशा में वही सबका अभाव होता है, यही जागे हुये के 'हम हमको नहीं जानते थे' । इस उक्ति का विषय रूप विवेचना करना चाहिये,- जागरित अवस्था पर अनुभूत जो, जाति प्रभृति धर्म संयुक्त अहम् पदार्थ आत्मा, सोई 'माम्-इस अंश का विषय और, स्वप्नावस्था में प्रसिद्ध, जो अस्फूट-अनुभव मात्र गम्य अहम् पदार्थ, सोई 'अहम्'-इस प्रतीति भाग का विषय। इस विषय में हम सुप्त, हम इस प्रकार,' और 'हम हमको भी नहीं जानते' इसी तरह अनुभव प्रणाली देखी जाती है ॥ ७३ ॥

आत्मने स्वयमवभासमानोऽहमित्येवावभासते, इति स्वापाद्यवस्थास्वप्यात्मा प्रकाश मानोऽहमित्येवावभासते इति सिद्धम्।

यत्तु मोक्षदशायामहमर्थो नानुवर्त्तते इति; तदपेशलम्। तथा सत्यात्मनाश एवापवर्गः प्रकारान्तरेण प्रतिज्ञातः स्यात्। न चाहमर्थोधर्म मात्रम्; येन तद्विगमेऽप्यविद्या निवृत्ताविवस्वरूप मवतिष्ठेत; प्रत्युत स्वरूपमेवाहमर्थ आत्मनः। ज्ञानन्तु तस्य धर्म्मः, 'अहंजानामि, ज्ञानं मे जातम्' इतिचाहमर्थ धर्म्मतया ज्ञान प्रतीतेरेव। अपिच, यः परमार्थतो भ्रान्त्या वा आध्यात्मिकादि-दुःखैर्दुःखितयात्मान मनुसन्धत्ते 'अहंदुःखी' इति, सर्व्वमेतद्दुःखजातमपुनर्भवमपोह्य कथमहमनाकुलः स्वस्थो भवेयमित्युत्पन्नमोक्षरागः स एव तत्साधने प्रवर्त्तते। ससाधनानुष्ठानेन यद्यहमेव न भविष्यामीत्यवगच्छेत्; अपसर्पेदेवासौ मोक्षकथाप्रस्तावात्। ततश्चाधिकारि-विरहादेव सर्व्वं मोक्ष शास्त्रमप्रमाणं स्यात्।

अहमुपलक्षितं प्रकाशमात्रमपवर्गेऽवतिष्ठते, इति चेत्; किमनेन? मयि विनष्टेऽपि किमपि प्रकाशमात्रमवतिष्ठते इति मत्वानहि कश्चिद्बुद्धि पूर्व्वकमधिकारी प्रयतते। अतोऽहमर्थस्यैव ज्ञातृतया सिध्यतः प्रत्यगात्मत्वम्। स च प्रत्यगात्मा मुक्तावपि 'अहम्' इत्येव प्रकाशते, स्वस्मै प्रकाशमानत्वात्; यो यः स्वस्मै प्रकाशते, स सर्व्वः 'अहम्' इत्येव प्रकाशते यथा तथावभासमानत्वे नोभयवादिसम्मतः संसार्य्यात्मा। यः पुनरहमिति न चकास्ति, नासौ स्वस्मै प्रकाशते; यथा-घटादिः स्वस्मै प्रकाशते चायं मुक्तात्मा; स तस्माद् 'अहम्' इत्येव प्रकाशते।

न च 'अहम्' इति प्रकाशमानत्वेन तस्याज्ञत्व-संसारित्वादि प्रसंगः; मोक्ष विरोधादज्ञत्वाद्यहेतुत्वाच्चाहंप्रत्ययस्य। अज्ञानं नाम स्वरूपाज्ञानमन्यथाज्ञानं विपरीतज्ञानं वा। 'अहम्'इत्येवात्मनःस्वरूपमिति स्वरूपज्ञान रूपोऽहम्प्रत्ययो नाज्ञत्वमापादयति, कुतः संसारित्वम्? अपितु तद्विरोधित्वान्नाशयत्येव। ब्रह्मात्मभावापरोक्ष्य-निर्द्धूत निरवशेषाविद्यानामपि वामदेवादीनामहमित्येवात्म अनुभव दर्शनाच्च श्रूयतेहि-'तद्धै तत् पश्यन् ऋषिर्व्वामदेवःप्रतिपेदे-'अहम्मनुरभवं सूर्य्यश्च' बृहदा-३-४-१०। इति। 'अहमेकः प्रथममासं वर्त्तामि च भविष्यामि'-अथर्व्व शिखा, १। इत्यादि। सकलेतराज्ञान विरोधिनः सच्छब्द-प्रत्यय मात्रभाजः पर.

स्य ब्रह्मणोव्यवहारोऽप्येवमेव –'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः'–छान्दो-६-३-२ । 'बहु स्यांप्रजायेय'-तैत्ति-६-२ । 'स ऐक्षत लोकान नुसृजै'-ऐत-१-१-१ । इति । तथा–

'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः । अतोऽस्मिलोकेवेदेचप्रथितः पुरुषोत्तमः 'अहमात्मागुड़ाकेश' । 'नत्वेवाहं जातुनाशम्' । अहंकृत्स्नस्यजगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' । 'अहं सर्व्वस्य प्रभवोमत्तः सर्व्वम्प्रवर्त्तते '। तेषामहंसमुद्धर्त्ता मृत्यु संसारसागरात्' । 'अहं बीज प्रदःपिता' । 'वेदाहं समतीतानि' गीता यथाक्रमम्-१५-१८।१०-२०।१२-१२।७-६।१०-८।१२-७।१४-४।७-२६ । इत्यादिषु । ७४ ।

किञ्चित् और भी,–'सपुप्ति समय आत्मा अज्ञान का साक्षीरूप रहते हैं,'-यही आपका अभिमत सिद्धान्त । साक्षित्व का अर्थ साक्षात् सम्बन्ध में जानना, जो नहीं जानता वह साक्षी नहीं हो सकता, क्या लोक व्यवहार, क्या वेद में सर्वत्र ज्ञाता ही को साक्षी कहा जाता । केवल ज्ञान को साक्षी न कहा जाता । भगवान् पाणिनि भी 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इस सूत्र में द्रष्टा ही का साक्षित्व निर्देश करते है । 'मैं जानता हूं' ऐसी प्रतीतिगम्य सोई साक्षी, 'अस्मत्' पदार्थ आत्मा भिन्न कोई नहीं अतएव सुषुप्ति में आत्मा प्रतीत क्यों न होंगे । होते ही हैं । आत्मा, स्वार्थ में अहम् रूप ही प्रतीत होता है । ऐसा ही देखा जाता है । अतएव सपुप्ति प्रभृति दशा में प्रकाशमान आत्मा, जो अहम् रूप में ही प्रकाशित होते हैं, सोई सिद्ध होता है । (उनके मतमें) मोक्ष दशा में अहम् प्रतीति की अनुवृत्ति नहीं रहती-ऐसा जो कहा जाता–सो भी बात अच्छी नहीं । क्योंकि तब तो प्रकारन्तर में आत्म विनाश ही को मोक्ष मानना पड़ेगा । और अहम् पदार्थ तो आत्मा का कोई प्रकार धर्म भी नहीं जो अविद्या न्याय, अहम् भाव भी, हटने पर भी शुद्ध स्वरूप रह सकेगा । परन्तु अहम् पदार्थ ही आत्मा का स्वरूप । 'हम जानते हैं', 'हमारा ज्ञान भया'–इत्यादि में आत्मा का धर्म या गुण रूप, ज्ञान ही प्रतीत होता है । सुतरां ज्ञान ही को आत्मा का धर्म करके मानना चाहिये । (अहम् पदार्थ को नहीं) ।

अपि च, वास्तविक ही हो या भूल से ही हो जो आध्यात्मिकादि दुःख त्रय से कातर होकर अपने को दुःखी जानता है, सोई, फिर जिसमें दुःख न हो, कैसे हम इस दुःख को ध्वंस करके निश्चिन्त होंगे' इस प्रकार सोच कर प्रथमतः मोक्ष विषय पर अनुरागी होता है, फिर उसके उपाय प्राप्ति में प्रवृत्त होता है । अगर, वह जाने कि मोक्ष साधन अनुष्ठान से

अपना अस्तित्व ही विलुप्त हो जायगा तब तो वह मोक्ष प्रसंग से दूर हट जायगा । फलतः कोई भी मोक्षाधिकारी नहीं रह जायेंगे । और, अधिकारी के अभाव पर मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रायें भी अप्रमाण या अनर्थक हो जायेंगे ।

यदि कहिये-'मोक्ष दशा में (अहंकार न रहते हुये भी) अहंकार उपलक्षित केवल आत्म प्रकाश विद्यमान रहता है' । सो, इस से भी क्या होता है ? हम (मुक्त पुरुष) विनष्ट होते हुये भी, हमारा प्रकाश मात्र रह जायगा, ऐसा भी जान कर, कोई बुद्धि पूर्वक प्रवृत्त नहीं होगा । अतएव, ज्ञाता रूप प्रसिद्ध अहम् पदार्थ ही आत्मा, सो आत्मा मुक्त दशा में भी अहंरूप में ही प्रकाशित रहता है । कारण, उस समय आत्मा स्वयं स्वार्थ में प्रकाश प्राप्त होता है-परार्थ नहीं । जो जो वस्तु स्वार्थ पर प्रकाशमान होता है सो सो सब ही अह आकार में प्रकाशित होता है । यथा-अहंरूप में प्रकाशमान, उभयवादि सम्मत, 'संसारी आत्मा' । अर्थात्-आत्मा संसार दशा में अहं रूप ही प्रकाशित होता है-यह वादी विवादी उभय सम्मत । परन्तु जो अहंकार में प्रकाशित नहीं होता,सो कभी स्वयं या स्वार्थ पर प्रकाशमान नहीं होता है, जैसे घटादि जड़ वस्तु । अथच, यह मुक्तात्मा स्वार्थ पर या स्वयं ही प्रकाशमान रहता है; इसी वास्ते वह अहंरूप में ही प्रकाशित रहता है ।

फिर भी क्या अहंरूप में प्रकाशित होने ही के कारण, उसी में अज्ञत्व तथा संसारित्व आदि धर्मों की सम्भावना होगी ? नहीं कह सकते । क्योंकि मोक्षावस्था सो अज्ञत्वादि धर्म विरोधी; अधिकन्तु, अहम् प्रत्यय या, ममत्व बुद्धि भी अज्ञत्वादि धर्मों का कारण नहीं (जिससे कि, अहंभाव रहने ही से अज्ञ भी होना जरुरी है)-(ताते, मोक्ष अवस्था में अज्ञत्वादि धर्मों की सम्भावना हो ही नहीं सकते ।) अज्ञान अर्थात् स्वरूपाज्ञान-(आत्म स्वरूप को न जानना-आत्मा को इन्द्रिय विकार रूप मानना) । अहं ही जब आत्मस्वरूप, तब तो वही स्वरूप ज्ञान, अहम् प्रत्यय कभी आत्मा की अज्ञत्व प्रतिपादन नहीं कर सकता; सुतरा, संसारित्व भी नहीं सम्पादन कर सकता, परन्तु वही अहं प्रत्यय ही अज्ञत्व और संसारित्व विध्वस्त कर देता है । विशेषतः ब्रह्मात्म भाव का साक्षात्कार से जिनको अविद्या समूल उन्मूलित हो गई, सो वाम देवादिकों का भी अहंरूप में आत्मानुभव दृष्ट होता है । सुनी जाती है-वामदेव ऋषि सो-सो-तत्व दर्शन से समझे रहे कि-'हम ही मनु तथा सूर्य्य भये रहे, तथा वर्त्तमान औ भविष्यत् में भी हम ही रहेंगे' । इत्यादि। अपर सर्व विध अज्ञान

यद्यहमित्येवात्मानः स्वरूपम्; कथं तह्यहंकारस्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतोपदिश्यते?-'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव, च' इति, गीता जी-७-१०।

उच्यते,-स्वरूपोपदेशेषु सर्व्वेष्वहमित्येवोपदेशात् तथैवात्मस्वरूप प्रतिपत्तेश्चाहमित्येवं प्रत्यगात्मनः स्वरूपम्। अव्यक्त परिणाम भेदस्याहंकारस्य क्षेत्रान्तर्भावो भगवतोपादिश्यते। स त्वनात्मनि देहेऽहम्भाव करणहेतुत्वेनाहंकार इत्युच्यते। अस्यत्वहंकार शब्दस्याभूततद्भावेऽर्थे च्विप्रत्ययमुत्पाद्य व्युत्पत्तिर्द्रष्टव्या अयमेवत्वहंकार उत्कृष्ट जनावमान हेतुर्गर्व्वापरनामा शास्त्रेषु वहुशोहेयतयाप्रतिपाद्यते। तस्माद्बाधकापेताहम्बुद्धिः साक्षादात्मगोचरैव, शरीर गोचरात्वहम्बुद्धिरविद्यैव। यथोक्तम् भगवतापराशरेण,-'श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूपंकुलनन्दन। अनात्मन्यात्मबुद्धिर्य्या'-वि० पु०-६-७।१०-११ इति। यदि ज्ञप्तिमात्रमेवात्मा, तदानात्मन्यात्माभिमाने शरीरे ज्ञप्तिमात्रपतिभासः स्यात् न ज्ञातृत्व प्रतिभासः। तस्माज्ज्ञाताहमर्थएवात्मा। तदुक्तम्,-'अतःप्रत्यक्षसिद्धत्वादुक्त न्यायागमान्वयात्। अविद्यायोगतश्चात्मा ज्ञाताहमितिभासते॥' आत्मसिद्धि-इति तथा च 'देहेन्द्रिय मनः प्राण धीभ्योऽन्योऽनन्य साधनः।

नित्यो व्यापी प्रतिक्षेत्रमात्माभिन्नः स्वतः सुखी॥ आत्मसिद्धि इति। अनन्य साधनः-स्वप्रकाशः। व्यापी-अति सूक्ष्मतया सर्व्वाचेतनान्तः प्रवेशनस्वभावः।

विरोधी केवल सत् शब्द वो सत् प्रतीति गम्य परब्रह्म सम्बन्ध में व्यवहार भी यहां प्रकार-'हम तेजः जल वो पृथिवी, इन देवता त्रय को (नाम रूप में अभिव्यक्त करेंगे) वहु होंगे, जन्मेंगे' आप आलोचना किये थे-लोक सकल सृष्टि करेंगे'। तथा 'जो कि, हम क्षर के अतीत, और अक्षर से भी उत्तम, इसी से लोक तथा वेद में हम पुरुषोत्तम करके कहे गये', 'हे निद्राजयी अर्जुन, हम ही आत्मा', 'हम कभी नहीं रहे सो ऐसा नहीं', 'हम ही समस्त जगत् का प्रभव वो प्रलय (स्थान) हम ही सब की उत्पत्ति-निदान, और आत्मा ही से सब उत्पन्न होता है, 'हम उन सबको मृत्युमय संसार से उद्धार करता हूँ', 'हम ही वीजप्रद पिता स्वरूप', 'हम वहु अतीत विषय को जानते हैं'-इत्यादि स्थलों में परब्रह्म सम्बन्ध में भी अहम् प्रत्यय दृष्ट होता है॥ ७४॥

यदुक्तम् ,-दोषमूलत्वेनान्यथा सिद्धिसम्भावनया सकलभेदावलम्बिप्रत्यक्षस्य शास्त्रबाध्यत्वमिति । कोऽयं दोष इति वक्तव्यम् ? यन्मूलतया प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिः । अनादिभेद वासनैव हि दोष इति चेत्; भेदवासनायास्तिमिरादिवद्यथावस्थित वस्तु-विपरीतज्ञान हेतुत्वं किमन्यत्र ज्ञातपूर्व्वम् ? अनेनैवशास्त्रविरोधेन ज्ञास्यते इति चेत्; न अन्योऽन्याश्रयणात् । शास्त्रस्य निरस्त निखिल विशेषवस्तुबोधित्व निश्चये सति भेद वासनाया दोषत्व निश्चयो भेदवासनाया दोषत्वनिश्चये सति शास्त्रस्य निरस्त निखिलविशेष वस्तु-बोधित्व निश्चय इति ।

किञ्च यदि भेद वासना मूलत्वेन प्रत्यक्षस्य विपरीतार्थत्वं शास्त्रमपि तन्मूलत्वेन तथैवस्यात् । अथोच्येत-दोषमूलत्वेऽपि शास्त्रस्य प्रत्यक्षावगत सकल भेद निरसनज्ञान हेतुत्वेन परत्वात् तत्प्रत्यक्षस्य बाधकमिति । तन्न; दोषमूलत्वे ज्ञाते सति परत्वमकिञ्चित्करम्; रज्जु-सर्प ज्ञान निमित्तभये सतिभ्रान्तोऽयमिति परिज्ञातेन केनचित् 'नायंसर्पोभाभैपीः' इत्युक्तेऽपि भयानिवृत्तिदर्शनात् । शास्त्रस्यच दोषमूलत्वं श्रवणवेलायामेव ज्ञातम्, श्रवणावगतनिखिलभेदोपमर्दि-ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानाभ्यासरूपत्वान्मननादेः ।

अपि च, इदं शास्त्रसम्भाव्यमान दोषम्; प्रत्यक्षन्तु सम्भाव्यमानदोष मिति केनावगतंत्वया । न तावत् स्वतः सिद्धा निर्धूत निखिल विशेषानुभूति रिममर्थमवगमयति; तस्याःसर्व्वविषय विरक्तत्वात् शास्त्रपक्षपात विरहाच्च । नाप्यैन्द्रियकं प्रत्यक्षम्, दोषमूलत्वेन विपरीतार्थत्वात् । तन्मूलत्वादेव नान्यान्यपि प्रमाणानि । अतः स्वपक्षसाधन-प्रमाणानभ्युपगमात् न स्वाभिमतार्थसिद्धिः ॥ ७५ ॥

भला,-अहम् ही यदि आत्म स्वरूप हो, तो, महाभूत सकल (क्षिति, अप तेज, मरुत, व्योम) अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त (प्रकृति,) (यह सभी सविकार-क्षेत्र संज्ञाभिहित) इस पर स्वयं भगवान ही अहंकार को क्षेत्र के (जड़ के) अन्तर्भूत करके कैसे निर्देश किये ? उत्तर-कहा जा रहा है-जहाँ जहाँ पर, आत्मा का स्वरूप का उपदेश है, सो सब मौकों पर, 'अहं' रूप में ही अत्मोपदेश रहने से, और, 'अहं' रूप में ही आत्मा की स्वरूप प्रतीति के हेतु से समझना चाहिये- आत्मा का प्रकृत स्वरूप अहम् ही है, और श्री

श्री भगवान, जो, अहंकार को क्षेत्रान्तरभूत किये हैं, सो, प्रकृति परिणाम-विशेष स्वतन्त्र अहंकार। अनात्म-देह में अहम् भाव या अहम् बुद्धि उपजाता है इसी से उसको भी अहंकार कहा जाता हैं। अभूत-तद्भाव अर्थ पर 'चित्र' प्रत्यय योग से यह अहंकार शब्द निष्पन्न भया है सो जानना चाहिये। यही अहंकार, उत्कृष्ट जनों के प्रति अवज्ञा जनक-इसी का अपर नाम गर्व्व, और, शास्त्रोंमें भी भूयोभूयः इसीकी हेयता प्रतिपादित-भई है। अतएव, कस्मिन् काल में भी जिसकी वाधा नहीं होती वही अहम् बुद्धि निश्चय साक्षात् सम्बन्ध में आत्म विषयक है। और, शरीर विषयक अर्थात् स्वदेह प्रति जो अहम् बुद्धि सो अविद्यात्मक है ही है। देखिये भगवान पराशर जी जो कहे हैं-'हे कुलनन्दन, अनात्मा-में जो आत्म बुद्धिरूपा अविद्या (ताके स्वरूप सुनो)।

आत्मा, अगर, मात्र ज्ञान रूपी ही होता, तो, अनात्मा में आत्माभिमान समय शरीर में भी केवल ज्ञान रूपता ही प्रतीत-होती। ज्ञातृत्व की प्रतीति कभी न हो पाते। अतएव, ज्ञाता अहम् पदार्थ ही आत्मा,-अतिरिक्त नहीं। 'आत्म सिद्धि' में भी ऐसी ही कही गई। 'प्रत्यक्ष, उक्त न्याय या युक्ति वो शास्त्र प्रामाण्यानुसार और अविद्या सम्बन्ध वशतः ज्ञाता (आत्मा) अहम् रूप में ही प्रकाश पाते हैं (जानने योग्य है)। और भी 'देह इन्द्रिय, मन, प्राण वो बुद्धि से पृथक, अनन्यसाधन (अपर प्रकाश्य नहीं-स्वप्रकाश नित्य तथा व्यापी आत्मा प्रति देह में भिन्न और स्वभावतः सुख सम्पन्न', 'अनन्य साधन'-स्वप्रकाश, 'व्यापी'-अति सूक्ष्मता हेतु समस्त अचेतन के अभ्यन्तर स्वतः प्रविष्ट रहते हैं।

श्री शंकर मत में और भी जो कहा गया है-'समस्त भेद वस्तु-विषयक प्रत्यक्ष मात्र दोष सम्पन्न, सुतरां भ्रमाशंका पूर्ण, ताते, वह सब (अभ्रान्त) शास्त्रों करके वाधित होने योग्य'। (इसमें जिज्ञास्य) जिसके बल पर प्रत्यक्ष ज्ञान की अन्यथा सिद्धि, याने, भ्रान्तत्व सम्भावित हो रहा है सो दोष पदार्थ क्या है, सो भी कह देना चाहिये, यदि ऐसा-'अनादि भेद संस्कार ही दोष रूप' हो, (पुनः जिज्ञास्य) नयनगत तिमिरादि (रोग विः) दोष के न्याय भेद वासना भी, जो, प्रकृत वस्तु में विपरीत ज्ञान उपजाता है, सो क्या और भी कहीं देखी गई? अगर कहा जाय कि उक्त प्रकार शास्त्र विरोध से ही जान लेना है। नहीं, ऐसी न कहिये, क्योंकि, अन्योन्याश्रय दोष होगा, कारण-शास्त्र, जो, सर्व प्रकार विशेष विरहित (निर्विशेष ब्रह्म) वस्तु प्रतिपादक सो निश्चय के साथ ही भेद वासना का दोषत्व निश्चय

✓ ननु व्यावहारिक प्रमाण प्रमेय व्यवहारोऽस्माकमप्यस्त्येव। कोऽयं व्यावहारिकोनामः ? आपात प्रतीतिसिद्धो युक्तिभिर्निरूपितो न तथावस्थित इति चेन्; किं तेन प्रयोजनम् ? प्रमाणतयाप्रतिपन्नेऽपियोक्तिक बाधादेव प्रमाणकार्य्याभावत्।

अथोच्यते, शास्त्र प्रत्यक्षयोर्द्वयोरप्यविद्यामूलत्वेऽपि प्रत्यक्ष विषयस्य शास्त्रेण बाधो दृश्यते। शास्त्र विषयस्य सदद्वितीयस्य ब्रह्मणः पश्चात्तन बाधादर्शनेन निर्व्विशेषानुभूतिमात्रं ब्रह्मैव परमार्थ इति। तदयुक्तम्, अवाधितस्यापि दोष मूलस्या पारमार्थ्यं निश्चयात्। एतदुक्तम्भवति,-यथा सकलेतर-काचादिदोषरहित

हो सकता, और भेदवासना को दोपत्व निश्चय के साथ ही शास्त्र का निर्विशेष वस्तु बोधकत्व निश्चित हो सकता। (सुतरां परस्परापेक्षित होने से अन्योन्याश्रय दोष हुआ) अपि च, भेद संस्कार-जनित करके, यदि प्रत्यक्षज्ञान विपरीतार्थग्राही हो तब तो भेद संस्कार प्रसूत शास्त्र भी वैसे ही मिथ्या-या, विपरीतार्थग्राही हो सकता-(उभय में कुछ विशेषता नहीं पाई जाती) फिर कहिये-'शास्त्र दोष मूलक होते हुये भी, प्रत्यक्ष परिज्ञात सर्वविध भेद का निवारक ज्ञान समुत्पादन करता है, इसी से वह 'पर', या प्रत्यक्ष अपेक्षा बलवत्तर, तभी वह प्रत्यक्ष ज्ञान की बाधा या मिथ्यात्व को ज्ञापन करता है'। नहीं, यह गलत बात है क्योंकि-शास्त्र दोष मूलक, ऐसा जानते ही उसका परत्व-बल अकिञ्चित्कर हो जाता है। रज्जु में सर्प भ्रम से किसी के भय समय, (भ्रान्त) और किसी से 'यह सर्प नहीं, भय मत करो' ऐसा सुनते हुये भी भ्रम तथा भय नहीं जाता है। शास्त्र का भी दोष मूलत्व, श्रवण समय में ज्ञात होके, श्रवण से अवगत निखिल दोष नाशक ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान का अभ्यास रूप मननआदि से जाना जाता है।

और भी, यह शास्त्रदोषा शंका रहित, और प्रत्यक्ष प्रमाण दोष सम्भावना संकुल यह आप कैसे जान पाये ? स्वतः सिद्ध निर्विशेष अनुभूति से यह नहीं जाना जा सकता, क्योंकि, वह सर्व विषय विरहित है। निर्विषय-ऐसा वस्तु समझाना शास्त्र का काम नहीं। इन्द्रिय साध्य प्रत्यक्ष से भी सो ज्ञान नहीं हो सकता, कारण-प्रत्यक्ष मात्र ही दोष मूलक, सुतरां विपरीत अर्थग्राही। अन्यान्य प्रमाण भी जब प्रत्यक्ष सापेक्ष, तब, वह भी सब इस विषय में यथार्थ बोध नहीं करा सकते। अतएव, स्वपक्ष साधन में अनुकूल उपयुक्त प्रमाण न मानने के कारण आप के अभिमत प्रमेय भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ७५ ॥

पुरुषान्तरा-गोचर-गिरिगुहासु वसतस्तैमिरिक-जनस्याज्ञात-स्वतिमिरस्य सर्व्वस्य तिमिरदोषाविशेषेण द्विचन्द्र ज्ञानमविशिष्टंजायते, तत्र न बाधक-प्रत्ययोऽस्तीति न तन्मिथ्या न भवतीति तद्विषयभूतं चन्द्र-द्वित्वमपि मिथ्यैव,दोषोह्ययथार्थ ज्ञान हेतुः । तथा ब्रह्मज्ञानमविद्यामूलत्वेन बाधक ज्ञान रहितमपि स्वविषयेण ब्रह्मणा सहमिथ्यैवेति । भवन्ति;चात्र प्रयोगाः, विवादाध्यासितं ब्रह्म मिथ्या, अविद्यावदुत्पन्न-ज्ञानविषयत्वात् प्रपञ्चवत् । ब्रह्म मिथ्या, मिथ्या-ज्ञान विषयत्वात्, प्रपञ्चवत् । ब्रह्म मिथ्या, असत्य हेतु जन्मज्ञान विषयत्वात्, प्रपञ्चवदेव ॥ ७६ ॥

भला, हम लोगों को (श्री शंकर पक्ष वालों को) मत में भी, व्यवहारिक प्रमाण प्रमेय भाव तो स्वीकृत ही है, अर्थात्–जब तक ब्रह्मात्मैकत्व-विज्ञान न होय, तब तक प्रमाण प्रमेय प्रभृति की व्यवहारिक सत्यता–अवश्य ही स्वीकार की जाती, सुतरां प्रमाणाभाव काहें को होगा ? (इसके उत्तर में जिज्ञास्य)-यह व्यवहारिक शब्द का क्या अर्थ है? यदि कहा जाय-'जो आपात या,अविचारसह प्रतीति-सिद्ध, अथ च, युक्ति की साथ निरूपण में रूपान्तर प्राप्त होता है (सोई व्यवहारिक शब्द का अर्थ)' । सो इससे भी क्या लाभ है ? क्योंकि, जो प्रमाण रूप अवधारित होके भी युक्ति से बाधित हो सकता, सो प्रमाण किस काम का ? फिर कहिये-'शास्त्र और प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों अविद्यामूलका होते हुये भी शास्त्र से ही, प्रत्यक्ष विषय का बाधा देखी जाती, परन्तु शास्त्र प्रतिपादित सत् अद्वितीय ब्रह्म का पर भविक कोई प्रमाण में बाधा नहीं देख पड़ती । अतएव, निर्व्विशेष ब्रह्म ही प्रति परमार्थ या, सत्य वस्तु' । सो, यह भी युक्ति की बाहर वाली बात, कारण-दोष प्रसूत जो कुछ, सो बाधित न होने से भी, अपरमार्थ या असत्य करके ही निर्णीत होता है ।

अभिप्राय यह है काचादि रोग रहित (उत्तम दृष्टि सम्पन्न) व्यक्ति की अदृश्य,गिरि गुहा वासी तैमिरिक (तिमिर नामक चक्षु रोगग्रस्त) व्यक्ति स्वीय तिमिर रोग न जानते हुये भी (ज्ञान तथा अज्ञान से) तिमिर रोग का कार्य्य कारिता-शक्ति की कुछ भी विशेष नहीं होता है, सो, उसके फल से, जैसे द्विचन्द्र ज्ञान भी (एक चन्द्र ज्ञान न्याय) तुल्य रूप ही होता है । अर्थात्-सज्ञान तिमिर रोगी का और अज्ञान तिमिररोगी का द्विचन्द्र दर्शन में, नयन-रोग का कार्य्यकारि शक्ति का कोई भी तारतम्य नहीं होती । यद्यपि, उस द्विचन्द्र

न च वाच्यम्, स्वाप्नस्य हस्त्यादि ज्ञानस्यासत्यस्य परमार्थ-शुभाशुभ-प्रतिपत्तिहेतुभाववद् अविद्यामूलत्वेनासत्यस्यापि शास्त्रस्य परमार्थभूत-ब्रह्म विषय-प्रतिपत्तिहेतुभावो न विरुद्ध इति, स्वाप्नज्ञानस्यासत्यत्वाभावात्। तत्र हि विषयाणामेव मिथ्यात्वम्, तेषामेव हि बाधो दृश्यते, न ज्ञानस्य। न हि 'मया स्वप्नवेलायामनुभूतं ज्ञानमिह न विद्यते' इति कस्यचिदपि प्रत्ययो जायते। दर्शनन्तु विद्यते, अर्था न सन्तीति हि बाधक संप्रत्ययः। मायाविनो मन्त्रौषधादि प्रभवं मायामयं ज्ञानं सत्यमेव प्रीतेर्भयस्य च हेतुः; तत्रापि ज्ञानस्याबाधितत्वात्। विषयेन्द्रियादि-दोषजन्यं रज्ज्वादौ सर्पादि विज्ञानं सत्यमेव भयादि हेतुः; सत्यैवादष्टेऽपि स्वात्मनिसर्पसन्निधानात् दष्टबुद्धिः; सत्यैव शंका-विषबुद्धिः मरणहेतुभूता; वस्तुभूत एव जलादौ मुखादि प्रतिभासो वस्तुभूत मुखगत विशेष निश्चय हेतुः। एतेषां संवेदनानामुत्पत्तिमत्त्वादर्थ क्रियाकारित्वाच्च सत्यत्वमवसीयते।

हस्त्यादीनामभावेऽपि कथं तद्बुद्धयः सत्या भवन्तीति चेत्; नैतत्, बुद्धीनां सावलम्बनत्व मात्र नियमात्। अर्थस्य प्रतिभासमानत्वमेव ह्यालम्बनत्वेऽपेक्षितम्, प्रतिभासमानता चास्त्येव दोषवशात्, सतु बाधितोऽसत्य-इत्यवसीयते। अबाधिता हि बुद्धिः सत्यैवेत्युक्तम्॥ [शब्दस्फोटविचारः]-

रेखया वर्ण-प्रतिपत्तावपि ना सत्यात्, सत्य बुद्धिः रेखायाः सत्यत्वात्। ननु वर्णात्मनाप्रतिपन्ना रेखा वर्णबुद्धि हेतुः, वर्णात्मतात्वसत्या। नैवम्, वर्णात्मताया असत्याया उपायत्वायोगात्। असतो निरूपाख्यस्य ह्युपायत्वं न दृष्टमनुपपन्नञ्च।

दर्शन में कोई बाधक ज्ञान है नहीं, तथापि, तद्विषयक ज्ञान जो मिथ्या नहीं होती, सो नहीं और उस ज्ञान का विषयीभूत चन्द्रगत द्वित्व भी मिथ्या सिवाय,सत्य नहीं होता। कारण-दोष, सो स्वाभाविक ही असत्य ज्ञान पैदा करती है। तैसे ही ब्रह्मज्ञान जब अविद्यामूलक, तो, तद्विषय में बाधक ज्ञान न होने से भी, अज्ञानी के ज्ञान विषयीभूत जगत्-प्रपञ्च वत, वह ज्ञान तथा ज्ञानविषयीभूतब्रह्म दोनों मिथ्या, (इस पर दो अनुमान) ब्रह्म जो कि मिथ्या ज्ञान का विषय, अतएव, प्रपञ्च न्याय सो भी मिथ्य। १। ब्रह्म जो कि, असत्य-शास्त्र जनित ज्ञान का विषय, अतएव, प्रपञ्च प्राय वह भी मिथ्य। २।॥ ७६॥

अथ तस्यां वर्णबुद्धे रूपायत्वम् ? एवं तह्य सत्यात् सत्यबुद्धि न स्यात्, बुद्धेः सत्यत्वादेव । उपायोपेययोरैक्य प्रसंगश्च, उभयोर्व्वर्णबुद्धित्वाविशेषात् रेखाया अविद्यमान वर्णात्मनाउपायत्वे चैकस्यामेव रेखायामविद्यमान सर्व्व वर्णात्मकत्वस्य सुलभत्वादेक-रेखादर्शनात् सर्व्ववर्णप्रतिपत्तिःस्यात् ।

अथ पिण्ड विशेषे देवदत्तादि शब्द संकेतवत् चक्षुर्ग्राह्य रेखा–विशेषे श्रोत्रग्राह्य वर्ण विशेष संकेत वशाद् रेखाविशेषो वर्णविशेष बुद्धि हेतुरिति । हन्त तर्हि सत्यादेव सत्य प्रतिपत्तिः रेखायाः संकेतस्य च सत्यत्वात् । रेखा गवयादपि सत्य गवय बुद्धिः सादृश्य निबन्धना; सादृश्यञ्च सत्यमेव ।

न चैक रूपस्य शब्दस्य नादविशेषेणार्थ विशेष भेदबुद्धि हेतुत्वेऽप्यसत्यात् सत्यप्रतिपत्तिः,नाना नादाभिव्यक्तस्यैकस्यैव शब्दस्य तत्तन्नादाभिव्यंग्य स्वरूपेणार्थविशेषैः सह सम्बन्ध ग्रहणवशादर्थ भेद बुद्ध्युत्पत्ति हेतुत्वात् । शब्दस्यैक रूपत्वमपि न साधीयः, गकारादेर्व्वोधकस्यैव श्रोत्रग्राह्यत्वेन शब्दत्वात् । अतोऽसत्याच्छास्त्रात् सत्यब्रह्म विषय प्रतिपत्तिर्दुरूपपादा ।। ७७ ।।

अपि च, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता–'स्वप्न दृष्ट हस्ति प्रभृति का ज्ञान, सो स्वयं -असत्य होते हुये भी, जैसे शुभाशुभ फल का प्राप्ति सूचक होता है वैसे ही, अविद्या प्रसूत शास्त्र सत्य न होने से भी परमार्थ सत्य वस्तु विषयक सत्य ज्ञान समुत्पादन करना, सो उसके लिये विरुद्ध नहीं होगा' । क्योंकि, स्वप्न कालीन ज्ञान असत्य नहीं (सुतरां, उक्त उदाहरण ठीक नहीं) सो, हेतु यह है कि स्वप्न दृष्ट विषय ही मिथ्या, जो कि (जाग्रत में) उस सब की बाधा होती है । किन्तु ज्ञान की स्फुर्ति तब भी नष्ट नहीं होत जाते, ,हम स्वप्न में जो जाने रहे सो अब नहीं है'-ऐसी प्रतीति किसी की नहीं होती, परन्तु ज्ञान हमारा ठीक ही है, केवल स्वप्न दृष्ट विषय ही नहीं है'- ताते, दृष्ट विषयों का ही बाधक प्रतीति होती है । मायावी (ऐन्द्र जालिक) की मन्त्र औषधादि सम्पादित माया भय ज्ञान सत्य सत्य ही प्रीति तथा भयादि के कारण होता है, कारण-वहाँ भी ज्ञान की बाधा नहीं रहती । विषय में भी, इन्द्रिय-दोष से (सादृश्यादि तथा काचादि रोग वशतः) रज्जु प्रभृति में, जो सर्पादि ज्ञान हो ही , पड़ता है सो भी सत्य–भयादि उपजाता है ।

स्वयं सर्प दष्ट न होके भी, जो, केवल सर्प सान्निध्य वशतः अपने को सर्पदष्ट मानलेता है, सो भी, ज्ञान ठीक ही होता है,–मिथ्या नहीं । शंका –विष से जो मृत्यु होता है, तहाँ पर भी, मरण का हेतुभूत विष बुद्धि सत्य ही है–मिथ्या नहीं। (पक्षान्तर में) जल प्रभृति सत्य वस्तु में ही मुख का प्रतिविम्ब निपतित होके, प्रकृत मुख का वैचित्र बोधक होता है। उल्लिखित सकल ज्ञान ही उत्पत्तिशील तथा कार्य्य सम्पादक होता है, इसीसे उनके सत्यता को अवधारित किया जाता है ।

आपत्ति हो सकती है–'स्वप्न का हस्ति आदि कुछ भी, जब, रहता ही नहीं, तब, तद्विपयक बुद्धि ही कैसे सत्य–होगी' ? नहीं, ऐसी आपत्ति अयथा है । कारण–साधारणतः–बुद्धि का एक अवलम्बन मात्र होना चाहिये। (सो अवलम्बन जो, सत्य ही हो सो, ऐसा कोई नेम नहीं है)। कोई वस्तु को, ज्ञान का अवलम्बन होने में, उसकी (तात्कालिक) प्रतीति मात्र अपेक्षित-होती (किन्तु, उसकी सत्यता की अपेक्षा नहीं रहती) । यहाँ पर भी, हस्ति आदि प्रतीति तो ठीक है, केवल दोष वशत: सो वाधित होता है, किन्तु तद्विष-यक बुद्धि कभी वाधित-नहीं-होती इसीसे उसकी सत्यता पहिले ही कही गई है।

शब्द स्फोट विचार—

और, रेखावों से जो वर्ण ज्ञान होता है, सो, उसमें भी सत्य से असत्य बुद्धि प्रमाणित-नहीं-होती। क्योंकि,रेखा सत्य पदार्थ, -मिथ्या नहीं । 'भला, रेखा को वर्ण स्व-रूप माना जाता है, ताते, रेखा से वर्ण बुद्धि होती है। वास्तविक, रेखा ही तो वर्ण स्वरूप नहीं है' ।–(ऐसी शंका की जवाब) । नहीं, सो नहीं है, क्योंकि, रेखा की वर्ण रूपता, यदि सत्य न होते, तो, उससे वर्ण बुद्धि या, वर्ण बोध के उपाय रूप वही रेखायें नहीं हो सकती थीं । जिस हेतु से- असत्–स्वरूप हीन पदार्थों का कार्य्य साधनता कभी देखी नहीं गई और संगत भी नहीं । यदि कहा जाय कि रेखा में जो वर्ण बुद्धि सोई प्रकृत वर्ण का बोध कराता है । भला, ऐसा होने से, वर्ण–बुद्धि तो सत्य वस्तु, तब तो, असत्य से सत्य बुद्धि, सो, नहीं कहने की बात है । अधिकन्तु (प्रकृत वर्ण और रेखा में जो वर्ण बुद्धि, इन) दोनों के बीच में जब कुछ भी विशेपता नहीं तब तो उपाय और उपेय उभय का ऐक्य हो सकता। विशेपत:, रेखा यदि प्रकृत वर्ण स्वरूप न होके भी सत्य वर्ण स्वरूप उपाय हो, तब

नतु, न शास्त्रस्य गगनकुसुमवदसत्यत्वम्, प्रागद्वैत ज्ञानात् सद्बुद्धि बोध्यत्वात्। उत्पन्ने तत्वज्ञाने ह्यसत्यत्वं शास्त्रस्य, न तदा शास्त्रं निरस्त निखिल भेद-चिन्मात्र ब्रह्म ज्ञानोपायः। यदोपाय स्तदाऽस्त्येव शास्त्रम्, अस्तीति बुद्धेः। नैवम्; असति शास्त्रे अस्ति शास्त्र मिति बुद्धेर्मिथ्यात्वात्। ततः किम्? इदं ततः- मिथ्याभूत-शास्त्र जन्य ज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्यापि ब्रह्मणो मिथ्यत्वम्; यथा धूम बुद्ध्या गृहीत वाष्पजन्य ज्ञानस्य मिथ्यात्वेन तद्विषयस्याग्नेरपि मिथ्यात्वम्।

पश्चात्तन बाधादर्शनं चासिद्धं, शून्यमेव तत्वमिति वाक्येन तस्यापि बाध दर्शनात। तत्तु भ्रान्तिमूलमिति चेत्; एतदपि भ्रान्तिमूल मिति त्वयैवोक्तम्। पाश्चात्य बाधादर्शनन्तु तस्यैवेत्यलमप्रतिष्ठित कुतर्कपरिहसनेन ॥ ७८ ॥

तो, रेखा मात्र में, अविद्यमान समस्त वर्णात्मकता सहज ही कल्पना किया जा सकता, सुतरां कोई भी रेखा से सभी वर्ण की प्रतीति हो सकती ?

फिर कहिये-'देवदत्त आदि शब्दों को जैसे व्यक्ति विशेष पर संकेत किया जाता है, श्रोत्रग्राह्य वर्ण विशेष का भी चक्षुग्राह्य रेखा विशेष पर संकेत होता है। तभी विशेष विशेष रेखा विशेष विशेष वर्णों का ज्ञान उपजाता है'। अच्छी बात, तब तो, रेखा और वर्ण दोनों जब सत्य तब तो सत्य से ही सत्य की उत्पत्ति भी (स्वीकृत) भई। और रेखामय (चित्रित) गवय से भी जो सत्य गवय (गोसदृश) का प्रतीति होती है, सो उसका भी कारण-सादृश्य, सो सादृश्य तो सत्य ही है।

विशेषतः, एक ही रूप शब्द उच्चारण भेद से विभिन्न अर्थगत भेद बुद्धि उपजाता है, ताते हां, असत्य से सत्य बुद्धि भई, सो ऐसा भी नहीं, क्योंकि, एक ही शब्द नानाविध ध्वनि या उच्चारण अनुसार (विवृत्त) अभिव्यक्त या उच्चारित होके, सोई अभिव्यक्तरूप में अर्थात् वही उच्चारण के प्रभेदानुसार भिन्न भिन्न अर्थ के साथ सम्बन्ध लाभ करता है, और तदनुसार ही भिन्न भिन्न अर्थ प्रतीति करार्ता है। सुतरां, असत्य से सत्योत्पत्ति सिद्ध नहीं भई। विशेषतः 'ग' कार प्रभृति वर्ण अर्थ बोध के साथ जब श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होके शब्द संज्ञा लाभ करता है, तब विभिन्न वर्णमय शब्द का एक रूपता भी युक्ति युक्त नहीं हो सकता ॥ ७७ ॥

यदुक्तम् वेदान्त वाक्यानि निर्विशेष ज्ञानैकरस-वस्तुमात्रप्रतिपादनपराणि, 'सदेवसौम्येदमग्र आसीत्' इत्येवमादीनीति;-तदयुक्तम् एक विज्ञानेन सर्व्वं विज्ञान प्रतिज्ञोपपादन मुखेन सच्छब्द वाच्यस्य परस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं, जगन्निमित्तत्वं, सर्व्वज्ञता, सर्व्वशक्तियोग: सत्य संकल्पत्वं, सर्व्वान्तरत्वं सर्व्वाधारता, सर्व्वनियमनमित्याद्यनेक-कल्याण-गुण-विशिष्टतां कृत्स्नस्य जगतस्तदात्मकताञ्च प्रतिपाद्य; एवम्भूतब्रह्मात्मक: 'त्वम् असि' इति श्वेतकेतुं प्रत्युपदेशाय प्रवृत्तत्वात् प्रकरणस्य । प्रपञ्चितश्चायमर्थो वेदार्थ संग्रहे अत्राप्यारम्भणाधिकरणे ब्र० सू० २-१-१४-निपुणतरमुपपादयिष्याम: ।

प्रश्न यह है कि, अद्वैत ज्ञानोदय के पहिले शास्त्र जब सत्य ही प्रतीति होती है तब तो वह शास्त्र गगनकुसुमवत् असत्य नहीं हो सकता । तत्वज्ञान होने से ही शास्त्र की असत्यता होती है। उस समय शास्त्र तो, सर्वविध भेदरहित चिन्मय ब्रह्म विषय में ज्ञानोत्पादक साधन या सहाय नहीं होता । परन्तु, जिस समय ब्रह्मज्ञान का साधन होता है, उस समय शास्त्र सत्य ही है क्योंकि तब तक उसकी सत्ता या अस्तित्व व्याहत नहीं होता'। नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, (प्रकृत पक्ष में) शास्त्र यदि मिथ्या ही हो, शास्त्र सत्-इस प्रकार शास्त्रों में जो सत्यता बुद्धि सो मिथ्या हो जायगी ?'सो उससे क्या होता है' ? उत्तर-उससे यह भया कि जब शास्त्र मिथ्या, तब, तज्जनित-ज्ञान भी मिथ्या, सुतरां, उस ज्ञान का विषयीभूत ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध भया । उदाहरण अगर कोई वाष्प को धूम मानकर अग्नि की आशा करै, तब उपायीभूत धूम और धूम ज्ञान की असत्यता निबन्धन जैसे तत् साधित अग्नि का भी मिथ्यात्व सिद्ध होता है (वैसे ही शास्त्र और तज्जनित ज्ञान की असत्यता से तद्विषयीभूत ब्रह्म का भी असत्यता सिद्ध होता है) ।

और जो, परवर्ती कोई ज्ञान से बाधित नहीं कहि कर, शास्त्र प्रतिपादित ब्रह्म ज्ञान को सत्य कहा गया है सो भी प्रमाण सिद्ध नहीं है । कारण-'शून्य ही मात्र तत्व' इस वाक्य से ही उसकी बाधा देखी जा रही है । यदि कहिये कि यह बात भ्रान्ति मूलक, सो आप तो शास्त्र को भ्रान्ति मूलक कहे ही हैं । अधिकन्तु, शून्य वादी की ही वाक्य का परवर्ती कोई प्रमाण में बाधा नहीं दिखती (अतएव उसीकी प्रामाण्य ठीक है) खैर, अब अव्यवस्थित कुतर्क परिहास में क्या प्रयोजन ? ॥ ७८ ॥

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'-मुण्डक-१-१-५ इत्यत्रापि प्राकृतान् हेयगुणान् प्रतिषिद्ध, नित्यत्व-विभुत्व-सूक्ष्मत्व-सर्व्वगतत्वाव्ययत्व-भूतयोनित्व-सर्व्वज्ञत्वादि,-कल्याण-गुणगणयोगः परस्य ब्रह्मणः प्रतिपादितः ।

सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म'-तैत्ति०-२-१-१ । इति अत्रापि सामानाधिकरण्यस्यानेक विशेषणविशिष्टैकार्थाभिधान-व्युत्पत्त्या न निर्विशेष वस्तु सिद्धिः । प्रवृत्ति निमित्तभेदे नैकार्थ वृत्तित्वं सामानाधिकरण्यम् । तत्र सत्यज्ञानादि पद मुख्यार्थैः गुणैस्तत्तद्गुणविरोध्याकार-प्रत्यनीकाकारैर्व्वा एकस्मिन्नेवार्थे पदानां प्रवृत्तौनिमित्तभेदोऽवश्याश्रयणीयः । इयांस्तु विशेषः एकस्मिन् पक्षे पदानां मुख्यार्थता, अपरस्मिंश्च तेषां लक्षणा । न चा ज्ञानादीनां प्रत्यनीकता वस्तु स्वरूपमेव, एकेनैव पदेन स्वरूपं प्रतिपन्नमिति पदान्तर-प्रयोग-वैयर्थ्यात् । तथासति, सामानाधिकरण्या सिद्धिश्च, एकस्मिन् वस्तुनि वर्त्तमानानां पदानां निमित्तभेदानाश्रयणात् । न चैकस्यैवार्थस्य विशेषण भेदेन विशिष्टताभेदादनेकर्थत्वं पदानां सामानाधिकरण्य विरोधि, एकस्यैव वस्तुनोऽनेक विशेषणविशिष्टता-प्रतिपादनपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य । भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्य मिति हि शाब्दिकाः ॥ ७६ ॥

और जो, 'सदेव सोम्य इदम् अग्रे आसीत्' इत्यादि वाक्यों को मात्र निर्विशेष, ज्ञानैक रस-वस्तु बोधक करके निर्देश किया जा चुका, सो भी अयुक्ति के साथ है । कारण-प्रथमतः एक-विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा करके, तत् प्रतिपादन के उद्देश्य से सत् पद वाच्य परब्रह्म के जगत्-उपादानता, निमित्त कारणता सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सत्य संकल्पता, सर्वान्तर्यामिता सर्वाश्रयता और सर्व संयमन प्रभृति बहुविध कल्याणमय गुण तथा समस्त जगत् की ब्रह्मात्मकता प्रतिपादन करके, ('हे श्वेतकेतु) पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्म और तुम एकअभिन्न', यह तत्वोपदेश श्वेत केतु को देने के लिये यह प्रकरण आरब्ध भया, 'वेदार्थ संग्रह' में यह विषय को विषद् रूप वर्णन किये गये, और इसमें भी 'आरम्भणाधिकरण' में उत्तम रूप से प्रतिपादन किया जायगा.

'अनन्तर पराविद्या कही जा रही है'-जिससे वह अक्षरब्रह्म लाभ की जाती है'।

यदुक्तम्, 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यत्र अद्वितीय' पदं गुणतोऽपि सद्वितीयतां न सहते; अतः सर्व्वशाखाप्रत्यय न्यायेन कारणवाक्यानामद्वितीय वस्तु प्रतिपादन

इस 'मुण्डक' श्रुति में भी परब्रह्म सम्बन्ध में प्रकृति सम्भूत हेय गुणों का निषेध के साथ नित्यत्व, विभूत्व, सूक्ष्मत्व, सर्वगतत्व, अव्ययत्व, सर्वभूत,कारणत्व तथा सर्वज्ञत्व प्रभृति शुभ गुणों का सम्बन्ध के प्रतिपादित भया है। 'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म', इन तैत्तिरीय श्रुतियों में भी ब्रह्म के साथ सत्यादि पदोंका सामानाधिकरण्य(अभेद में विशेषण विशेष्यभाव) रहने के कारण, ब्रह्म की निर्विशेषत्व सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि, अनेक गुणयुक्त एक वस्तु प्रतिपादन करना ही सामानाधिकरण्य का नियम, (केवल एक वस्तु प्रतिपादन ही नहीं)। विभिन्नार्थपर प्रयोज्य शब्दों का जो एकार्थ परत्व,उसी की नाम'सामानाधिकरणता'। सुतरां, सत्य ज्ञानादि शब्दों का जो मुख्य अर्थ सो, चाहे सत्यत्वादि गुणरूप ही हो या, उन्हीं गुणों का विरोधी गुण के प्रतिरोधक रूप ही हो, कोई एक ही अर्थ समझाने में सो सब पदों का प्रयोग में भिन्न भिन्न निमित्त निश्चय स्वीकार करना पड़ेगा (नहीं तो विभिन्न पदों ने अपर एक अर्थ को अनुगामी कैसे होंगे ?) हाँ, विशेष इतना ही है कि, एक पक्ष में (सत्यत्वादि गुण में) पदों का मुख्यार्थ रक्षित होता है, और अपर पक्ष में लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। यह भी कहा नहीं जा सकता है कि, सत्यज्ञानादि पदों में जो, अज्ञानादि की विरोधिता अर्थ जनाता है, सो भी वही ब्रह्म का स्वरूप-अतिरिक्त नहीं। तब तो, एक ही पद से, जब ब्रह्म स्वरूप प्रतीति सिद्ध हो सकता, तो फिर अपर पदों का प्रयोग व्यर्थ ही हो पड़ा। तब तो एक ही वस्तु प्रतिपादन में, भिन्न भिन्न पदों का पृथक पृथक निमित्त स्वीकार न करने से इन पदों का सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं हो सकता। (क्योंकि सामानाधिकरण्य में निमित्त भेद का आवश्यक है)। विशेषण के भेद से एक ही वस्तु का गुणगत थोड़ा बहुत भेद होता ही है। पद को ऐसा भेद या अनेकार्थत्व जो, सामानाधिकरण्य-विरोधी सो नहीं कह सकते। कारण,-एक ही वस्तु को अनेक विशेषण योग से तादृश वैशिष्ट्य या प्रभेद प्रतिपादन के उद्देश्य पर ही सामानाधिकरण्य का व्यवहार होता है। इन सब शब्दों की प्रवृत्ति या प्रयोग का निमित्त एक ही नहीं इन शब्दों का, जो, कोई एक ही अर्थ में प्रयोग शब्दवित् गण उसीको सामानाधिकरण्य' कहा करते हैं ॥ ७९ ॥

रणतयोपलक्षितस्य तस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणोलक्षणमिद-
ह्म' इति। अतोहि लिलक्षयिषितं ब्रह्म निर्गुणमेव;
इत्यादिभिर्व्विरोधश्चेति। तदनुपपन्नम्, जगदुपादा-
ष्ठान्तर निवारणेन विचित्रशक्ति योग-प्रतिपादन-
विचित्रशक्ति योगमेवावगमयति -'तदैक्षत बहुस्यां,
जत' इत्यादि। अविशेषेण 'अद्वितीयम्', इत्युक्ते नि-
यते? इति चेत् सिसृक्षोर्ब्रह्मण उपादान कारणत्वं
व' इति प्रतिपादितम्। कार्य्योत्पत्तिस्वाभाव्येन बुद्धि-
। 'अद्वितीय'-पदेन निषिध्यत इत्यवगम्यते। सर्व्वं
धयिषिता नित्यत्वादयश्च निषिद्धाः स्युः। सर्व्वं
विपरीतफलः सर्व्वशाखासु कारणान्वयिनां सर्व्व-
र हेतुत्वात्। अतः कारण-वाक्यस्वभावादपि 'सत्यं
वशेषमेव प्रतिपाद्यत इति विज्ञायते॥ ८०॥

र भी जो कहा गया है-'एक मेवाद्वितीयम्',-श्रुतिस्थित
के कारण भी, ब्रह्म की सद्वितीयता या भेद को सहन
र गुण परस्पर अभिन्न ऐसा कहने से ही उस श्रुति की ताद
जिन श्रुतियों से ब्रह्म को जगत् कारण कहा गया है,
नुसार अद्वितीय ब्रह्म प्रतिपादन ही में उन सब श्रुतियों
कारण-रूप में उल्लिखित सोई अद्वितीय ब्रह्म को ऐसा
तथा अनन्त रूपी'। सतरां, इस प्रकार लक्षण-लक्षित
ण हो नहीं सकते, न चेत् 'निर्गुण और निरञ्जन'-इत्यादि
पूर्व श्रुतियों के विरोध उपस्थित होता है'। नहीं, यह बात
तीयत्व बोधक श्रुति का आशय यह है कि जगत्-उपादान
क है कि उनके काय में कोई दूसरा परिचालक या सहा-
'आप तेज सृष्टि किये है'-इत्यादि श्रुति भी ब्रह्म में वैसी

न च निर्गुण वाक्यविरोधः, प्राकृत-हेयगुण विषयत्वात् तेषां 'निर्गुणं,' 'निरञ्जनं' निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्'इत्यादीनाम्। ज्ञान मात्र स्वरूप-वादिन्योऽपि श्रुतयो ब्रह्मणो ज्ञान स्वरूपतामभिदधति;न तावता निर्विशेष ज्ञान मात्रमेव तत्वम् ज्ञातुरेव ज्ञान स्वरूपत्वात्। ज्ञानस्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणि द्युमणिप्रदी-पादिवद् युक्त मेवेत्युक्तम्।

ज्ञातृत्वमेव हि सर्व्वाः-श्रुतयो वदन्ति-'यः सर्व्वज्ञःसर्व्ववित्' -मुण्ड-१-१-६

विचित्र शक्ति को सम्बन्ध प्रतिपादन कर रही है।

जिज्ञासा हो सकती-'साधारण भाव से 'अद्वितीय' कहने ही में निमित्तान्तर का निषेध अर्थात्-स्वकार्य साधन में दूसरी सहायता की अपेक्षा ब्रह्म की नहीं है, सो कैसे समझा जाय'' ? सो इसका उत्तर-'हे सोम्य यह जगत् उत्पत्ति का पूर्व में एक मात्र सत स्वरूप ही रहा'-यह श्रुति प्रथमतः जगत् सर्जनेच्छु ब्रह्म की उपादान कारणता प्रतिपादन-की है। वाद को, जब शका भई कि कार्य मात्र का जब, उपादान अतिरिक्त निमित्त कारण भी देखा जाता तब तो, इस, जगत् निर्माण कार्य में भी ब्रह्म भिन्न, कारणान्तर रह सकता है, 'अद्वि-तीय' पद से, लोक बुद्धिस्थ सोई शंका की निवृत्ति भली भाँति समझी जा रही है। 'अद्वि-तीय' पद से सर्व धर्म का प्रतिषेध स्वीकार में (आप के मत में भी) ब्रह्म के नित्यत्वादि जिन धर्मों का प्रतिपादन आवश्यक, फलतः वह भी सब श्रुति-सिद्ध हो सकता ? और, 'सर्व शाखा प्रत्यय' जो नियम सो भी आप ही के मत का विपरीत फल प्रदायक हो रहा है। कारण-अपरापर वेद शखाओं में जगत्-कारण के सम्बन्ध से सर्वज्ञत्व प्रभृति जो जो गुण नियमित सम्बद्ध करके अभिहित हुए हैं, उन मौकों पर, न कहे हुये होते भी 'सर्वशाखा प्रत्यय' नियम के ही बल पर जगत् -कारण में सो सब गुणों का उपसंहार या संग्रह करना चाहिये। अतएव कारण बोधक वाक्य का साधारण नियमानुसार भी (जिन वाक्यों में ब्रह्म-कारणत्व का निर्देश है, उनमें सर्वत्र ही सर्वज्ञत्व, सर्व्वशक्तित्व आदि ब्रह्म के गुणों का उल्लेख है, वैसा गुण निर्देश करना ही उन वाक्यों का स्वभाव, तदनुसार) जाना जाता है 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म'-इस वाक्य में सगुण ब्रह्म ही प्रतिपादित भये हैं (निर्गुण निस्प्र-योजन) ॥ ८० ॥

'तदैक्षत', 'सेयं देवतैक्षत'-छान्दो ६ ३-२। 'स ऐक्षत लोकान् नु सृजा इति'-ऐत-१-१। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान-कठो-२-५-१३। 'ज्ञा ज्ञौ द्वावजावीशनीशौ,' श्वेताश्व-१-६।

'त्वमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तंदेवतानां परमञ्च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्तात्, विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ श्वेता ३-७।

'न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते. न तत् समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'॥ श्वेता ६-८।

'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासःसत्य-कामः सत्य संकल्पः' छान्दोः-८-१-५। इत्याद्याः श्रुतयो ज्ञातृत्वप्रमुखान् कल्याण गुणान् ज्ञानस्वरूपस्यैव ब्रह्मणः स्वाभाविकान् वदन्ति; समस्त हेयगुणविरहित ताञ्च॥ ८१॥

अपि च, (इस प्रकार व्याख्या से) ब्रह्म का निर्गुणत्व बोधक प्रकृत वाक्यों से भ कोई विरोध नहीं होता, कारण (आप , निर्गुण, निरञ्जन निष्कल निष्क्रिय तथा शान्त इत्यादि श्रुतियों से (उनका। आप को तुच्छ प्राकृत गुणों का ही निषेध होता है (न कि गुण मात्र का)। और, जो सब श्रुतियों में केवल ज्ञान स्वरूप का कथन है, सो श्रुतियाँ ब्रह्म को ज्ञानमय-स्वरूप मात्र ही का प्रकाशक है, उनके माने यह नहीं कि मात्र निर्विशेष ही ब्रह्मतत्त्व। क्योंकि, (सविशेष , ज्ञाता ही को ज्ञान-स्वरूप कहना चाहिये। और, मणि द्युमणि तथा दीपादि पदार्थों जैसे स्वयम् प्रकाशमय होके, प्रकाश गुण विशिष्ट भ। होता है, उसी तरह, आप भी स्वयं ज्ञानस्वरूप होते हुये भी, ज्ञानगुण का आश्रय अर्थात् ज्ञाता हो सकते हैं। युक्ति के साथ यह बात पहिले ही कहि गई है। श्रुतियाँ भी ज्ञातृत्व ही को प्रतिपादन कर रहे हैं, यथा—

'जो सर्वज्ञ और सर्ववित', 'आप आलोचना इच्छा किये रहे' 'सो यह देवता (प्रकाशमान ब्रह्म) आलोचना किये थे', 'लोक समूह सृष्टि करेंगे-ऐसी चिन्ता आप किये'। 'आप नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन और अनेकों में एक रूप रहके जीवों की कामनायें

निर्गुण वाक्यानां सगुण वाक्यानाञ्च विषयम् 'अपहत पाप्मेत्याद्यपिपास' इत्यन्तेन हेयगुणान् प्रतिसिध्य 'सत्यकामः, सत्य संकल्पः इति ब्रह्मणः कल्याण-गुणान् विदधतीयं श्रुतिरेव विविनक्तीति सगुण-निर्गुण वाक्ययोर्व्विरोधाभावा-दन्यतरस्य मिथ्याविषयताश्रयणमपि ना शंकनीयम्। 'भीषास्माद्वातः पवते'–तैत्ति-आनन्द–८-१। इत्यादि ब्रह्म गुणानारभ्य, 'ते ये शतम्' इत्यनुक्रमेण तैत्रज्ञानन्दा-तिशयमुक्त्वा 'यतो वाचोनिवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दम्ब्रह्मणो विद्वान'–तैत्ति–आनन्द–९-१। इति ब्रह्मणः कल्याणगुणानन्त्य मत्यादरेण वदतीयं श्रुतिः।

'सोऽश्नुते सर्व्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'-तैत्तिः-आनन्द–१-२। इति ब्रह्मवेदनफल मवगमयद्वाक्यं परस्य विपश्चितो ब्रह्मणो गुणानन्त्यं ब्रवीति। विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्व्वान् कामान् अश्नुते,काम्यन्त इति कामाः कल्याण गुणाः ब्रह्मणा सह तद्गुणान् सर्व्वान् अश्नुत इत्यर्थः। दहरविद्यायाम् 'तस्मिन् यदन्त-स्तदन्वेष्टव्यम्-छान्दो–८–१–१। इतिवद् गुणप्राधान्यं वक्तुं सह–शब्दः। फलोपा-सनयोः प्रकारैक्यं, 'यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति'-छान्दो–३–१४–१। इति श्रुत्यैव सिद्धन्।

'यस्यामतं तस्य मतम्; अविज्ञातं विजानताम्'-केन-२।३। इति ब्रह्मणो ज्ञाना-विषयत्वमुक्तमिति चेत्; 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'–तैत्ति-आनन्द-१-१। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'–मुण्डक–३–२–६। इति ज्ञानान्मोक्षोपदेशो न स्यात्।

सम्पादन करते रहते हैं'। 'उभय ही अज, एकज्ञ, अपर अज्ञ, एक ईश्वर, दूसरा अनीश्वर'। 'ईश्वर एक भी सर्वातिशयीमहेश्वर, देवतावों में परम देवतारूप, पतियों के भी पति, और परम का भी परम, सो भुवनेश्वर स्तवनीय देव आराधन योग्य'। 'वह (आप) देहेन्द्रिय वर्जित, जिनका सम, या अधिक कुछ भी नहीं दिखता, आपके अनेक प्रकार महाशक्ति और सहज ज्ञान बल तथा क्रिया सुनी जाती है'।

'यह आत्मा पाप विरहित, जरा, मृत्यु, शोक तथा क्षुत् पिपासा शून्य और आपकी कामना तथा चिन्ता दोनों सत्य'। इत्यादि श्रुतियों ने ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही के ज्ञातृत्वादिक स्वभाव सिद्ध कल्याणमय गुणों का सहज सम्बन्ध तथा हेय गुणों की हानि निर्देश कर रही है॥ ८१॥

'असन्नेव सभवति, असद् ब्रह्मे ति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मे ति चेद्वेद सन्तमेनं ततोविदुः ॥' तैत्ति-आनन्द ६-१ ।

इति ब्रह्म विषय-ज्ञानासद्भाव-सद्भावाभ्यामात्मनाशमात्मसत्ताञ्च वदति अतो ब्रह्म विषय-वेदनमेवापवर्गाय सर्व्वाः श्रुतयो विदधति । ज्ञानञ्चोपासनात्मकम् उपास्यञ्च ब्रह्म सगुणमित्युक्तम् । 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसासह' इति ब्रह्मणोऽनन्तस्यापरिमितगुणस्य वाङ्मनसयोरेतावदिति परिच्छेदायोग्यत्व श्रवणेन ब्रह्म 'एतावत्' इति ब्रह्मपरिच्छेदज्ञानवतां ब्रह्माविज्ञातममतमित्युक्तम्, अपरिच्छिन्नत्वाद् ब्रह्मणः । अन्यथा 'यस्यामतं तस्यमतम् विज्ञातमविजानताम्' इति ब्रह्मणो मतत्व विज्ञातत्ववचनं तत्रैव विरुध्यते ॥ ८२ ॥

स्वयं श्रुति ही जब 'अपहत पाप्मा, से लेकर 'अपिपासा' पर्यन्त वाक्यों से ब्रह्म को हेय गुण राशि का प्रत्याख्यान करके 'सत्य काम, सत्यसंकल्प' वाक्य में पुनश्च सोई ब्रह्म को कल्याणमय गुण समूह का विधान कर रहे हैं, तब तो समझना चाहिये कि, स्वयं श्रुति हो सगुण और निर्गुण वोधक वाक्यों के विषय या अधिकार विभिन्न कर दे रहे हैं, अर्थात् निर्गुण वाक्यों से हेय गुणों का निषेध और सगुण वाक्यों से लोक हितकार उत्कृष्ट गुणों का निर्देश कर रहे हैं । अतएव सगुण और निर्गुण वाक्यों का प्रतिपाद्य विषय ही जब एक नहीं भिन्न भिन्न, तब तो, दोनों के बीच में कुछ भी विरोध नहीं आ सकती । और विरोध न रहने से, दोनोंमें से,कोई वाक्य का प्रतिपाद्य विषय में मिथ्यात्व-शंका भी नहीं की जा सकती, तैत्तिरीय उपनिषद में 'इन्हीं के भय से वायु प्रवाहित होता है'-इत्यादि वाक्यों से प्रथमतः ब्रह्म के गुणों का उल्लेख करके-'सोई जो शतगुण आनन्द' इत्यादि वाक्यों से वे ब्रह्म संज्ञक जीव के समधिक आनन्द की (बात) कह के, अवशेष 'वाक्य जिनको न पाकर मन के साथ फिरिआते'-अर्थात् जो मन वाणी के विषय नहीं है 'ब्रह्म के सोई आनन्दाभिज्ञ व्यक्ति (किसी से डरते नहीं',) इत्यादि वाक्य से स्वयं श्रुति ही यत्न के साथ ब्रह्म के अनन्त कल्याण गुणों की बात कह रहे हैं-'वह ब्रह्मज्ञ पुरुष विशेषज्ञ ब्रह्म के साथ समस्त काम्यफल को भोगते हैं', ब्रह्म ज्ञान का फल वोधक यह श्रुति वाक्य भी परब्रह्म के अनन्त गुण सम्बन्ध ही ज्ञापन कर रहे हैं । 'विपश्चित् ब्रह्म के साथ सर्वकाम को भोगते हैं'-अर्थात्'

यत्तु,'न दृष्टेर्द्रष्टारम्,-न मतेर्मन्तारम्'-बृहदा ५-४-२। इति श्रुतिर्दृष्टेर्मतेर्व्यतिरिक्तं द्रष्टारंमन्तारं च प्रतिषेधतीति;तदागन्तुक चैतन्यगुण योगितया ज्ञातुरज्ञानस्वरूपतां कुतर्कसिद्धांमत्वा, न तथात्मानं पश्येः न मन्वीथाः; अपितु द्रष्टारं मन्तारमप्यात्मानं दृष्टि सति रूपमेव पश्येरित्यभिदधातीति परिहृतम्। अथवा दृष्टे-

---

काम-जो कामना किये जाती-अभीष्ट, कल्याणमय गुण समूह, उपासक ब्रह्म के साथ तदीय उस प्रकार गुण समूह को भोग करते हैं। 'उनके भीतर जो विराज रहे हैं। तिनको ढूँढ़ते रहना। यह 'दहर विद्या'-प्रकरण में जैसे एक मात्र गुण ही का प्राधान्य कहा गया है, वैसे यहाँ पर भी गुणप्राधान्य-सूचना के लिये ही 'सह' शब्द का प्रयोग है। और, उपासना तथा उसका फल भी जो, एक ही है सो इसकी प्रमाण रूपा यह श्रुति-'पुरुष इहकाल में जैसे संकल्प या भावना। सम्पन्न होते हैं, प्रयाण के बाद में भी वैसे ही होते हैं'।

यदि कहिये-'जो जानते हैं कि ब्रह्म अमत अर्थात् चिन्ता के अविषय, सो कुछ जानते हैं, जिन्हों ने विशेष रूप जानते हैं, तिन्हों ने उनको अविज्ञात करके जानते हैं'-इस श्रुति में तो ब्रह्म को अज्ञेय ही कहा गया ? नहीं, ऐसा होने से, 'ब्रह्मवित् पुरुष परमात्मा को पाते हैं, ब्रह्मज्ञ ब्रह्म ही होते हैं'-इस श्रुति में जो ब्रह्म-ज्ञान जनित मोक्ष का उपदेश सो असंगत हो जायगा। पक्षान्तर पर, 'यदि कोई ब्रह्म को असत् रूप माने तो, सो स्वयं असत् हो जाता है, और सत् रूप जानने वाले को सत् करके ही जानना चाहिये-इस श्रुति में, ब्रह्म ज्ञान के अभाव में आत्म विनाश तथा ब्रह्म ज्ञान से आत्म सद्भाव कहा गया है। इसी कारण से श्रुतियों ने मात्र ज्ञान ही को मोक्ष-साधन कहे हैं। उक्त ब्रह्म ज्ञान भी, जो, उपासनात्मक और सगुण ब्रह्म ही, जो, उपास्य सो पहिले ही कहा गया है। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते'-इस श्रुति से जाना जाता है कि, वाक्य तथा मन अपरिमित गुण गण सम्पन्न अनन्त ब्रह्म को 'एतावत्'- इतना ही मात्र करके निरूपण नहीं कर सकता सुतरां जिन्हों ने ब्रह्म को गुण तथा परिमाण से परिच्छिन्न-(एतावत्) करके जानते हैं, तिनके लिये ही ब्रह्म को अविज्ञात कहा गया है। क्योंकि, ब्रह्म सहज ही अपरिच्छिन्न-सर्व्व प्रकार परिच्छेद रहित-अनन्त इस प्रकार व्याख्या न करने से-'वह जिसको अमत वस्तुतः उसी को विज्ञात'-इत्यादि श्रुतियों में जो, ब्रह्म को 'मत' तथा विज्ञात कहा गया है सो, उससे विरोध होगा ॥८२॥

जीवात्मानं प्रतिसिद्ध्य सर्व्वभूतान्तरात्मानम् परमात्मान
यार्थः,अन्यथा'विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्'बृहदा-४-४-१४।
विरोधश्च।
ः'-तैत्ति-भृगु-६-१ । इत्यानन्द मात्रमेव ब्रह्म स्वरूपं प्रतीयते
ानाश्रयस्य ब्रह्मणो ज्ञानं स्वरूप मिति वदतीति परिहृतम्। ज्ञान-
इत्युच्यते। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'-बृहदा-५-६-२८। इत्यान-
ब्रह्मे त्यर्थः। अतएव भवतामेकरसता। अस्य ज्ञान स्वरूपस्यैव
ात समधिगतमित्युक्तम्। तद्वदेव 'स एको ब्रह्मण आनन्दः'-तैत्ति
ानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' तैत्ति-आनन्द-४-१। इत्यादि व्यतिरेक
मात्रं ब्रह्म; अपित्वानन्दि। ज्ञातृत्वमेव ह्यानन्दित्वम्।
द्वैत मिवभवति' बृहदा-४-४-१४ । 'नेहनानास्ति किञ्चन्
नोति, य इह नानेवपश्यति'-बृहदा-६-४-१६ यत्र तस्य सर्व्वमा-
नकं पश्येत्'-बृहदा-४-५-१४। इति भेदनिषेधो बहुधादृश्यत
जगतो ब्रह्मकार्य्यतया तदन्तर्य्यामिकतया च तदात्मकत्वेनैक्यात्,
त्वं प्रतिसिध्यते। न पुनः 'बहुस्यां प्रजायेय इति बहु भवन
णो नानात्वं श्रुति सिद्धं प्रति सिध्यत इतिपरिहृतम् नानात्व-
थं विषयेति चेत्; न प्रत्यक्षादि सकल प्रमाणानवगतं नानात्वं
तिपाद्य तदेव बाध्यत इत्युपहास्यमिदम्॥ ८३॥

'दृष्टि-अनुभूति के साक्षी और मति के मन्ता-प्रकाशक को न जानने
- में अनुभूति तथा मनन के अतिरिक्त द्रष्टा और मन्ता के अस्तित्व
ो उसका अभिप्राय यह है कुतार्किक कहते हैं कि आत्मा के स्वतः
विशेष विशेष इन्द्रिय व्यापार से आत्मा में चैतन्य उत्पन्न होता है,
त्व व्यवहार होता है वस्तुतः आत्मा ज्ञाता होते हुये अचेतन है।
विश्वासवान होकर, आत्मा को अज्ञान रूपी मान कर, उसी भाव से
नहीं करना चाहिये, परन्तु, आत्मा स्वयं 'द्रष्टा' मन्ता' होते हुये

भी,'दृष्टि' 'मति' रूप अनुभव के योग्य। उस श्रुति से, यही अभिप्राय को समझना चाहिये सुतरां इसी तरह पूर्वोक्त विरोध का भी परिहार हो सकता। अथवा, 'दृष्टि का द्रष्टा तथा मति का मन्ता जीवात्मा को त्यागिकर सर्वभूतों का अन्तरात्मा परमात्मा की उपासना करते रहो',-ऐसा ही, न दृष्टेर्द्रष्टारं इस श्रुति का वाक्यार्थ जानना चाहिये', नहीं तो, 'विज्ञाता को फिर किस से जानोगे' ? इसमें जो, आत्मा को विज्ञाता कहा गया है सो विरुद्ध हो जायगा।

और, 'आनन्दो ब्रह्म' इस श्रुति अनुसार आनन्द ही ब्रह्म के मात्र स्वरूप सो प्रतीति हो रही है-यह जो आपत्ति आई थी, सो भी, 'ब्रह्म स्वयं ज्ञानाश्रय होते हुये भी, श्रुति उनको ज्ञान स्वरूप करके निर्देश किये हैं', इत्यादि वाक्यों से पहिले ही खंडित हो चुका। क्योंकि, एक ज्ञान ही अनुकूल भाव में आनन्द नाम से अभिहित होते हैं, वस्तुतः ज्ञान और आनन्द दो नहीं। 'विज्ञान आनन्द ब्रह्म', -अर्थ यह है कि आनन्द स्वरूप जो विज्ञान वही ब्रह्म। सो इसी हेतु, आप सब के (शंकर) 'एकरसता' शब्द संगत हो सकते। शतशः श्रुति से जाना जा सकता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञाता भी हैं। यह भी बात कही जा चुकी है। ऐसे ही 'वही ब्रह्म को एक आनन्द'। 'जा ह्म के आनन्द को जानता है' इत्यादिकों में, ब्रह्मानन्द का व्यतिरेक निर्देश से जाना जाता है कि ब्रह्म केवल आनन्द स्व-रूप ही नहीं, परन्तु आनन्दवान भी हैं। यह जो आनन्द और ज्ञातृत्व सो एक ही पदार्थ दो नहीं।

और, 'जब द्वैत ऐसा होता है'। 'जगत् में नाना करके कुछ भी नहीं है' 'जो नाना देखता है सो मृत्यु के बाद फिर मृत्यु को पाता है'। 'दृश्यमान सभी जब आत्म स्वरूप हो जाता है, तब, किससे किसको देखा जायगा'। इन श्रुतियों में जो, वारम्बार भेद प्रतिषेध देखा जाता है, सो उसका तात्पर्य यह है कि समस्त जगत् ही ब्रह्म से समुत्पन्न, तथा अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म ही इसके अभ्यन्तर अवस्थित, सुतरां ब्रह्म और जगत् में जो एकता उस एकत्व बुद्धि के विरोधी भेद का प्रत्याख्यान मात्र ही उस श्रुतियाँ कर रहे हैं। किन्तु, 'हम ब्रह्म, वहु होंगे जन्मेंगे' इस श्रुति प्रतिपादित जो ब्रह्म के इच्छा कृत नाना-त्व, उसका प्रत्याख्यान नहीं। इसीसे ही वह पूर्वोक्त आपत्ति भी परिहृत या मीमांसित

दूषत_ 'यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयम्भवति' तैत्त० आन० ७-२। इति ब्रह्मणि नानात्वं पश्यतो भयप्राप्तिरिति यदुक्तम्; तदसत्; 'सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'-छान्दो-३-१४-१। इति तन्नानात्वानुसन्धानस्य शान्ति हेतुत्वोपदेशात्। तथाहि, सर्व्वस्य जगतस्तदुत्पत्ति-स्थितिलय कर्म्म तया तदात्मकत्वानुसन्धानेनात्र शान्ति विधीयते। अतो यथावस्थितदेव-तिर्य्यङ्_ मनुष्य-स्थावरादि भेद भिन्नं जगद् ब्रह्मात्मकमित्यनुसन्धानस्य शान्ति हेतुतया अभयप्राप्ति हेतुत्वेन न भय हेतुत्व प्रसंगः। एवं तर्हि, 'अथ तस्य भयं भवति' इति किमुच्यते? इदमुच्यते यद् ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतोभवति'-तैत्ति, आन-७-२। इत्यभय प्राप्ति हेतुत्वेन ब्रह्मणि या प्रतिष्ठाभिहिता, तस्याविच्छेदे भयं भवतीति। यथोक्तं महर्षिभिः-

यन्मुहूर्तं क्षणम्वापि वासुदेवो न चिन्त्यते।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिःसा च विक्रिया॥ गरुड़ पु० २३४-१३

इत्यादि। ब्रह्मणिप्रतिष्ठाया अन्तरमवकाशो विच्छेद एव॥ यदुक्तम् 'न स्थानतोपि', ब्र० सू० ३-२-११। इति सर्व्व विशेष रहितं ब्रह्मेति च वक्ष्यतीति; तन्न, सविशेषं ब्रह्मेत्येवहि तत्र वक्ष्यति। मायामात्रं तु' ब्र०सू० ३-२-३। इति च स्वप्नानामप्यर्थानां जागरितावस्थानुभूतपदार्थ-वैधर्म्येण मायामात्रत्वमुच्यते इति जागरितावस्थानुभूतानामिव पारमार्थिकत्वमेव वक्ष्यति॥ ८४॥

भई। यदि कहा जाय कि, अपरापर श्रुतियों में जब ब्रह्म को नानात्व प्रतिसिद्ध हुवा है, तब 'बहु भवन्' श्रुति का अर्थ अपरमार्थ होना चाहिये? नहीं सो नहीं होगा, कारण यह है कि, एक ब्रह्म ही जो, बहुरूप धारन किये है, सो प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण से नहीं जाना जाता है सुतरां अतीव दुर्बोध्य, श्रुति प्रथमतः उस दुर्ज्ञेय तत्व को उपदेश देकर अवशेष स्वयं ही उसको प्रतिषेध भी करें यह बड़ी उपहास की बात है॥ ८३॥

फिर, 'साधक जभी इस ब्रह्म में थोड़ा भी भेद को देखता है तभी उसको भय होता'। इस श्रुति में, ब्रह्म में भेद दर्शी को भय प्राप्ति की उल्लेख है। इसी निमित्त जो, भेद वाद

स्मृति पुराणयोरपि निर्विशेष ज्ञान मात्रमेव परमार्थोऽन्यदपारमार्थिकमिति प्रतीयत इति यदभिहितम् , तदसत्-

'योमामजमनादिञ्च वेत्ति लोक महेश्वरम्'। गीता-१०।३

'मत्स्थानि सर्व्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

को असत्य कहा गया सो भी ठीक नहीं भया, क्योंकि, यह सभी ब्रह्ममय', 'समस्त जगत् ही तद् जात, उनही पर स्थित तथा उनही में विलीन होता है' अतएव 'शान्त होके उपासना करना' । यहाँ पर भेद-बुद्धि को ही शान्ति का उपाय रूप उपदेश किया गया। अर्थात् समस्त जगत् ही ब्रह्म से उत्पन्न, उन्हीं में अवस्थित और उनही में विलीन होता है, ताते, समस्त जगत् को ब्रह्मात्मक मानि के शान्तचित्त रहना। यहाँ केवल शान्ति ही विहित है। अतएव यथायथ रूप प्रसिद्ध देवता, तिर्यक् तथा मनुष्यादि विविध भेद सम्वलित इस जगत् को ब्रह्म स्वरूप मानकर चिन्ता करने से शान्ति प्राप्ति होती है और भय की निवृत्ति होती है,भविष्यत में भी पुनःभयोत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती। भला,ऐसा ही जब सिद्धान्त है तब 'भेद दर्शन से भय होता है'- सो, कहा क्यों गया ? उत्तर-अभिप्राय यह है कि-'यह साधक जब अदृश्य, अनिर्वाच्य, स्वप्रतिष्ठ ब्रह्म में सर्वभय निवारक प्रतिष्ठा या निष्ठा लाभ करता है तब वह अभय प्राप्त होता है', इस श्रुति में जो, ब्रह्म निष्ठा ही भय शान्ति का उपाय रूप उपदिष्ट हुवा है, सोई ब्रह्म निष्ठा विनष्ट होने पर उसको भय होता है। जो, महाभारत में उक्त भया 'मुहूर्त या क्षण भर भी श्रीवासुदेव को चिन्तन न करना सोई हानि, सोई अनिष्ट प्राप्ति की रास्ता, सोई भ्रान्ति तथा सोई चित्तविकार रूप-इत्यादि । वास्तविक में, ब्रह्म पर दृढ़ प्रतिष्ठा के अन्तर याने अवकाश सो ब्रह्म विच्छेद या भेद बोध सिवा और कुछ भी नहीं ।

और भी जो, 'न स्थानतोपि' सूत्र में निर्विशेष ब्रह्म वर्णित होंगे-कहा गया, सो वहाँ पर भी सविशेष भाव ही कहा जायगा। और, 'माया मात्रं तू'-सूत्र में भी जो स्वप्नदृष्ट पदार्थों को केवल मायामय कहा गया, सो भी ठीक जाग्रत अवस्था में अनुभूत पदार्थों के साथ किञ्चित् वैलक्षण्य के कारण से ही 'माया मात्र' कहा गया। वस्तुतः स्वप्नदृष्ट पदार्थ भी, जाग्रत अवस्था में अनुभूत पदार्थ ही के माफिक सत्य, सोई वहाँ पर कहा जायगा॥८॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्नच भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः' ।। गीता ९-४।५
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्व्व मिदम्प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' ।। गीता ७।६-७ ।
'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' ।। गीता १०।४२
'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
योलोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः ।।
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' ।। गीता १५।१७-१८
'स सर्व्वभूत प्रकृतिं विकारान्, गुणादि दोषांश्च मुने व्यतीतः ।
अतीतसर्व्वावरणोऽखिलात्मा, तेनास्तृतं यद् भुवनान्तराले ।।
समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ,स्व शक्ति लेशाद् धृतभूत सर्गः ।
इच्छा-गृहीताभिमतोरूदेहः, संसाधिताशेष जगद्धितोऽसौ ।।
तेजोबलैश्वर्य्य महावबोध-सुवीर्य्य शक्त्यादि गुणैकराशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र, क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ।।
स ईश्वरो व्यष्टि समष्टि रूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः ।
सर्व्वेश्वरः सर्व्वदृक् सर्व्ववेत्ता, समस्त शक्तिः परमेश्वराख्यः ।।
संज्ञायते येन तदस्तदोषं, शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम् ।
संदृश्यते वाप्यधिगम्यतेवा, तज् ज्ञानमज्ञान मतोऽन्यदुक्तम् ।।
।।वि०पु०-६अं-५-अ: ८३-८७।।

'शुद्धे महाविभुत्याख्ये परेब्रह्मणि शब्यते ।
मैत्रेय ! भगवच्छब्दः सर्व्व कारण कारणे ।।
सम्भर्त्तेति तथाभर्त्ता भकारोऽर्थ द्वयान्वितः ।
नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने ।।
ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
वसन्ति तत्रभूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।
सच भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः' ॥ वि०-पु०-६-५।७२-७५
'ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य्य वीर्य्य-तेजांस्य शेषतः ।
भगवच्छब्द-वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः' ॥
एवमेष महाशब्दो मैत्रेय ! भगवानिति ।
परम ब्रह्म भूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥
तत्र पूज्य पदार्थोक्ति-परिभाषासमन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः' ॥ वि० पु० ६-५।७६-७७
'समस्ताः शक्तयश्चैता नृप ! यत्र प्रतिष्ठिताः ॥
तद्विश्वरूप-वैरूप्यं रूपमन्यद् हरेर्महत् ॥
समस्त शक्तिरूपाणि तत् करोति जनेश्वर ॥
देव-तिर्य्यङ्-मनुष्याख्या-चेष्टावन्ति स्वलीलया ।
जगतामुपकाराय न साकर्म्मनिमित्तजा ॥
चेष्टातस्याप्रमेयस्य व्यापिन्यव्याहतात्मिका' । वि० पु० ६-७।६९-७२ ।
'एवम्प्रकारममलं नित्यं व्यापकमक्षयम् ।
समस्त हेय रहितं विष्णवाख्यं परमम्पदम्' ॥ वि० पु० १-२२-५१ ।
'परः पराणां परमः परमात्मात्मसंहितः ।
रूप वर्णादि निर्देश-विशेषण विवर्जितः ॥
अपक्षय विनाशाभ्यां परिणामर्द्धि-जन्मभिः ।
वर्जितः, शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम् ।
सर्व्वत्रासौ समस्तञ्च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥
तद्ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षर मव्ययम् ।
एकस्वरूपञ्च सदा हेया भावाच्च निर्म्मलम् ॥
तदेवसर्व्वमेवैतद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् ।

तथा पुरुष रूपेण कालरूपेण च स्थितम्' ॥ वि० पु० १-२।१०-१४
'प्रकृतिर्य्यामयाख्याता व्यक्ता व्यक्त स्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयतेपरमात्मनि ॥
परमात्माच सर्व्वेषामाधारः परमेश्वरः।
विष्णु नामा सवेदेषु वेदान्तेषुच गीयते' ॥ वि० पु० ४-६।३८-३९
द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तञ्चामूर्त्तमेवच।
क्षराक्षर स्वरूपेते सर्व्वभूतेषु च स्थिते ॥
अक्षरं तत् परं ब्रह्म, क्षरं सर्व्वमिदं जगत्।
एकदेश स्थितस्याग्ने र्ज्योत्स्ना विस्तारिणीयथा ॥
परस्यब्रह्मणः शक्ति स्तथेदमखिलं जगत्' ॥ वि० पु० १-२२।५३।५५
विष्णु शक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्म्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥
यया क्षेत्रज्ञ शक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्व्वगा।
संसार तापानखिला नवाप्नोत्यतिसन्ततान् ॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता।
सर्व्वभूतेषुभूपाल तारतम्येन वर्त्तते ॥ वि० पु० ६-७।६१-६३
'प्रधानञ्च पुमांश्चैव सर्व्वभूतात्मभूतया।
विष्णु शक्त्या महाबुद्धे वृतौ संश्रयधर्म्मिणौ ॥
तयोः सैव पृथग्भाव-कारणं संश्रयस्यच।
यथा सक्तो जले वातो बिभर्त्ति कणिकाशतम् ॥
शक्तिः सापि तथा विष्णोः प्रधान पुरुषात्मनः' ॥ वि० पु० २-७।२९-३१
'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनि वराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्म नाश विकल्पवत् ॥ वि० पु० १।२२।५८।

इत्यादिना परं ब्रह्म स्वभावतएव निरस्तनिखिल दोषगन्धं समस्त कल्याण गुणात्मकं जगदुत्पत्ति स्थिति-संहारान्तः प्रवेश-नियमनादिलीलं प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः सर्व्वावस्थावस्थितस्य पारमार्थिकस्यैव परस्य ब्रह्मणः शरीर-

तया रूपत्वम्, शरीररूप-तन्वंश-शक्ति-विभूत्यादिशब्दैस्तत्तच्छब्द सामानाधिकरण्येन चाभिधाय तद्विभूति भूतस्य चिद्वस्तुनः स्वरूपेणावस्थितिमचिन्मिश्रतया चेत्रज्ञरूपेण स्थितिं चोक्त्वा क्षेत्रज्ञावस्थायां पुण्य पापात्मक कर्म्म रूपाविद्यावेष्टितत्वेन स्वाभाविक-ज्ञानरूपत्वाननुसन्धानम् अचिद्रूपार्थाकार तयानुसन्धानञ्च प्रतिपादितमिति परंब्रह्म सविशेषम्; तद्विभूतिभूतं जगदपि पारमार्थिकमेवेति ज्ञायते ॥ ८५ ॥

और यह जो कहे हैं कि श्रुतिस्मृति में केवल निर्विशेष ज्ञान मात्र ही परमार्थ रूप कहा गया है बाकी सभी असत्य है, सो यह भी भूल ही है-क्योंकि श्री गीता जी कह रही है। 'जो हमको जन्म रहित, अनादि तथा सर्व जगत् का परमेश्वर रूप जानते हैं'। 'समस्त भूत हमारा ही आश्रित है किन्तु, हम उनके आश्रित नहीं। हमारा आत्मा समस्तभूतों को धारण वो पोषण कर रहे हैं किन्तु, हम कोई भूतस्थ नहीं रहते हैं'। 'मैं ही जैसे समस्त जगत् की उत्पत्ति कारण, तैसे प्रलय के भी कारण मैं ही हूं। हे धनञ्जय मेरे से श्रेष्टतर और कुछ भी नहीं हैं'। सूत्रस्थ मणिवत्, यह जगत् मेरे में ग्रथित है। एकांश से मैं ही इस जगत् में व्याप्त हूँ, (उक्त क्षर और अक्षर से पृथक) श्रेष्ठ पुरुष परमात्मा नाम से कथित होते हैं, जो अव्यय, ईश्वर तथा त्रिलोक में प्रविष्ठ रह कर पालन करते हैं'। 'जो कि, हम, क्षर-भूतों के अतीत और अक्षर-कूटस्थ अपेक्षा उत्तम, सोई, हम लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम करके प्रसिद्ध'। श्रीविष्णुपुराण में-'हे मुने, वह, सर्वभूत-प्रकृति-अव्यक्त तथा अव्यक्त-विकार (जगत्) तथा समस्त गुण दोष का अतीत, वह कोई आवरण से आवृत नहीं, और सर्व जगत् के आत्मा स्वरूप, वही भुवनस्थ समस्त वस्तु को आवृत कर रक्खा है, वह, समस्त शुभ गुणों से परिपूर्ण, स्वीय शक्ति अंश से इन भूत वर्ग का सृष्टि विधान कर रहा है। वही स्वेच्छा से सुमहत् देह धारण करते हैं और जगत् में अशेष प्रकार कल्याण साधन करते हैं। मानस तेजः, शारीर बल, अणिमादि ऐश्वर्य्य, समुन्नत ज्ञान, वीर्य तथा शक्ति प्रभृति गुणों का वही मात्र आश्रय, और पर,-(ब्रह्मादि) से भी पर। सो उन सर्वेश्वर में क्लेशादि कोई भी दोष नहीं है। वही ईश्वर व्यष्टि और समष्टि रूप में तथा व्यक्त के अव्यक्त रूप में अवस्थित, सर्वेश्वर, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और 'परमेश्वर'

नाम से अभिहित होते हैं। जिनके प्रभाव से लोग ज्ञान लाभ करते हैं; वह स्वाभाविक ही निर्दोष, विशुद्ध, महत्, निर्मल वो एक रूप। वह दृष्ट होते हैं, और प्रतीति गम्य होते हैं; एवम्विध ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान, बाकी समस्त ही अज्ञान करके अभिहित भया'।

'हे मैत्रेय, सर्व-कारण-कारण, शुद्ध महा विभूति शब्दोक्त परब्रह्म में 'भगवत्' शब्द प्रयुक्त होता है। हे मुने, 'भ' कार का दो अर्थ सम्भर्ता (शासन कर्ता) तथा भर्ता (धारण कर्ता) 'ग' कार का अर्थ नेता वो प्रापक, सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश,श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छवों का नाम 'भग'। वह, सब भूतों की आत्मा तथा सर्वात्मा उन ही में समस्त भूत अवस्थान करता है। 'व' कार का अर्थ अव्यय। अतएव, हेयगुण वर्जित सम्पूर्ण ज्ञान, शक्ति बल, ऐश्वर्य वीर्य तथा तेज इनही सब भगवत् शब्द का अर्थ। हे मैत्रेय, उक्त प्रकार अति उत्तम भगवान शब्द सो परब्रह्म वासुदेव सिवाय और किसी को नहीं समझाता है। पूज्यार्थ बोधन में परिभाषित यह भगवत् शब्द उनही में मुख्यतः प्रयुक्त हैं। किन्तु अन्यत्र गौड़ रूप से प्रयुक्त। हे नृप, पूर्वोक्त शक्ति समूह जिन में प्रतिष्ठित, वही, हरि का जगद्विलक्षण-अप्राकृत महत् रूप। हे जन नाथ, यही स्वीय लीला प्रभाव से समस्त शक्ति को, देव, तिर्यक तथा मनुष्य रूप में निर्माण के लिय कोशिस करते हैं। जगत को उपकार के लिये वह अप्रमेय भगवान की जो चेष्टा, कोई भी कर्म उसमें निमित्त नहीं हो सकते सो अयत्न सम्भूत, व्यापक और अव्याहत विष्णु नामक जो परम पद सो इस प्रकार निर्मल, नित्य, व्यापी, अक्षय और सर्वप्रकार हेय गुण वर्जित। उत्तम जो ब्रह्मादिक उनसे भी अति उत्तम स्वप्रतिष्ठ, रूप वर्णादि विशेष गुण वर्जित परमात्मा, क्षय, नाश, परिणाम, वृद्धि और जन्म रहित। वह मात्र 'अस्ति' शब्द से अभिहित होने योग्य। जो कि, वह सर्वत्र है और समस्त वस्तु भी उनमें है, तभी,पण्डितों ने उनको वासुदेव कहे हैं। वही परब्रह्म स्वरूप,नित्य जन्महीन अक्षर अव्यय,सर्वदा एकाकार और हेय गुण न रहने के कारण से निर्मल। वही स्थूल सूक्ष्म स्वरूप और पुरुष तथा काल रूप में वही अवस्थित हैं।

'हम जो, व्यक्त तथा अव्यक्त रूप प्रकृति और पुरुष की बात कहे हैं सो, वह दोनों ही परमात्मा में विलय प्राप्त होता है। परमात्मा ही सर्वाधार और परमेश्वर, और वही वेद वेदान्त में विष्णु' नाम करके वर्णित होते हैं'।'वह ब्रह्म को रूप द्विविध,-मूर्त तथा अमूर्त।

उसी रूप दोनों यथाक्रम से क्षर और अक्षर संज्ञा से अभिहित, और सर्वभूतों में अवस्थित हैं। उनमें से, वह परब्रह्म 'अक्षर' और समस्त जगत् 'क्षर' रूप कहे गये। एक स्थान स्थित अग्नि की ज्योत्स्ना जैसा विस्तार शील, परब्रह्म की शक्ति भी तैसी ही समस्त जगदाकार रूप से विस्तृत हो रही है'। 'विष्णु शक्ति ही पराशक्ति और क्षेत्रज्ञ जीव अपराशक्ति और कर्म प्रवर्तिका अविद्या उनकी तृतीया शक्ति करके कही गई। हे राजन्, क्षेत्रज्ञ शक्ति स्वभावतः सर्वगामिनी होके भी, जो, अविद्यामय कर्म वश से वेष्टिता अर्थात् परिच्छिन्न भाव प्राप्त होके चिर निरन्तर संसार सन्ताप को भोग करती है, हे भूपाल, क्षेत्रज्ञ शक्ति वही अविद्या के वश आवृत होकर, ज्ञान के तारतम्य अनुसार सर्वभूतों में अवस्थान करती है'। 'हे महामते, प्रधान (प्रकृति) और पुरुष दोनों ही सर्वभूतों की आत्मा स्वरूप विष्णु शक्ति से समावृत होते हैं। वही विष्णु शक्ति का प्रभाव से दोनों, संसार में प्रविष्ट होकर परस्पर पार्थक्यलाभ करता है और उसीके आश्रित रहता है वायु जैसे जल सम्पर्क से शतशः जल कणा वहन करता है अर्थात् कणारूप में जल को पृथक पृथक कर देता है, उसी प्रकार, वह विष्णु शक्ति भी प्रधान पुरुष और उन दोनों का आश्रयीभूत प्रधान-पुरुषात्म विष्णु को पृथक भाव समुत्पादन करती हैं'। हे मुनिवर, यह समस्त जगत् क्षय रहित-नित्य, केवल आविर्भाव तथा तिरोभाव रूप-जन्म और नाश युक्त इत्यादि वाक्यों से प्रथम ही प्रतिपादित भया है कि परब्रह्म सहज ही नित्य निर्दोष, सर्व प्रकार कल्याणमय गुण सम्पन्न, और लीला क्रम से जगत् को उत्पत्ति, स्थिति, संहार और अभ्यन्तर में प्रवेश पूर्वक सर्वभूतों को संयमन करते हैं। उसके बाद, कोई भी अवस्था में चित् जड़ात्मक समस्त वस्तु ही सत्य और परब्रह्म का शरीर, यह यो शब्द शरीर, रूप, तनु, अंश तथा विभूति शब्द में और 'तदेव सर्व्वं में वैतत्'-यह 'तत्' के सामानधिकरण्य-अभेद विशेषण-विशेष्य भाव से उत्तम रूप कहा जा चुका। अनन्तर, ब्रह्म विभूति चित् स्वरूप में अवस्थित होती है, और, जड़ सम्पर्क से क्षेत्रज्ञ रूप में रहती हैं; अनन्तर क्षेत्रज्ञ अवस्था पर पुण्य पापमय कर्म रूप जो अविद्या-तिसकी अधिष्ठाता होके रहती हैं, तब, स्वभाव सिद्ध स्वीय ज्ञान स्वरूप को भूल जाती है, और अपने को अचित्-जड़ रूप मान लेती है। इसीसे जाना जाता है कि परब्रह्म सविशेष और तदीय विभूति विशेष जड़ जगत् भी पारमार्थिक-मिथ्या नहीं ॥ ८५ ॥

'प्रत्यस्तमित भेदम्' इत्यत्र देव-मनुष्यादि प्रकृति-परिणाम विशेष संसृष्टस्याप्यात्मानः स्वरूपं तद्गतभेद रहितत्वेन तद्भेद वाचिदेवादि शब्दागोचरं ज्ञान सत्तैक लक्षणं स्वसम्वेद्यं योगयुङ्मनसो न गोचर इत्युच्यत इति; अनेन न प्रपञ्चापलापः। कथमिदमवगम्यते इति चेत्? तदुच्यते,-अस्मिन् प्रकरणे संसारैकभेषजतया योगमभिधाय योगावयवान् प्रत्याहारपर्य्यन्तांश्चाभिधाय धारणा सिद्ध्यर्थं शुभाश्रयं वक्तुं परस्य ब्रह्मणो विष्णोः शक्ति शब्दाभिधेयं रूपद्वयं मूर्त्तामूर्त्त विभागेन प्रतिपाद्य, तृतीय शक्तिरूप-कर्म्माख्याविद्यावेष्टितमचिद्विशिष्टं क्षेत्रज्ञं मूर्त्ताख्य विभागं भावनात्रयान्वयादशुभमित्युक्त्वा, द्वितीयस्य कर्म्माख्याविद्याविरहिणोऽचिद्वियुक्तस्य ज्ञानैकाकारस्यामूर्त्ताख्य विभागस्य निष्पन्नयोगिध्येयतया योगयुङ्मनसोऽनालम्बनतया स्वतः शुद्धिविरहाच्च शुभाश्रयत्वं प्रतिषिध्य परशक्तिरूप मिदममूर्त्तमपरशक्तिरूपं क्षेत्रज्ञाख्यं मूर्त्तञ्च, परशक्तिरूपस्यात्मनः क्षेत्रज्ञतापत्तिहेतुभूत-तृतीय शक्त्याख्यकर्म्मरूपाविद्या चेत्येतच्छक्तित्रयाश्रयं भगवदसाधारणम् 'आदित्यवर्णम्' इत्यादि वेदान्तसिद्धं मूर्त्तं स्वरूपं शुभाश्रय इत्युक्तम्।

अत्र परिशुद्धात्मस्वरूपस्य शुभाश्रयतानर्हतां वक्तुं 'प्रत्यस्तमितभेदंयद्' इत्याद्युच्यते। तथाहि-

'नतद्योगयुजाशक्यं नृप चिन्तयितुंयतः।
द्वितीयं विष्णु संज्ञस्य योगिध्येयं परम्पदम्॥
समस्ताः शक्तयश्चैता नृपयत्र प्रतिष्ठिताः।
तद्विश्वरूप वैरूप्यं रूपमन्यद् हरेर्म्महत्॥ वि० पु०-६-७-५५।६९-७०

इति च वदति। तथा चतुर्म्मुख सनकादीनां जगदन्तर वर्त्तिनामविद्यावेष्टितत्वेन शुभाश्रयानर्हतामुक्त्वा, वद्धानामेव पश्चाद्योगेनोद्भूत वोधानां स्वस्वरूपमापन्नानाञ्च स्वतःशुद्धि विरहात् भगवताशौनकेन शुभाश्रयतानिषिद्धा।

'आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्म्म जनित-संसार वशवर्त्तिनः॥
यत स्ततो न ते ध्याने मुनिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गताः सर्व्वे तेहि संसारगोचराः॥

पश्चादुद्भूतबोधाश्च ध्यानेनैवोपकारकाः ।
नैसर्गिको न वै बोध स्तेषामप्यन्यतो यतः ॥
तस्मात् तदमलम्ब्रह्म निसर्गादेव बोधवत्'॥भवि०पु०वि०ध० १०४ अ० २३-२६
इत्यादिना परस्य ब्रह्मणोविष्णोः स्वरूपं स्वासाधारणमेव शुभाश्रय इत्युक्तम् । अतोऽत्र न भेदापलापः प्रतीयते ॥ ८६ ॥

पूर्वोक्त 'प्रत्यस्तमित भेदम्' (जिनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है) वाक्य से भी समझना चाहिये कि, आत्मा यद्यपि प्रकृति परिणाम देवता मनुष्यादि साथ सम्बद्ध हैं-सत्य ही है, तथापि उनका जो स्वरूप सो, सकल भेदसम्बन्ध रहित, सुतरां, भेद-बोधक देवतादि शब्दों करके अवाच्य । वह केवल ज्ञान और सत्तास्वरूप आत्म वेद्य (वही उनको जानते हैं) और योगि-बुद्धिका भी अगम्य 'प्रत्यस्तमित' वाक्य का यही अभिप्राय, सुतरां, इस बात ही से जगत्-प्रपञ्च का अपलाप कैसे प्रतिपन्न होगा ? यदि कहा जाय यह भाव किससे जाना गया ? सो कहा जाता है । इस प्रकरण में प्रथमतः योगानुष्ठान को संसार व्याधि की मात्र औषधी कहके और, प्रत्याहार तक जो सब योगावयव हैं सो सबका उल्लेख करके 'धारणा सिद्धि की' उत्तम आश्रय निर्देश के लिये, परब्रह्म विष्णु को शक्ति स्वरूप मूर्त तथा अमूर्त दोनों रूप के उल्लेख किये हैं । बाद को, परब्रह्म की तृतीय शक्ति-कर्मात्मक अविद्या संयुक्त जो क्षेत्रज्ञ नामक मूर्त भाग तिसमें (ध्यान, धारणा, समाधि) त्रिविध भावना से अशुभ कह करके-'कर्ममय-अविद्या' रहित तथा जड़ वियुक्त, शुद्ध ज्ञानैक रूप जो द्वितीय शक्ति-अमूर्त विभाग सो भी केवल योग-सिद्ध पुरुष का ध्येय, सुतरां योगयुक् या प्राथमिक योगी का चित्त उसको ग्रहण नहीं कर सकता । तत् कारण तादृश योगी के लिये वह भी शुभ नहीं है । इस प्रकार कहके परिशेष आत्मा की पराशक्ति रूप जो अमूर्त भाग, अपरा शक्ति रूप जो मूर्त-क्षेत्रज्ञ भाग और परमात्मा ही की क्षेत्रज्ञत्व प्राप्ति के हेतुभूत जो तृतीय शक्ति कर्मात्मक अविद्या-यह तीन प्रकार शक्ति के आश्रय तथा 'आदित्य वर्ण' इत्यादि वेदान्त वाक्य-प्रतिपादित जो भगवान के मूर्तात्मक (साकार) रूप उसीको पूर्वोक्त 'धारणा' का उत्तम आश्रय या विषय करके निरूपण किये हैं ।

आत्मा के निर्विशेष विशुद्ध जो स्वरूप, सो, धारणा के लिये उत्तम आश्रय नहीं है,

ज्ञान स्वरूपम्' इत्यत्रापि ज्ञान व्यतिरिक्तार्थजातस्य कृत्स्नस्य न मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यते, ज्ञान स्वरूपास्यात्मनो देवमनुष्याद्यर्थाकारेणावभासो भ्रान्ति रित्येतावन्मात्र वचनात् । नहि शुक्तिकाया मिथ्यारजततयावभासो भ्रान्तिरित्युक्ते जगति कृत्स्नं रजत जातं मिथ्याभवति । जगद् ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्येनैक्य प्रतीतेर्ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपस्यार्थाकारता भ्रान्तिरित्युक्ते सति, अर्थजातस्य कृत्स्नस्य मिथ्यात्वमुक्तं स्यादिति चेत्; तदसत्, अस्मिन् शास्त्रे परस्य ब्रह्मणो विष्णोर्निरस्ताज्ञानादि निखिलदोष गन्धस्य समस्त कल्याणगुणात्मकस्य महा विभूतेः प्रतिपन्नतया तस्य भ्रान्तिदर्शनासम्भवात् ।

सोई 'प्रत्यस्तमित भेदं यत्'–अर्थात् जिसमें किसी प्रकार भेद नहीं' इत्यादि वाक्यों से कहा गया । श्रीविष्णु पुराण में देखिये-'हे नृप, विष्णु का द्वितीय पद अर्थात्, जो अमूर्त रूप योगयुक् (प्राथमिक) जो योगी चिन्ता नहीं कर सकते क्योंकि वह पर पद, मात्र सिद्धि प्राप्त योगियों को ध्यान के विषय । श्रीविष्णु को विश्वरूप के सिवाय, और भी एक विचित्ररूप है, जिसमें पूर्वोक्त समस्त शक्ति अवस्थित' । और भी 'लोकान्तर अवस्थित चतुर्मुख तथा सनक प्रभृति महापुरुष गण भी अविद्या–सम्पन्न, सुतरां, वह सब भी ध्यान के उत्तम विषय नहीं हैं, और जो लोग प्रथमतः संसारावद्ध रह के पश्चात् योग बल से तत्वज्ञान लाभ करके स्वीय परम रूप को प्राप्त भये हैं उनको शुद्धि भी स्वाभाविक नहीं-योग लब्ध, इसीसे उनको भी ध्यान का अशुभ आश्रय जान कर त्याग किये है । ब्रह्मा से लेकर,तृण पर्यन्त जो जो प्राणी संसार में वास कर रहे हैं सो सब ने कर्म फल से संसार के बश में हैं-सांसारिक, अविद्या समाच्छन्न, ताते, आराधित होते हुये भी वह सब, ध्याता का अभिप्रेत उपकार नहीं कर सकते । और, जिन्हों ने प्रथमतः संसारावद्ध रह कर, अवशेष ध्यान योग से ज्ञान लाभ किये हैं वह भी ध्यानकारी के उपकार में असमर्थ, ताते, उनकी भी बोधशक्ति स्वतः सिद्ध नहीं है अपर आराधना लब्ध । अतएव, स्वभाव सिद्ध ज्ञान सम्पन्न बिमल ब्रह्म ही मात्र ध्येय है' । इत्यादि वाक्यों से महर्षि शौनक जीभी, अपर-ब्रह्म विष्णु को रूप, उपासकों के अशुभाश्रय-अनुपादेय करके निर्देश किये हैं । सुतरां, उक्त वाक्य से भेद का अपलाप या अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।। ८६ ॥

सामानाधिकरण्येनैक्य प्रतिपादनञ्च बाधासहमविरुद्धं च इत्येतदनन्तर-मेवोपपादयिष्यते। अतोऽयमपिश्लोकोनार्थस्वरूपस्य बाधकः। तथाहि,-'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते; येन जातानि जीवन्ति; यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति; तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म' तैत्ति-उ०, भृगु० १। इति जगज्जन्मादि कारणम् ब्रह्मेत्यवसिते सति-

'इतिहास पुराणाभ्याम्वेदंसमुपबृंहयेत्।

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदोमामयंप्रह्नरिष्यति' ॥ महाभारत आदिपर्व-१।२७३।

इति शास्त्रेणास्यार्थस्येतिहास-पुराणाभ्यामुपबृंहणं कार्य्यमितिज्ञायते। उपबृंहणं नाम विदित सकल वेद तदर्थानां स्वयोगमहिम-साक्षात् कृतवेदतत्वार्थानां वाक्यैः स्वावगतवेदवाक्यार्थव्यक्तीकरणम्। सकलशाखानुगतस्य वाक्यार्थस्याल्प भाग श्रवणाद् दुरवगमत्वेन तेन विना निश्चयायोगादुपबृंहणं हि कार्य्य मेव। तत्र पुलस्त्य वशिष्ठ वरप्रदान लब्ध परदेवता पारमार्थिक-ज्ञानवतो भगवतः पराशरात् स्वावगतवेदार्थोपबृंहणमिच्छन् मैत्रेयः परिपप्रच्छ-

'सोऽहमिच्छामि धर्म्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तोयथाजगत्।

बभूव भूयश्च यथा महाभागभविष्यति ॥

यन्मयञ्च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम्।

लीन मासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च॥ वि० पु० १।१।४ ५।

इत्यादिना। अत्र ब्रह्म स्वरूप विशेष तद्विभूति भेद-प्रकार-तदाराधनस्वरूप-फलविशेषाश्च पृष्टाः। ब्रह्म स्वरूप विशेष प्रश्नेषु यतश्चैतच्चराचरम्' इति निमित्तोपादानयोः पृष्टत्वात्, यन्मयमित्यनेन सृष्टि-स्थिति लय कर्म भूतं जगत् किमात्मकमिति पृष्टम्। तस्य चोत्तरम्-'जगच्च सः' इति॥

इदञ्च तादात्म्यमन्तर्य्यामिरूपेणात्मतया व्याप्तिकृतं, नतु व्याप्य-व्यापकयोर्वस्त्वैक्यकृतम्। 'यन्मयम्' इति प्रश्नस्योत्तरत्वात् 'जगच्च सः' इति सामान्याधिकरण्यस्य। 'यन्मयम्' इति मयट् न विकारार्थः, पृथक् प्रश्न-वैयर्थ्यात्। नापि प्राणमयादिवत् स्वार्थिकः, 'जगच्च सः इत्युत्तरानुपपत्तेः। तदा हि विष्णुरेवेत्यु-

त्तरमभविष्यत् । अतःप्राचुर्य्यार्थ एव 'तत् प्रकृत वचने मयट्' अष्टा-५-४-२१ । इति मयट् । कृत्स्नस्य जगत् तच्छरीर तया तत् प्रचुरमेव, तस्माद् यन्मयमित्यस्य प्रति वचनं 'जगच्च सः' इति सामानाधिकरण्यं जगद् ब्रह्मणोः शरीरात्मभावनिबन्धन मिति निश्चीयते । अन्यथा निर्व्विशेष वस्तु प्रतिपादनपरे शास्त्रेऽभ्युपगम्यमाने सर्व्वाण्येतानि प्रश्न प्रतिवचनानि न संगच्छन्ते । तद्विवरणरूपं कृत्स्नञ्च शास्त्रं न संगच्छते । तथाहि सति, प्रपञ्चभ्रमस्य किमधिष्ठानमित्येवं रूपस्यैकस्य प्रश्नस्य निर्व्विशेष ज्ञान मात्र मित्येवं रूपमेवोत्तरं स्यात् । जगद् ब्रह्मणोरेकद्रव्यत्वपरे च सामानाधिकरण्ये सत्य संकल्पत्वादि कल्याण गुणैकतानतानिखिल हेय प्रत्यनीकता च बाध्येत सर्व्वाशुभास्पदञ्च ब्रह्म भवेत् । आत्म शरीर भाव एवेदं सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमिति स्थाप्यते ॥ ८७ ॥

और, उनको ज्ञान स्वरूप कहने से, जो, ज्ञानातिरिक्त समस्त वस्तुवों का मिथ्यात्व सिद्ध होगा सो भी नहीं । क्योंकि वहाँ भी इतना ही कहा गया है कि, ज्ञानमय आत्मा ही को, जो, देवता मनुष्यादि मानना, सो केवल भ्रान्ति मात्र, किन्तु ज्ञानातिरिक्त वस्तुवों का मिथ्यात्व नहीं कहा गया । शुक्तिका में जो रजत प्रतीति होती है, सो भ्रान्ति कल्पित या मिथ्या किन्तु, उसीसे जगत् में समस्त रजत ही मिथ्या नहीं हो जाती । यदि कहिये-'श्रुति में जगत् और ब्रह्म का सामानाधिकरण्य या विशेषण विशेष्य भाव रहने के कारण उभय में अभेद प्रीति होने हुये भी वस्तुतः ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को जो जड़ जगताकार प्रतीति सो भ्रम मात्र, इनही बातों से ही समस्त जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होगा' सो यह भी असंगत है। कारण-इस शास्त्र में भी, अज्ञानादि सर्व दोष शून्य, सर्वप्रकार कल्याणमय गुण सम्पन्न, महा शक्ति परब्रह्म-विष्णु की सर्वातिशायिनी विभूत निःसशय रूप प्रतीति हो रही है, तौ फिर भ्रम ज्ञान की सम्भावना कैसी ? अर्थात्-यह जगत् भी जब भगवत् शक्ति ही का विकाश मात्र, तब फिर मिथ्या वा भ्रम किस हेतु से कहा जायगा ?

और, पूर्व उदाहृत श्रुति में जो सामानाधिकरण्य-विशेषण-विशेष्य भाव अभेदोक्ति सो भी युक्ति के साथ नहीं, और हमारे मत के विरुद्ध भी नहीं । एतदनन्तर युक्ति के साथ इसको उपपादन किया जायगा । अतएव, पूर्वोक्त युक्ति अनुसार समझना चाहिये कि ब्रह्म को ज्ञानस्वरूपत्व बोधक जो श्लोक सो जगत् के बाधक नहीं है । देखिये-'जिससे समस्त

भूत उत्पन्न होता है, उत्पन्न होके जिससे जीवित रहता है और मृत्यु के समय भी जिसमें प्रविष्ट होता है, उसको जानने की इच्छा किया जाय-वही ब्रह्म है'। इस श्रुति से यह निर्णीत हो रहा है कि ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति आदि के मात्र कारण फिर इसके बाद 'इतिहास पुराणों से वेदार्थ को परिपुष्ट अर्थात् संशय शून्य करना। अल्पज्ञ लोक हम को उल्लंघन करेगा, ऐसा जान के वेद उससे भयभीत होता है। इस शास्त्रानुसार जाना जाता है। कि इतिहास पुराणों की सहायता से वेदार्थ को उपबृंहित या संशय शून्य करना आव-श्यक है। 'उपबृंहन'-जिन्होंने समस्त वेद तथा वेदार्थ को जाने है और योग बल से वेद के तत्वार्थ को प्रत्यक्ष किये हैं तिनके वाक्यों से अपना अवगत वेदार्थ को अभिव्यक्त निःसंदिग्ध स्पष्टार्थ कर लेना'। वेद का एकांश मात्र अध्ययन करके, अनेकानेक वेद शाखा के साथ सम्बद्ध वेद वाक्यों का अर्थ निर्णय करना असम्भव है, इसी हेतु से, पूर्वोक्त विधि अनुसार वेदार्थ को उपबृंहन अवश्य कर्तव्य है।

देखा जाता है कि, महर्षि पुलस्य तथा वशिष्ठजी के अनुग्रह प्रदत्तवर प्रभाव से प्रकृत परमात्म तत्वज्ञ भगवान पराशर के निकट, निज अधीत वेदार्थ को उपबृंहण-विशदीकरण के लिये महात्मा मैत्रेय निम्नोध्दृत वाक्यों से प्रश्न किये रहे-'हे महाभाग, धर्मज्ञ, इस जगत् की उत्पत्ति जिस प्रकार से भई, बाद को भी जैसे रहेगा, हे ब्रह्मन् चराचरात्मक यह समस्त जगत् यत् स्वरूप, जिससे समुद्भूत, जिस में विलीन रहा और बाद में भी जिसमें विलय प्राप्त होगा सो सब मैं आप से सुना चाहता हूं'-इत्यादि। इसी प्रकरण में ब्रह्म का नाना प्रकार की विभूति, आराधना प्रणाली तथा उसकी फल भेद जिज्ञासित हुवा है। ब्रह्म का स्वरूप विषयक प्रश्न में 'जिससे यह चराचर उत्पन्न भया' इसी में निमित्त कारण तथा उपादान कारण के बारे में जिज्ञासा किया गया और 'यन्मय' वाक्य से सृष्टि, स्थिति तथा लय का कर्मभूत इस जगत् का स्वरूप पूँछा गया, अब 'जगच्चसः' अर्थात् 'वही जगत् स्व-रूप' कह के उसी प्रश्न का उत्तर दिया गया।

यह जो जगत् का तदात्मक भाव (ब्रह्मरूपता) सो भी, व्याप्य जगत् तथा व्याप की भूत ब्रह्म को एकत्व निबन्धन नहीं, परन्तु ब्रह्म अन्तर्यामीरूप से इस जगत् में ओत-प्रोत भाव से अवस्थित है, इसी कारण से वैसा अभिहित भया। क्योंकि, 'जगत् च सः'

अत:-'विष्णो: सकाशादुद्भूतं जगत् तत्रैवसंस्थितम् ।
स्थिति संयम कर्त्तासौ जगतोऽस्य जगच्च स:' ॥ वि० पु० १-१।३१

इति संग्रहेणोक्तमर्थं 'पर: पराणाम्' इत्यारभ्य विस्तरेण वक्तुं परब्रह्मभूतम्भगवन्तं विष्णुं स्वेनैव रूपेणावस्थितम्; 'अविकाराय' इति श्लोकेन प्रथमं प्रणम्य, तमेव हिरण्य गर्भ स्वावतार शंकररूपत्रिमूर्त्तिप्रधान काल क्षेत्रज्ञ समष्टि रूपेणावस्थितञ्च नमस्करोति । तत्र 'ज्ञानस्वरूपम्' इत्ययंश्लोक: क्षेत्रज्ञ व्यष्ट्यात्मनावस्थितस्य परमात्मन: स्वभावमाह । तस्मान्नात्र निर्विशेष वस्तु प्रतीति: ।

इस अभेदोक्ति, 'यन्मय' प्रश्न का ही उत्तर दिया गया । 'यन्मय' में जो मयट् प्रत्यय है उसका अर्थ 'विकार' नहीं, अगर, होता तो फिर पृथक् प्रश्न नहीं होता और 'प्राणमय'-आदि में जो 'स्वार्थे मयट्' प्रत्यय होता है सो वैसा भी नहीं । क्यं कि, वैसा होने से 'जगत च स:'-'वह और जगत् एकही वस्तु' ऐसा उत्तर भी संगत नहीं होता बलकि स्वार्थ में मयट् होने से उत्तर देते समय 'जगत् विष्णु ही का स्वरूप' ऐसा कहना उचित रहा । अतएव, 'तत् प्रकृत वचने मयट्'-सूत्र से मयट् का अर्थ प्राचुर्य ही मानना चाहिये । वास्तविक में समस्त जगत जब उनही का स्वरूप, तब तो, उनका प्रचुरतर सम्बन्ध इसके साथ निश्चय मानना पड़ेगा । इसीसे, 'यन्मय' प्रश्न का जवाब में 'जगत् च स:' कह के अभेद विशेषण विशेष्य भाव प्रयुक्त भया है । जगत् ब्रह्म का शरीर-शरीरि भाव निबन्धन सो निश्चित किया गया । पक्षान्तर में, समस्त शास्त्र को निर्विशेष बोधक स्वीकार करने पर, पूर्वोक्त प्रश्न-प्रति वचन सब अत्यन्त असगत हो पड़ेगा, और उस प्रकार प्रश्न प्रतिवचनात्मक विषय की व्याख्या-स्वरूप शास्त्रीय अपरांश की भी संगति नहीं रह जायगी । यदि निर्विशेष वस्तु बोधन (में) ही शास्त्र का तात्पर्य होता, तो एक प्रश्न होता-'इस जगत् भ्रम का आश्रय क्या है', और उत्तर में भी, मात्र निर्विशेष ज्ञान का आश्रय रूप कहा जाता । विशेषत:, सामानधिकरण्य या विशेषण विशेष्य भाव से जगत् तथा ब्रह्म का एक द्रव्यत्व प्रतिपादित होने से ब्रह्म को जो सत्य संकल्पत्व आदि कल्याण मय गुण सम्बन्ध और सब प्रकार हेय गुण राहित्य उक्त भया सो सब की बाधा और सब प्रकार अशुभ गुणों का ही सम्बन्ध कल्पित हो सकता । और, शरीरात्म भाव ही जो उस सामानाधिकरण्य का मुख्य तात्पर्य सो भी बाद को उपपादन किया जायगा ॥ ८७ ॥

यदि निर्व्विशेष ज्ञान रूप ब्रह्माधिष्ठान-भ्रम प्रतिपादनपरंशास्त्रम् तर्हि-
'निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्त्तृत्वं ब्रह्मणोभ्युपगम्यते' ॥ वि० पु० १-३-१।
इति चोद्यम्, 'शक्तयः सर्व्व भावानामचिन्त्य-ज्ञान गोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भाव शक्तयः॥
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥ वि० पु०-२३-२१-३-२
इति परिहारश्च न घटते। तथाहि सति निर्गुणस्य ब्रह्मणः कथं सर्गादि कर्त्तृत्वम्? ब्रह्मणो न पारमार्थिकः सर्गः; अपि तु भ्रान्तिकल्पितः इति चोद्य-परिहारौ स्याताम्। उत्पत्त्यादि कर्य्यं सत्वादिगुणयुक्ता परिपूर्ण कर्म्म वश्येषु दृश्येषु दृष्टमिति सत्वादिगुण रहितस्य परिपूर्णस्याकर्म्मवश्यस्य. कर्म्म सम्बन्धानर्हस्य कथं सर्गादेः कर्त्तृत्वमभ्युप गम्यत इति चोद्यम्। दृष्टसकल विसजातीयस्य ब्रह्मणो यथोदितस्वभावस्यैव जलादिविसजातीयस्याग्न्यादे रौष्ण्यादिशक्ति योगवत् सर्व्वशक्तियोगो न विरुध्यत इति परिहारः॥ ८८॥

अतएव यह जगत् विष्णु से समुत्पन्न तथा उनहीं में अवस्थित। वही इस जगत् का स्थिति और संहार कर्ता, और यह जगत् भी तत् स्वरूप'। इस श्लोक में संक्षेप से जो अर्थ को कहा गया, सोई 'परः-पराणाम्' प्रभृति श्लोकों में विशदरूप से कहने के लिये स्वरूपावस्थित परब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु को 'अविकाराय' श्लोक में प्रथमतः प्रणाम करके पुनश्च ब्रह्मा विष्णु हिरण्य गर्भ रूप मूर्ति त्रय तथा प्रधान (प्रकृति) काल और क्षेत्रज्ञ स्वरूप व्यष्टि समष्टि भाव में अवस्थित वही भगवान ही को नमस्कार कर रहे हैं। फिर 'ज्ञान स्वरूपम्' श्लोक में, व्यष्टि जीव रूप परमात्मा का स्वभाव या स्वरूप को ही कहा गया है। अतएव, यहाँ निर्विशेष वस्तु की प्रतीति नहीं होती है। और, अगर निर्विशेष ब्रह्म में जगत् भ्रान्ति प्रतिपादन करना ही शास्त्र का अभिप्राय हो तब, निर्गुण, निरवच्छिन्न (असीम,) विशुद्ध तथा विमल स्वभाव ब्रह्म को ही सृष्टि संहारादि कार्य की कर्त्ता स्वीकार कैसे किया जायगा? ऐसी आपत्ति, तथा 'हे तापस श्रेष्ठ, जो कि, जागतिक वस्तुओं की शक्ति अचिन्त्य बुद्धि के अगोचर अतएव अग्नि की उष्णता जैसे स्वाभाव सिद्ध, तैसे ही ब्रह्म को यह सृष्टि

'परमार्थस्त्वमेवैकः' इत्याद्यपि न कृत्स्नस्यापारमार्थ्यं वदति; अपितु कृत्स्नस्य तदात्मकतया तद्व्यतिरेकेणावस्थितस्यापारमार्थ्यम्। तदेवोपपादयति,-'तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम्' ॥ वि० पु० १-४-३८।

येन त्वयेदं चराचरम्व्याप्तम्; अतस्त्वदात्मकमेवेदं सर्व्वमिति त्वदन्यः कोऽपि नास्ति। अतः सर्व्वात्मतया त्वमेवैकः परमार्थः। अत इदमुच्यते-तवैष महिमा,-या सर्व्वव्याप्तिरिति; अन्यथा तवैषा भ्रान्तिरितिवक्तव्यम्। 'जगतः पते-त्वम्' इत्यादीनां पदानां लक्षणा च स्यात्; लीलया महीमुद्धरतो भगवतो महावराहस्य स्तुतिप्रकरणविरोधश्च।

यतः कृत्स्नं जगत् ज्ञानात्मना त्वया आत्मतया व्याप्तत्वेन तवमूर्त्तम्, तस्मात् त्वदात्मकत्वानुभवसाधन-योगविरहिण एतत् केवलदेव-मनुष्यादिरूपमिति भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्तीत्याह,-'यदेतद् दृश्यते' इति।

न केवलं वस्तुतस्त्वदात्मकं जगत् देवमनुष्याद्यात्मकमिति दर्शनमेवभ्रमः; ज्ञानाकाराणामात्मनां देव मनुष्याद्यर्थाकारत्वदर्शनमपि भ्रम इत्याह- ज्ञान स्वरूपमखिलम्' इति।

ये पुनर्ब्बुद्धिमन्तो ज्ञानस्वरूपात्मविदः सर्व्वस्यभगवदात्मकत्वानुभव साधन

संहारादि कार्य भी स्वभाव सिद्ध वस्तु-शक्ति समझना चाहिये'। इस प्रकार परिहार का मीमांसा दोनों बन सकता है। वस्तुतः शास्त्र का वैसा ही तात्पर्य होने पर, निर्गुण ब्रह्म सृष्टि को क्योंकर करते हैं? इस प्रकार प्रश्न होना चाहिये था। और 'ब्रह्म के सृष्टि सत्य नहीं परन्तु भ्रम कल्पित'-उत्तर भी इस तरह होता। अभिप्राय-जिनहीं ने सत्व, रज, तम गुण सम्पन्न-अपूर्ण स्वभाव तथा कर्म वश्य, उत्पादनादि क्रिया को करते हैं तिनहीं को देखा जाता है। ब्रह्म तो, निर्गुण, परिपूर्ण स्वभाव, कर्माधीनता शून्य, तो फिर उनही को सृष्टि कर्ता रूप कैसे माना जा सकता है? ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर में-जलादि पदार्थ का विजातीय अग्नि आदि में जैसे स्वभाव सिद्ध उत्तप्तता गुण दृष्ट होता है तैसे ही सर्व्व जगत् विलक्षण तादृश निर्गुण स्वभाव सम्पन्न ब्रह्म में भी सर्व सक्ति सम्बन्ध विरुद्ध नहीं होगा। इस प्रकार से परिहार करना ही सगत रहा ॥ ८८ ॥

योग योग्य परिशुद्ध मनसश्च, ते देवमनुष्यादि प्रकृतिपरिणाम विशेष-शरीर रूपमखिलं जगच्छरीरातिरिक्त ज्ञान स्वरूपात्मकं त्वच्छरीरञ्च पश्यन्तीत्याह ।- 'येतुज्ञानविदः' इति । अन्यथा श्लोकानां पौनरुक्त्यं, पदानां लक्षणा अर्थविरोधः प्रकरण विरोधः, शास्त्र तात्पर्य्य विरोधश्च । 'तस्यात्म परदेहेषु सतोऽप्येकमयम्' इत्यत्र सर्व्वेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया समानेषु सत्सु देव मनुष्यादिप्रकृति परिणाम विशेषरूप-पिण्ड संसर्गकृतमात्मसु देवाद्याकारेण द्वैतदर्शनमतथ्यमित्युच्यते, पिण्ड गत मात्मगतमपिद्वैतं न प्रतिषिध्यते । देवमनुष्यादि-विविधविचित्रपिण्डेषु वर्त्तमानं सर्व्वमात्मवस्तु सममित्यर्थः । यथोक्तं भगवता-

'शुनिचैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' ।

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'-इत्यादिषु गीता-५।१८-१९ ।

'तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽपि' इति देहातिरिक्ते वस्तुनि स्वपरविभागस्योक्तत्वात् ।

'यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि' इत्यत्रापि नात्मैक्यं प्रतीयते । 'यदि मत्तः परः कोऽप्यऽन्यः' इत्येकस्मिन्नर्थे पर शब्दान्य शब्दयोः प्रयोगायोगात् । तत्र, पर-शब्दः स्वव्यतिरिक्तात्मवचनः, अन्य-शब्दः तस्यापि ज्ञानैकाकारत्वाद् अन्याकारत्वप्रतिषेधार्थः । एतदुक्तम्भवति,-यदिमद्व्यतिरिक्तः कोऽप्यात्मा मदाकारभूत-ज्ञानैकाकाराद न्याकारोऽस्ति, तदामेवमाकारः अयञ्चान्यादृशाकार इति शक्यते व्यपदेष्टुम् न चैव मस्ति, सर्व्वेषां ज्ञानैकाकारत्वेन समानत्वादेवेति ॥ ८९ ॥

और, 'परमार्थः स्वमेवैकः.'- 'आप ही एक मात्र परमार्थ,'-इत्यादि श्लोकों में जो, समस्त जगत् की असत्यता ही प्रतिपादित हो रही है सो नहीं, परन्तु समस्त जगत् ही तदात्मक, सुतरां उनको परित्याग से समस्त जगत् असत्य हो जायगा, इतना ही मात्र यह श्लोक प्रतिपादन कर रहा है ।

'आपकी महिमा से यह चराचर मय जगत् परिव्याप्त हो रहा है'-इस श्लोक में भी जगत् की ब्रह्मात्मकता ही प्रतिपादित-हो रही है, क्योंकि, आप ही इस चराचर मय जगत् में व्याप्त हैं, अतएव, यह समस्त ही तदात्मक,-आप ही के स्वरूप आप को छोड़कर कुछ भी नहीं है । अतएव, सर्वात्मक रूप में आप ही एक मात्र सत्य पदार्थ इसीसे कहा

गया है कि, हे भगवान्, आप ही की महिमा से आप समस्त जगत् में व्याप्त हो रहे हैं। न चेत्, महिमा के बदले में भ्रान्ति कहना ही उचित् रहा। और इस पद्य में 'जगतः पते-त्वम्' इन पदों की भी लक्षणा करनी पड़ेगी,-जब जगत् ही असत्य तब फिर उसका पति कैसा ? सुतरां, पति शब्द का 'पालक' अर्थ न करके अन्य अर्थ लेना चाहिये। विशेषतः, जगत् असत्य होने पर, लीला के साथ महा वराह रूप में जो जगत् उद्धारक का स्तोत्र है सो भी विरुद्ध हो जायेगा, क्योंकि, असत्य का उद्धार, सो कैसे ? और, 'यदेतत दृश्यते' श्लोक का भी अभिप्राय यह है कि-जो कि आप ज्ञानमय रूप से इस समस्त जगत् में परि-व्याप्त हैं, तभी यह समस्त जगत् आप ही के मूर्त-स्थूल रूप। शास्त्रोक्त योग ही, आपको इस भाव में जानने के लिये, मात्र उपाय स्वरूप। योग-साधन-शून्य जो लोक, इस देवता मनुष्यादि मय जगत को आप से पृथक देखता है सो उनके वह ज्ञान सत्य नहीं-भ्रम मात्र वास्तविक में, ब्रह्मात्मक जगत् को जो केवल देव मनुष्यादि आकार में देखना ही भ्रम है सो नहीं, परन्तु, ज्ञान मय देव-मनुष्यादि (विशिष्ट) जगत् को केवल जड़ पदार्थाकार देखना सो य भी भ्रम है। यही अभिप्राय ज्ञान स्वरूप मखिलम्' वाक्य से व्यक्त किया गया।

और जो लोग बुद्धि सम्पन्न, ज्ञानमय आत्म तत्वाभिज्ञ तथा जगत् को भगवद्भाव में दर्शन करने के उपयुक्त साधनीभूत-योगयुक्त और विशुद्ध चित्त, उन लोग प्रकृति-परिणाम देवता मनुष्यादि शरीर रूप समस्त जगद् को ज्ञान स्वरूप आपके शरीर रूप ही दर्शन करतेहैं।

'येतु ज्ञान विदाः'-श्लोक में भी वही भाव व्यक्त भया है। इसको न मानने से पूर्वोक्त श्लोकों का पुनरुक्ति दोष होगा। श्लोकस्थ पदों की लक्षणा करनी पड़ेगी। मुख्यार्थ का विरोध होगा और प्रकरण तथा तात्पर्य का भी विरोध होगा।

तस्यात्म परदेहेषु सतोऽप्येकमयम्'-'वह, स्वदेह तथा परदेह में विद्यमान रहते हुये भी एक रूप'-इसमें भी, यही भाव उक्त भया कि, ज्ञान रूप में समस्त आत्मा समान एक रूप हो कर भी प्रकृति-परिणाम-देव मनुष्यादि विशेष आकृति सम्बन्ध निबन्धन तत् समुदय को ब्रह्म से पृथक रूप देखना सो सत्य नहीं, इतना ही मात्र प्रतिपादन किया ग किन्तु देह पिण्ड और आत्मा, में जो भेद सो उसकाप्रतिषेध नहीं किया गया। तात्पर्य यह है कि आत्मा,देवता मनुष्य प्रभृति नाना वि ध विचित्रपिण्ड में रह करके भी समान-

'वेणुरन्ध्र विभेदेन' इत्यत्रापि आकार वैषम्यमात्मनां न स्वरूपकृतम् ; अपितु देवादि पिण्ड-प्रवेशकृत मित्युपदिश्यते नात्मैक्यम् । दृष्टान्तेचानेक रन्ध्रवर्त्तिनां वाय्वंशानां न स्वरूपैक्यम् ; अपितु आकारसाम्यमेव । तेषां वायुत्वेनैकाकाराणां रन्ध्रभेद निष्क्रमणाकृतो हि षड्जादि संज्ञाभेदः । एवमात्मनां देवादि संज्ञाभेदः । यथा तैजसाप्यपार्थिव द्रव्यांशभूतानां पदार्थानां तत्तद्रव्यत्वेनैक्यमेव;न स्वरूपैक्यम् । तथाचायवीयानामंशानामपि स्वरूप भेदोऽवर्ज्जनीयः ।

'सोऽहं सच त्वम्' इतिसर्व्वात्मनां पूर्व्वोक्त ज्ञानाकारत्वं तच्छब्देन परामृश्य तत् सामानाधिकरण्येन 'अहंत्वम्' इत्यादीनामर्थानां ज्ञानमेवाकार इत्युपसंहरन, देवाद्याकारभेदेनात्मसु भेदमोहं परित्यजेत्याह । अन्यथा देहातिरिक्तात्मोपदेश्य स्वरूपे, 'अहं त्वं सर्व्वमेतदात्मस्वरूपम्' इति भेद निर्देशो न घटते । अहं त्वमादि शब्दानामुपलक्ष्येण सर्व्वमेतदात्मस्वरूपमित्यनेन सामानाधिकरण्यादुपलक्षणत्वमपि न संगच्छते । सोऽपि यथोपदेशमकरोदित्याह– तत्याज भेदं परमार्थ दृष्टिः' इति ।कुतश्चैष निर्णय इति चेत्; देहात्म विवेक-विषयत्वादुपदेशस्य । तच– 'पिण्डः पृथग् यतः पुंसः शिरः पाण्यादि-लक्षणः' । वि० पु० २–१३–८९ ॥ ९० ॥

एक रस । श्री भगवान भी जो कहे हैं ।पण्डित लोग कुक्कुर और चण्डाल में भी सम दर्शी होते हैं', 'ब्रह्म निर्दोष और सर्वत्र समान' इत्यादि 'वह, स्वीय और परकीय देह में रहते हुये भी सरूपन'। इन वाक्यों में,देह भिन्न वस्तुओं में उनका विभाग कथित भया ।

और, 'यदि हमारे सिवाय और भी कोई हो'–इस में भी, आत्मा की एकत्व मात्र प्रतीति नहीं होती है । यदि वैसा होता तो 'यदि अन्य पर' इसमें ।'अन्य' और 'पर' का एकत्र प्रयोग नहीं होता । उनमें से, (पर) शब्द से स्व-भिन्न आत्मा को कहा गया, और 'अन्य' शब्द से स्व व्यतिरिक्त आत्मा की एक मात्र ज्ञान रूपता प्रतिपादन पूर्वक (जड़ रूपता) की निषेध किया गया । इसका भी अभिप्राय यह है कि यदि हमसे अतिरिक्त कोई आत्मा हमारा ज्ञान रूप से भी पृथक होता तो, हम एक प्रकार और वह अन्य प्रकार-इत्यादि रूप-विभाग हो सकता था । किन्तु, ज्ञान रूप में समस्त आत्मा ही जब एक, तब फिर पूर्वोक्त विभाग को कैसे माना जाय ? ॥ ८९ ॥

'विभेद जनकेऽज्ञाने' इति च नात्म स्वरूपैक्यपरम्; नापि जीवपरयोः। आत्म स्वरूपैक्यम् उक्तरीत्या निषिद्धम्। जीव-परयोरपि स्वरूपैक्यं देहात्मनोरिव न सम्भवति। तथा च श्रुतिः,-

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ मुण्डः ३-१-१
'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्म विदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः'॥कठ ३-१
'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्व्वात्मा'इत्याद्या। यजुरारण्यके-३-२०

अस्मिन्नपिशास्त्रे-'ससर्व्व भूत प्रकृतिं विकारान् गुणादि दोषांश्च मुनेः व्यतीतः।
अतीत सर्व्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद् भुवनान्तराले'॥
'समस्त कल्याणगुणात्मकोऽसौ'; परः पराणां सकलानयत्र।
क्लेशादयः सन्ति परावरेशे'-वि० पु० ६।५।८३ ८५।
'अविद्या कर्म्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
यया क्षेत्रज्ञ शक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्व्वगा'॥ वि० पु० ६-७।६१-२।

इति भेद व्यपदेशात्। 'उभयेऽपिहि भेदे नैन मधीयते'। ब्र०सू० १-२-२१ 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः'। ब्र० सू० १-१-२२। 'अधिकन्तु भेदनिर्देशात्'। ब्र० सू० २-१-२२। इत्यादि सूत्रेषुच। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति'-वृहदा-५ ७-२२। 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः'। वृहदा-६-३-२१। 'प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ः'। वृहदा-६-३। इत्यादिभिरुभयोरन्योन्य प्रत्यनीकाकारेण स्वरूप निर्णयात्॥ ६१॥

और, पूर्वोक्त 'अज्ञान सम्पूर्ण विनष्ट होने से' यह वाक्य भी आत्मा का स्वरूपत्व एकत्व प्रतिपादन नहीं कर रहा है, किम्बा जीव तथा ब्रह्म का अभेद ज्ञापन भी नहीं कर रहा है। परन्तु, उक्त वाक्य से, पूर्वोक्त श्रुति स्मृति प्रमाणानुसार आत्मा का स्वरूपतः एकत्व ही निषिद्ध हो रहा है। वस्तुतः, देह और आत्मा में जैसे एकत्व सम्भव पर नहीं है, तैसे ही जीव और परमात्मा के भी एकत्व असम्भव है। निम्नोद्धृत श्रुति भी यही कह रही है।

नापि साधनानुष्ठानेन निर्म्मुक्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्य सम्भवः, अविद्याश्रयत्व योग्यस्य तदनर्हत्वा सम्भवात्। यथोक्तम् –

'परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते।
मिथ्यातदन्य द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः'॥ वि० पु० २-१४-२७।इति।

'दो पक्षी एक ही वृक्ष में रहते हैं, वे दोनों सहचर और सखा (समान) सो उभय में से एक परिपक्व पिप्पल को भोग करता है, और अपर सो भोग नहीं करता है–केवल दर्शन भर करता है, अर्थात् कर्म फल की साक्षी हैं'। 'ब्रह्मविद् तथा पञ्चाग्नि गण, और तीन वार जिन्होंने नाचिकेत अग्नि को चयन किये हैं, वह कहते हैं कि, इस लोक में पुण्य फल भोक्ता और छाया आलोक की न्याय (विरुद्ध स्वाभाव) दो वस्तु (जीव परमात्मा) बुद्धिरूप अत्युत्तम गुहा में प्रविष्ट होकर रह रहे हैं'। 'वह सर्वात्मक तथा सब के अन्तर में प्रविष्ट रह कर शासन करते हैं'। क्योंकि, इस विष्णु पुराण में भी 'वह (भगवान) सर्व भूतों का उपादान–प्रकृति और तद्विकार तथा सब प्रकार गुण दोष के अतीत, सर्व प्रकार ज्ञानावरण रहित और सर्वभूतों का आत्मा स्वरूप इस भुवन का समस्त वस्तु उनही करके परिव्याप्त हो रहा हैं'।'वह सब प्रकार मंगलमय गुणों से परिपूर्ण। श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठतर। उन सर्वेश्वर भगवान में क्लेशादि दोष नहीं है'।'हे नृपते, उन भगवान को अविद्याकर्म नामक एक तृतीय शक्ति है जिससे सर्वगत क्षेत्रज्ञ शक्ति भी वेष्टिता हो रही है'। इत्यादि श्लोकों में परस्पर भेद का उल्लेख है। 'काण्वशाख तथा माध्यन्दिन शाखी दोनों अन्तर्यामी को जीव से पृथक रूप में पाठ करतीहै'। श्रुति में, जीव और अन्तर्यामी को भेदोल्लेख रहने से (समझना चाहिये) अन्तर्यामी परमात्मा जीव से पृथक'। 'श्रुति में, भेद निर्देश रहने से ब्रह्म पदार्थ जीव से अधिक या पृथक'। इत्यादि सूत्रों में 'जो आत्मा में वर्तमान तथा आत्मा से पृथक, आत्मा जिनको नहीं जानता है, पथच, आत्मा ही जिनको शरीर–अभिव्यक्ति का स्थान जिन्होंने अभ्यन्तर में रह कर आत्मा को संयमित करते हैं'। 'यह जीव–प्राज्ञ–परमात्मा के साथ मिल कर (वाह्य तथा अभ्यन्तरीण कोई विषय को नहीं जान सकता') 'जीव प्राज्ञ–परमात्माधिष्ठित (होके गमन करता है') इत्यादिक श्रुतियों से जीव तथा परमात्मा के परस्पर विलक्षण रूप निरूपित हुवा है॥ ६१॥

इति। मुक्तस्यतु तद्धर्म्मतापत्ति रेवेति भगवद्गीतासूक्तम्,-

'इदंज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' ॥ गीता-१४-२-इति।
इहापि-'आत्म भावं नयत्येनं तद्ब्रह्म ध्यायिनं मुने।
विकार्य्यमात्मनः शक्त्या लोहमाकर्षको यथा' ॥ वि० पु० ६-७-३० इति।

आत्मभावमात्मनः स्वभावम्। न ह्याकर्षक स्वरूपापत्तिराकृष्यमाणस्य। वक्ष्यति च, 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च'। ब्र० सू० ४-४-१७। 'भोगमात्र साम्यलिंगाच्च'। ब्र० सू:४-४-२१-'मुक्तोपसृप्य व्यपदशाच्च' ब्र: सू:-१-३-२इति वृत्तिरपि जगद्व्यापार वर्ज समानो ज्योतिषा'इति। द्रमिड़भाष्यकारश्च 'देवता सायुज्यादशरीरस्यापि देवतावत् सर्व्वार्थसिद्धिः स्याद्' इत्याह।

श्रुतयश्च 'य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'। छान्दो-८-१-६। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'; 'सोऽश्नुते सर्व्वान् कामान सह ब्रह्मणा विपश्चिता'। तैत्ति-आनन्द-१-१-२। एतमानन्द-मयमात्मान मुपसंक्रम्य इमान् लोकान् कामान्नीकामरूप्यनुसञ्चरन्'। तैत्ति-भृगु-१०-५। 'स तत्र पर्य्येति'। छान्दो ८-१२-३। रसो वै सः। रसंह्येवायं लब्ध्वा-नन्दी भवति'। तैत्ति-आनन्द-७-१।

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परंपुरुषमुपैति दिव्यम्' ॥ मुण्ड ३-२-८।
'तदाविद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य मुपैति ॥ मुण्ड-३-१-३।
इत्याद्याः ॥ ६२ ॥

और साधन विशेष अनुष्ठान से अविद्या नाश होने पर जीव को परब्रह्म के साथ एकता भी कभी सम्भव पर नहीं, क्यों कि अविद्या की जब, जीव को आश्रय करने की योग्यता है, तब, उस आक्रमण से बचने के लिये जीव को कोई उपाय नहीं है, (सुतरां अविद्या सम्बद्ध जीव परमात्मा की एकता नहीं पा सकती)। श्रीविष्णु पुराणे-'जीव और

परमात्मा की एकता को परमार्थ मानना सो मिथ्या है। कारण-अन्यद्रव्य कभी अन्य द्रव्यत्व को नहीं लाभ कर सकता। मुक्त पुरुष जो भगवद्गुण मात्र ही प्राप्त होता है सो गीताजी में भी स्पष्टतः उक्त भया है-'इस प्रकार ज्ञान अवलम्बन से जोसब हमारे समान धर्म को लाभ करते हैं, सो सब पुनः सृष्टि काल में जन्म धारण नहीं करते, और प्रलय में भी व्यथित नहीं होते हैं।' श्री विष्णु पुराण में भी-'आकर्षक अग्नि जैसे स्वीय शक्ति प्रभाव से विकार्य (धातुओं) को, आत्मभाव प्राप्त कराते हैं वैसे ही परब्रह्म भी स्वशक्ति प्रभाव से उपासकों को आत्म स्वभाव प्राप्त कराते हैं। यहां पर, 'आत्म भाव, शब्द का अर्थ अपना स्वभाव (तत्वतः एकता)-(स्वरूपतः एकत्व नहीं)। क्यों कि, आकृष्यमान लौह स्वरूपतः अग्नि कभी नहीं हो सकता। इस ब्रह्मसूत्र में भी कहा जायगा-'मुक्त पुरुष, केवल जगत् निर्माण भिन्न, और समस्त कार्यमें समस्त समता लाभ करते हैं, कारण,-वैसा ही प्रकरण, और जगत् रचना की बात भी यहां नहीं है।' 'केवल भोग-विषय में ही, ब्रह्म के साथ मुक्त पुरुष को साम्य या सादृश्य है।' और 'मुक्तात्मा उनको प्राप्त होते हैं-ऐसा उल्लेख रहने से भी (समझा जाता है कि जीव ब्रह्म का स्वरूपतः एकत्व नहीं होता)।' 'जगद्व्यापार वर्ज्जम्'-सूत्र की वृत्ति में भी है-'जगत् रचना की शक्ति नहीं प्राप्त होते (मुक्तात्मा) केवल ज्योति से ही भगवत् समान होते हैं।' द्रमीण भाष्यकार भी कहे हैं-'भगवत् सायुज्य लाभ से, मुक्त पुरुष भी भगवत् सम सब विषय में सिद्धि लाभ करते हैं।'

'जिन्हों ने उक्त प्रकार आत्मा को और पूर्वोक्त'सत्य कामना को जान कर इह लोक से प्रमाण करते हैं, वह लोग सर्व जगत में स्वाधीनता लाभ करते हैं। 'ब्रह्मज्ञ पुरुष परमात्मा को प्राप्त होते हैं।' 'वह (मुक्त ब्रह्मज्ञ) पुरुष सर्वज्ञ ब्रह्म के समस्त अभीष्ट फलों को भोग करते हैं।' 'यह आनन्दमय आत्मा को पाय के इच्छानुसार सर्व प्रकार काम्य फल को भोगते है।' 'वह (ब्रह्म) रस स्वरूप। जीव वह रसमय को पाकर आनन्दवान होता है' 'नदी समस्त जैसे निज निज नाम रूप परित्याग करके समुद्र में अस्तमित होता है, उसी तरह ब्रह्मज्ञ पुरुष नाम रूप से विमुक्त होकर उन परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होते हैं।' 'उसी प्रकार विद्वान् पुरुष पाप पुण्य को परित्याग करके और सर्व प्रकार दोष विमुक्त होकर अतिशय समता लाभ करते हैं।' इत्यादि श्रुति समूह भी पूर्वोक्त साम्यवाद ही को समर्थन कर रहे हैं। ५२।

परविद्यासु सर्वासु सगुण मेव ब्रह्मोपास्यम्, फलं चैकरूपमेव। अतो विद्या-विकल्प इति सूत्रकारेणैव 'आनन्दादयः प्रधानस्य' । ब्र॰ सू॰ ३-३-११ । 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' ब्र॰ सू॰ ३-३-५९ । इत्यादिपूक्तम्। वाक्यकारेणच सगुणस्यैवोपास्यत्वं विद्याविकल्पश्चोक्तः, 'युक्तं तद्गुणकोपासनात्' इति। भाष्य-कृता (द्रमिड़ेन) व्याख्यातं च. 'यद्यपिसच्चित्तः' इत्यादिना।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'-मुण्ड-३-२-९ । इत्यत्रापि 'नाम रूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' । मुण्डः-३-२-८ । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति मुण्ड ३-१-३ । 'परं ज्योति रूप सम्पद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'। छान्दो-८-१२-२ । इत्यादिभिरैकार्थ्यात् प्राकृत-नाम रूपाभ्याम्विनिर्म्मुक्तस्य निरस्ततत्कृतभेदस्य ज्ञानै-काकारतया ब्रह्मप्रकारतोच्यते। प्रकारैक्ये च तत्त्वव्यवहारो मुख्य एव; यथा,-सेयं गौरिति। अत्रापि,-

'विज्ञानम्प्रापकम्प्राप्य परे ब्रह्मणि पार्थिव ।

प्रापणीय स्तथैवात्मा प्रक्षीणाशेषभावनः' ॥ विष्णुपुराण-६-७-९३

इति । परब्रह्म ध्यानादात्मा परब्रह्मवत्, प्रक्षीणाशेष भावनः, कर्म्म भावना-ब्रह्मभावनोभयभावनेति भावनात्रयरहितः प्रापणीयः इत्यभिधाय,-'क्षेत्रज्ञःकरणी, ज्ञानं करणं तस्यवैद्विज ।

निष्पाद्य मुक्तिकार्य्यं वै कृतकृत्यं निवर्त्तयेत् ॥' वि॰ पु॰६-७-९४ । इति करणस्य परब्रह्म-ध्यानरूपस्य प्रक्षीणाशेषभावनात्मस्वरूप-प्राप्त्या कृतकृत्यत्वेन निवृत्ति वचनात् यावत् सिध्यनुष्ठेयमित्युक्त्वा--

'तद्भावभावमापन्नस्तदासौ परमात्मना ।

भवत्यभेदो, भेदश्च तस्याज्ञानकृतो भवेत्' ॥ वि॰ पु॰ ६-७-९५ ।

इति मुक्तस्य स्वरूपमाह। तद्भावः--ब्रह्मणो भावः--स्वभावः नतु स्वरूपै-क्यम्; तद्भाव भाव मापन्न इति द्वितीय भावशब्दानन्वयात् पूर्व्वोक्तार्थविरोधा-च्च। यद् ब्रह्मणः प्रक्षीणाशेषभावनत्वं, तदापत्तिः--तद्भाव भावापत्तिः । यदैव मापन्नः, तदायंपरमात्मना अभेदी भवति,--भेदरहितोभवति। ज्ञानैकाकारतया पर-

मात्मनैक प्रकारस्यास्य तस्माद्भेदो देवादि रूपः । तदन्वयोऽस्य कर्म्म रूपाज्ञान-मूलः, न स्वरूपकृतः । सतु देवादि भेदः परब्रह्मध्यानेन मूलभूताज्ञान रूपे कर्म्मणि विनष्टे हेत्वभावान्निवर्त्तत इत्यभेदी भवति ।

यथोक्तम्— एकस्वरूप भेदस्तु वाह्यकर्म्मप्रवृत्तिजः ।

देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवावरणोहिसः' ॥ वि० पु० २-१४-३३ ।

इति । एतदेव विवृणोति,–'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकंगते ।

आत्मणोब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति' ॥ इति । विविधो भेदो विभेदः, देव तिर्यङ्मनुष्य-स्थावरात्मकः । यथोक्तं शौनकेनापि,–'चतुर्विधोपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञान निवन्धनः' ॥ विष्णु धर्म्म-१००-२१ । इति । आत्मनि विज्ञानस्वरूपे देवादिरूप विविधभेद-हेतु भूतकर्म्माख्याज्ञाने परब्रह्मध्यानेनात्यन्तिक नाशं गते सति, हेत्वभावादसन्तं परस्माद् ब्रह्मणात्मनो देवादि रूपं भेदं कःकरिष्यतीत्यर्थः । 'अविद्या कर्म्म संज्ञान्या' । इति ह्यत्रैवोक्तम् ॥ ९३ ॥

समस्त परविद्या में सगुण ब्रह्म ही मात्र, (उपासक को) उपास्य और ब्रह्म सारूप्य लाभ ही उसकी फल प्राप्ति, (किन्तु एकत्व नहीं) । इसी कारण से, स्वयं सूत्रकारवेद-व्यासजी भी 'आनन्दादयः प्रधानस्य'—'सत्य, ज्ञान तथा आनन्दादि गुण समूह प्रधान—ब्रह्म सम्बन्ध में ग्रहनीय ।' और, 'विकल्पोऽविशष्टफलत्वात्'– जब सर्वत्र ही फल समान, तब श्री गुरु प्रदर्शित भाव में कोई भी विद्या ग्रहण की जा सकती' । इन दोनों सूत्रों में विद्या-उपासना सम्बन्ध से विकल्प विधि विहित किये हैं । वाक्याकार भी (श्री टंकजी श्री द्रमीड़ाचार्य्य जी से भी प्राचीन विशिष्टाद्वैतवादी) 'युक्तं तद्गुणकोपासनात्'–'उपासक को सगुण उपासना से सगुण ब्रह्म ही प्राप्तिरूप'–इस वाक्य से सगुण का उपास्यत्व तथा विद्या के वारे भी विकल्पत्व निर्देश किये हैं । भाष्यकार द्रमीणाचार्य्य भी 'यद्यपि सचत्तः'-सद्विद्या निरत'–इत्यादि वाक्यों में उक्त अभिप्राय को कहे हैं ।

और, (ब्रह्मवित् पुरुष) नाम रूप को परित्याग करके परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त होते हैं ।' 'सर्वदोष विनिर्मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ अत्यन्त साम्य या समान धर्म को प्राप्त होते हैं'। और, 'जीव, परज्योति परमात्मा को पाकर स्वरूप लाभ करता है ।' इत्यादि

श्रुतियों के साथ एक वाक्यतानुसार समझना चाहिये कि 'ब्रह्मवित् पुरुष ब्रह्म ही होते हैं'– इस श्रुति में भी (मुक्त और ब्रह्म को अभेद नहीं कहा गया, परन्तु मुक्तावस्था में) जीव को प्राकृत नाम रूप विलुप्त हो तज्जनित भेद बुद्धि भी विनष्ट हो जाती है, सुतरां तत् समय पर एकाकार ज्ञान की विकाश होती है, इस भाव में मुक्त पुरुष तथा ब्रह्म में जो एकता सोइ अभिहित होती है–अभेद नहीं। एक ही प्रकार, विभिन्न वस्तुओं में भी एकत्व व्यवहार मुख्य या गौड़ रूप में ही होता है। जैसे एक गौ–दर्शन के बाद द्वितीयवार अपर गो–दर्शन में भी 'यह वही गौ' कहके उभय का एकत्व व्यवहार किया जाता है, पूर्वोक्त श्रुतियों में भी उसी रूप एकत्व व्यहार किया गया है।

और, श्रीविष्णुपुराण में भी 'हे राजन' परब्रह्म ही जीवों का प्राप्य या मात्र गन्तव्य, और, विज्ञान ही मात्र प्रापक या प्राप्ति की उपाय। और, सर्व भावना विहीन आत्मा भी परब्रह्म ही के न्याय प्राप्य।' परब्रह्म का ध्यान करते करते जिनकी आत्मा परब्रह्मवत् शेष भावना विहीन कर्म–भावना, ब्रह्म भावना–यह उभय भावना, और कर्म ब्रह्म यह भावना त्रय रहित तिनको प्रापणीय रूप।–यही जानना चाहिये। फिर कहे हैं हे द्विज, देवज्ञ (जीव) करणी (उपासक) और ज्ञान–उपासना करण अर्थात् मुक्ति की साधन रूप, मुक्ति सिद्धि की वाद कृतकृत्य होकर निवृत्त होना चाहिये।; यह कहा गया कि, परब्रह्म की उपासना रूप ज्ञान जब पूर्वोक्त भावना त्रय विरहित आत्मा का स्वरूप लाभ करके कर्तव्य शेष करेंगे- कृतार्थ होंगे, तभी उससे निवृत्त होना चाहिये। अतएव जब तक फल सिद्धि न होय तब तक ज्ञानानुष्ठान अवश्य करणीय। इसके बाद मुक्त पुरुष के स्वरूप निरूपणार्थ कहे गये–'तद्भाव–भाँव' प्राप्त–यह उपासक उस समय (सिद्धि समय) परमात्मा के साथ अभिन्न होते हैं, परन्तु 'अज्ञान वशतः उसमें भेद भी रहता है।' यहां पर तद्भाव शब्द का अर्थ ब्रह्म का भाव–स्वभाव, किन्तु स्वरूपतः एक्य नहीं। न चेत् 'तद्भाव भावम्' में द्वितीय 'भाव' शब्द का कोई सार्थकता नहीं रह जायगी। अधि· कन्तु पूर्वोक्त भेद बोधक वाक्यार्थ के साथ भी विरोध पड़ेगा। अतएव, समझना चाहिये कि, ब्रह्म का जो सर्व प्रकार भावना राहित्य तत् प्राप्ति ही यहां 'तद्भाव भावापत्ति' की तात्प· यार्थ। उपासक जब एवम्विध भाव को प्राप्त होते हैं तब वह परमात्मा के साथ अभिन्न होते

पृथगवस्थानं प्रतिषिध्यते,-'न तदस्ति विना यत् स्यात्'-इति, भगवद्विभुत्युपसंहार-श्चायमिति तथैवाऽभ्युपगन्तव्यम्। तत इदमुच्यते,-

'यद्यद्विभुतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्त्वदेवावगच्छत्वं ममतेजोंऽश-सम्भवम् विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितोजगत्॥' गी०-१०।४१-४२। इति। अतः शास्त्रेषु न निर्व्विशेषवस्तु-प्रतिपादनमस्ति; नाप्यर्थजातस्य भ्रान्तत्व प्रति पादनम्; नापि चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदनिपेधः॥ ६४॥

'सर्व शरीर में हम ही को क्षेत्रज्ञ करके जानना-' इत्यादि वाक्यों से स्वयं भगवान भी अन्तर्य्यामि रूप में ही सर्व आत्मा में अपना एकत्व निर्देश किये हैं। अन्यथा-'समस्त भूत वर्ग को क्षर और कूटस्थ को अक्षर कहा जाता है'- किन्तु, उत्तम पुरुष उक्त क्षर, अक्षर से भिन्न',-इत्यादि वाक्यों के साथ विरोध होगा। ब्रह्म, जो, अन्तर्यामि रूप में ही सर्व भूतों का आत्म-स्वरूप-यह भी श्री भगवान वहां ही कहे हैं—'हे अर्जुन, परमेश्वर सर्व भूतों का हृदय 'प्रदेश में बास करते हैं और हम सर्व भूतों का हृदय ही में रहता हूँ।' और भी 'हे जितनिद्र, मैं ही सब भूतों का हृदयस्थित-आत्मा।' यहां पर भी वही बात कही गयी। श्लोक-स्थ 'भूत' शब्द-सो देहात्म समष्टि वाचक जो कि, वही सब भूतों का आत्मा, सुतरां समस्त भूत वर्ग ही उनके शरीर स्थानीय, सोई, उनको छोड़ के--पृथक भाव से भूतों का अवस्थित की निषेध करके कह रहे हैं-'हमको छोड़ के रह सके ऐसा कुछ भी जगत् में नहीं है'। विशेषतः यह जब, पूर्वोक्त भगवद् विभूति की ही उप संहार वाक्य, तब इसकी यथोक्त अभिप्राय को मानना उचित है। इसी वास्ते श्री भगवान और भी कहे हैं-जो जो वस्तु ऐश्वर्य विशेष सम्पन्न, श्रीमान तथा अलौकिक प्रभाव सम्पन्न, सो समस्त ही हमारा तेज का अंश से सम्भूत'। 'हम एकांश से इस समस्त जगत् में व्याप्त हो रहा हूँ।' अतएव, समझना चाहिये शास्त्र का कहीं भी निर्विशेष ब्रह्म विषयक उपदेश नहीं है, और संसारिक पदार्थों का मिथ्यात्व भी नहीं कहा गया, और, चित् अचित् तथा ईश्वर का स्वरूपतः भेद को भी प्रतिषेध नहीं किये गये। ६४॥

यद्यप्युच्यते,–निर्विशेषे स्वयम्प्रकाशे वस्तुनि दोषपरिकल्पितमीशेशितव्या-द्यनन्त विकल्पं सर्वं जगत्। दोषश्च स्वरूप–तिरोधानविविधविचित्र विक्षेपकरी सदसदनिर्व्वचनीयानाद्यविद्या । साचावश्याभ्युपगमनीया; 'अनृतेनहि प्रत्यूढ़ाः' छान्दोः ८-३-२। इत्यादिभिः श्रुतिभिर्ब्रह्मणः तत्वमस्यादि वाक्य सामानाधिकरण्यावगतजीवैक्यानुपपत्त्याच। सातु न सती, भ्रान्ति–बाधयोरयोगात्। नाप्यसती, ख्यातिबाधयोश्चायोगात्। अतः कोटिद्वय-विनिर्मुक्तेयमविद्येति तत्त्वविद इति।

तदयुक्तम्; साहि किमाश्रित्य भ्रमं जनयतीति वक्तव्यम्। न ताबज्जीवमाश्रित्य; अविद्यापरिकल्पितत्वाज्जीवभावस्य। नापि ब्रह्माश्रित्य, तस्यस्वयम्प्रकाश–ज्ञानरूपत्वेनाविद्या–विरोधित्वात्। साहिज्ञानबाध्याभिमता।

'ज्ञान रूपम्परम्ब्रह्म तन्निवर्त्यं मृषात्मकम् ।
अज्ञानञ्चेत् तिरस्कुर्य्यात् कः प्रभुस्तन्निवर्त्तने ॥
ज्ञानं ब्रह्मेतिचेज् ज्ञान मज्ञानस्य निवर्त्तकम् ।
ब्रह्मवत् तत् प्रकाशत्वात् तदपि ह्यन्निवर्त्तकम् ॥
ज्ञानं ब्रह्मेति विज्ञानमस्तिचेत् स्यात् प्रमेयता ।
ब्रह्मणोऽनुभूतित्वं त्वदुक्त्यैव प्रसज्यते' ॥ नाथ मुनि ॥

ज्ञानस्वरूपम्ब्रह्मेति ज्ञानं तस्या अविद्याया बाधकं न स्वरूपभूतं ज्ञानमिति चेत्; न उभयोरपि ब्रह्मस्वरूप–प्रकाशत्वेसति, अन्यतरस्य विरोधित्वमन्यतरस्य नेति विशेषानवगमात्। एतदुक्तम्भवति,–ज्ञानस्वरूपम्ब्रह्मेत्यनेन ज्ञानेन ब्रह्मणो यः स्वभावोऽवगम्यते, सब्रह्मणः स्वयम्प्रकाशत्वेन स्वयमेव प्रकाशत इत्यविद्या–विरोधित्वे न कश्चिद्विशेषः स्वरूप तद्विषयज्ञानयोरिति ॥ ६५ ॥

(निर्विशेष वाद में) और जो कहा जाता है कि, मात्र ईश्वर ही शासनकर्ता, अपर समस्त उनका इशितव्य-शासनाधीन इत्यादि प्रकार विविध भेद सम्बलित यह समस्त जगत् ही स्वयं प्रकाशमान, निर्विशेष ब्रह्म में दोष-कल्पित मिथ्या मात्र। प्रकृति पक्ष में सोइ दोष ही ब्रह्म का स्वरूप आच्छादक और विविध विक्षेप-सृष्टि के हेतु और सत् या असत् रूप से अनिर्वचनीय। सो, वह अविद्या भिन्न कुछ भी नहीं। पूर्वोक्त 'अनृतेनहि

प्रत्यूढ़ाः' इत्यादि श्रुति अनुसार उस अविद्या का अस्तित्व अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये। अस्वीकार करने से 'तत् त्वम् असि' इत्यादि वाक्यों में जो जीव ब्रह्म का एकत्व प्रतीति सो भी संगत नहीं होगी। वह अविद्या सत् नहीं हो सकते,-क्यों कि, ऐसा होने से उसकी भ्रान्तत्व तथा ज्ञानबाध्यत्व नहीं हो सकता। और, अविद्या असत् भी नहीं हो सकते, यदि असत होते तो उसकी सामयिक प्रतीति तथा बाधा भी कभी न होते। इसी से तत्वविद् गण कहते हैं 'यह अविद्या सत् भी नहीं, असत् भी नहीं-विलक्षण या अनिर्वचनीय पदार्थ,

सो, यह बात युक्ति युक्त नहीं है। वह अविद्या किसके आश्रय पर भ्रम उत्पादन करती है, सो कहना चाहिये। जीव के आश्रय से-सो नहीं कह सकते, क्यों कि जीव-भाव भी अविद्या कल्पित। ब्रह्म के आश्रित हो के भी भ्रम नहीं उपजा सकते, क्यों कि, वह स्वयं प्रकाशमान ज्ञान स्वरूप तिसमें अविद्या फिर ज्ञानबाध्य अर्थात् ज्ञान के साथ रह नहीं सकती। सुतरां ब्रह्म अविद्या-विरोधी-अविद्या उनको आश्रय नहीं कर सकती। श्री नाथ मुनि जी कहे हैं-'परब्रह्म ज्ञान स्वरूप, मिथ्यामय अज्ञान उनका निवर्त्य। यदि, अज्ञान वह ज्ञानमय ब्रह्म को ही आवृत करै तो फिर उसका निवारण कौन करेगा?' यदि कहिये 'ब्रह्मज्ञान स्वरूप'-इस प्रकार ज्ञान-बुद्धि वृत्ति ही उस अज्ञान का निवर्तक-(ब्रह्म का स्वरूप-भूत ज्ञान नहीं)। तब भी वह ज्ञान अज्ञान का निवारक नहीं हो सकते, क्यों कि, वह ज्ञान भी ब्रह्मज्ञान ही की न्याय केवल प्रकाश मात्र। अर्थात् प्रकाशात्मक ब्रह्म ही जब अज्ञान निवृत्ति नहीं कर सका, तब, उसी की आभासमात्र जो ज्ञान सोई कैसे उस अज्ञान को नाश करैगा? पुनः, यदि कहा जाय कि, 'ब्रह्म ज्ञान स्वरूप'-इस भाव में भी ब्रह्म विषय में विशेष ज्ञान होता है, अर्थात् ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप जानने ही से तद्विषयक अज्ञान को निवारण हो जाता। सो उससे भी ब्रह्म प्रमेय-ज्ञेय पदार्थ हो जायगा। सुतरां आप ही के बातों से ब्रह्म को अननुभूतित्व-(ब्रह्म मात्र ज्ञान स्वरूप)-अज्ञेय नहीं सो सिद्ध हो रहा है। उल्लिखित श्लोकों का भावार्थ—

यदि कहिये 'ब्रह्म ज्ञानस्वरूप' इस प्रकार ज्ञान ही अविद्या की निवर्तक-ब्रह्म का स्वरूप भूत ज्ञान, निवर्तक नहीं। नहीं ऐसा कह नहीं सकते। क्यों कि, ब्रह्म का स्वरूप भूत ज्ञान तथा उक्त प्रकार ज्ञान इन उभय का ही, जब, प्रकाश रूपता समान तब एक,

किञ्च, अनुभव स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभवान्तरामनुभाव्यत्वेन भवतो न तद्विषयं ज्ञानमस्ति। अतो ज्ञानमज्ञान विरोधिचेत्; स्वयमेव विरोधि भवतीति नास्याब्रह्माश्रयत्वसम्भवः। शुक्त्यादयस्तु स्वयाथात्म्य-प्रकाशे स्वयमसमर्थाः स्वाज्ञानाविरोधिनस्तन्निवर्तने च ज्ञानान्तरमपेक्षन्ते। ब्रह्मतु स्वानुभवसिद्धयाथात्म्यम्, इति स्वाज्ञानविरोध्येव। तत एव निवर्तकान्तरञ्च नापेक्षते। अथोच्यते, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानमज्ञानविरोधीति। न, इदं ब्रह्मव्यतिरिक्त-मिथ्यात्वज्ञानं किं ब्रह्मयाथात्म्याज्ञानविरोधि ? उतप्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानविरोधीति विवेचनीयम्। न तावत् ब्रह्मयाथात्म्या ज्ञानविरोधि, अतद्विषयत्वात्। ज्ञानाज्ञानयोरेक विषयत्वेनहि विरोधः। प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानञ्च तत् सत्यत्वरूपाज्ञानेन विरुध्यते। तेन प्रपञ्चसत्यत्वरूपाज्ञानमेववाधितमिति ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं तिष्ठत्येव। ब्रह्मस्वरूपाज्ञानं नाम तस्य सद्वितीयत्वमेव। तत्तु तद्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वज्ञानेन निवृत्तम्। स्वरूपन्तु स्वानुभवसिद्धमिति चेत्; न ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं स्वरूपं स्वानुभवसिद्धमिति तद्विरोधि सद्वितीयत्वरूपाज्ञानं तद्बाधश्च न स्याताम्। अद्वितीयत्वं धर्म्म इति चेत्; न अनुभव स्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनुभाव्य-धर्म्मविरहस्य भवतैवोपपादितत्वात्। अतो ज्ञान स्वरूपस्य ब्रह्मणो विरोधादेवनाज्ञानाश्रयत्वम्।

किञ्च, अविद्ययाप्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मतिरोहितमिति वदता स्वरूप नाशएवोक्तः स्यात्। प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्ति-प्रतिबन्धः विद्यमानस्य विनाशो वा। प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाभ्युपगमेन प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एव ॥ ६६ ॥

उनमें से, सो अज्ञान विरोधी और अपर, सो नहीं इस प्रकार वैलक्षण्य तो जाना नहीं जा रही है। अभिप्राय यह है कि 'ब्रह्म ज्ञान स्वरूप' इस ज्ञान से ब्रह्म का जो स्वभाव जाना जा रहा है, ब्रह्म स्वप्रकाश रहने से उनकी स्वभाव सिद्ध सो ज्ञान भाव, सो भी निश्चय करके स्वप्रकाश होनी चाहिये। अतएव, स्वरूप और स्वरूप विषयक ज्ञान, उभय का तुल्य रूप प्रकाश धर्म रहते हुये भी, अविद्या निवारण विषय में, दोनों के बीच कोई सा फरक नहीं पाया जाता है। ६५ ॥

और भी बात यह है कि, आप (श्रीशंकर) के मत में, ब्रह्म स्वयं ही अनुभव स्वरूप-तद्विषय में कोई अनुभवान्तर नहीं है, सुतरां उस विषय में कोइ ज्ञान भी नहीं है। ज्ञान. यदि स्वभावतः ही अज्ञान विरोधी हो, तब तो स्वभाव विरुद्ध ज्ञान मय ब्रह्म को, अज्ञान कभी भी आश्रय नहीं कर सकता। शुक्ति-रजतादि की शुक्ति प्रभृति जड़ पदार्थों ने स्वीय यथार्थ रूप प्रकाश करने में असमर्थ, सुतरां, स्वविषयक अज्ञान की विरोधी नहीं, कार्यतः-तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति में ज्ञान की अपेक्षा रहती है, किन्तु, ब्रह्म का जो प्रकाशमय स्वरूप सो तो स्वानुभव सिद्ध, सुतरां अज्ञान-विरोधी, अर्थात् ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरोधी-कोई किसी की आश्रय नहीं हो सकते। इसी वास्ते, अज्ञान निवृत्ति के लिये और कोई साधन की भी अपेक्षा नहीं करते।

(यदि कहिये कि ब्रह्मातिरिक्त पदार्थ की जो मिथ्यात्व ज्ञान-सोई अज्ञान विरोधी,-ज्ञान मात्र नहीं। नहीं, सो भी कह नहीं सकते, क्यों कि, ब्रह्मातिरिक्त पदार्थ की मिथ्यात्व ज्ञान सो क्या ब्रह्म की याथात्म्य-प्रतिरोधक-अज्ञान की विरोधी? न कि, जगत् सत्यता रूप अज्ञान की विरोधी? सो विवेचना करनी चाहिये।)

अभिप्राय यह है कि, उक्त मिथ्यात्व ज्ञान-सो क्या ब्रह्म का प्रकृत स्वरूप को न जानना रूप अज्ञान को निवारण करता है, किम्वा, इस जगत् प्रति जो सत्यत्व भ्रमरूप अज्ञान है, मात्र उसीको विनष्ट करता है? तिनमें, अज्ञान जब ब्रह्म विषय में समुत्पन्न ही नहीं हो सकता, तब उक्त ज्ञान, ब्रह्म का यथायथ स्वरूपावरक ज्ञान की विरोधी भी नहीं हो सकती। इसमें कारण यह है कि, ज्ञान और अज्ञान एक ही विषय में विरुद्ध होता है,-भिन्न भिन्न विषय में विरुद्ध नहीं होता। जगत्-मिथ्यात्व ज्ञान सो जगत् सत्यत्व प्रतीति रूप अज्ञान ही की विरोधी, अतएव, पूर्वोक्तज्ञानद्वारा जगत सत्यत्व प्रतीति रूप अज्ञान ही बाधित हो सकता, किन्तु ब्रह्म विषयक जो अज्ञान सो रह ही जा सकता। ब्रह्म विषयक अज्ञान-अद्वितीय ब्रह्म को सद्वितीय जानना। ब्रह्मातिरिक्त पदार्थों की मिथ्यात्व ज्ञान से, केवल वही अज्ञान निवारित होती है-ब्रह्म--स्वरूपावरक अज्ञान रह ही जाता है। सद्वितीयत्व भ्रम मात्र निवृत्त होता है। यदि कहिये, कि, ब्रह्म स्वरूप सो तो, प्रमाणादि सापेक्ष नहीं, सो मात्र अनुभवगम्य, (सुतरां उस विषय में अज्ञान की सम्भावना ही नहीं)

अपि च, निर्व्विषया निराश्रया स्वप्रकाशेयमनुभूतिः स्वाश्रय-दोषवशादनन्ताश्रयमनन्त विषयमात्मानमनुभवतीति, अत्र किमयं स्वाश्रयदोषः परमार्थभूतः? उतापरमार्थभूतः? इति विवेचनीयम्। न तावत् परमार्थोऽनभ्युपगमात्। नाप्यपरमार्थः, तथाहिसति द्रष्टृत्वेन वा दृश्यत्वेन वा दृशित्वेन वा अभ्युपगमनीयः। न तावत् दृशिः, दृशिस्वरूपभेदानभ्युपगमात्। भ्रमाधिष्ठानभूतायास्तु साक्षात् दृशेर्म्माध्यमिकपक्षप्रसंगेनअपारमार्थ्यानभ्युपगमाच्च। द्रष्टृ-दृश्ययोः तदवच्छिन्नाया-दृशेश्च काल्पनिकत्वेन मूलदोषान्तरापेक्षया ऽनवस्थास्तात्। अथैतत्परिजिहीर्षया परमार्थ सत्यनुभूतिरेव ब्रह्मस्वरूपा दोष इति चेत्; ब्रह्मैवचेत् दोषः; प्रपञ्चदर्शनस्यैव तन्मूलंस्यात्; किं प्रपञ्च-तुल्याविद्यान्तर-कल्पनेन? ब्रह्मणोदोषत्वेसति तस्य नित्यत्वेनानिर्म्मोक्षश्च स्यात्। अतो यावद् ब्रह्मव्यतिरिक्तपारमार्थिकदोषानभ्युपगमः; न तावद् भ्रान्तिरुपपादिताभवति ॥ ६७ ॥

नहीं, यों होने से--अद्वितीयत्व भी जब ब्रह्म का एक स्वरूप, तब, वह भी स्वानुभव सिद्ध, सुतरां तद्विषय में सद्वितीयत्व भ्रम रूप अज्ञान भी आ नहीं सकती, और उस अज्ञान की बाधा भी नहीं हो सकती। यदि कहिये कि, उक्त अद्वितीयत्व भाव सो ब्रह्म का स्वरूप नहीं--धर्म्म मात्र। नहीं, यह भी ठीक नहीं, क्यों कि ब्रह्म स्वयं अनुभव स्वरूप, अथ च, उनका अद्वितीयत्व-धर्म सो अनुभाव्य, किन्तु, अनुभव स्वरूप ब्रह्म में, जो, अनुभाव्य कोई धर्म आ नहीं सकते, सो, पूर्व प्रसंग में आप ही समर्थन किये हैं। अतएव अज्ञान विरोधी ब्रह्म कभी अज्ञान के आश्रय नहीं हो सकते। और भी, मात्र प्रकाश स्वभाव ब्रह्म का स्वरूप यदि अविद्या से आवृत या तिरोहित ही हो, तब तो प्रकारान्तर से, ब्रह्म का स्वरूप ध्वन्स ही आप को मानना पड़ा। प्रकाश की तिरोधान कहने में--यातो प्रकाशोत्पत्ति की बाधा, नहीं तो विद्यमान प्रकाश की नाश जानना चाहिये। तिनमें से--आपके मत में भी, ब्रह्म प्रकाश जब उत्पन्न नहीं होता, तब, 'प्रकाश-तिरोधान' से प्रकाश की विनाश ही समझना चाहिये। ६६ ॥

अनिर्व्वचनीयत्वं च किमभिप्रेतम् ? सदसद् विलक्षणत्वमिति चेत्; तथाविधस्य वस्तुनः प्रमाण शून्यत्वेनानिर्व्वचनीयतैव स्यात्। एतदुक्तम्भवति,—सर्व्वंहि वस्तुजातंप्रतीति व्यवस्थाप्यम्, सर्व्वा च प्रतीतिः सदसदाकारा, सदसदाकारायाः प्रतीतेः सदसद्विलक्षणं विषय इत्यभ्युपगम्यमानेसर्व्वं सर्व्वप्रतीतेर्विषयः स्यादिति।

अथ स्यात्, वस्तुस्वरूप-तिरोधानकरमान्तरवाह्यरूपविविधाध्यासोपादानं सदसदनिर्व्वचनीयमविद्याज्ञानादिपदवाच्यं वस्तुयाथात्म्यज्ञाननिवर्त्यं ज्ञानप्रागभावातिरेकेण भावरूपमेवकिञ्चिद् वस्तु प्रत्यक्षानुमाभ्यां प्रतीयते। तदुपहित-ब्रह्मोपादानश्चाविकारे स्वप्रकाशचिन्मात्रवपुषि तेनैव तिरोहितस्वरूपे प्रत्यगात्मन्यहंकारज्ञान ज्ञेय-विभागरूपोऽध्यासः। तस्यैवावस्थाविशेषेणाध्यासरूपे जगतिज्ञानवाध्य सर्प-

---

अपिच, 'अनुभूति स्वयं निर्विषय तथा निराश्रय होते हुए भी केवल आश्रय दोष से ही, स्वीय अनन्त विषय तथा अनन्त आश्रय प्रतीति करती रहती है',—यह जो कहा गया है,उसमें जिज्ञास्य यह है कि, वह जो आश्रय दोष सो यथार्थ या अयथार्थ ? सो,यथार्थ नहीं कह सकते। क्यों कि, उसकी यथार्थता (पहिले) मानी नहीं गयी। अयथार्थ भी नहीं कहा जा सकता कारण-अयथार्थ होने में, क्या वह द्रष्टा, दृशि या दृश्य स्वरूप ? तिनमें से, दृश नहीं हो सकती, क्यों कि दृशि की कोई प्रकार भेद नहीं माना गया। विशेषत: भ्रम का आश्रयीभूत ज्ञान का भी भेद मानने से तो, यह भी माध्यमिक बौद्धमत ही हुआ जाता है ! अतएव, उसकी अयथार्थता माननीया नहीं। अधिकन्तु, द्रष्टा, दृश्य तथा तद्विषयक दृशि (ज्ञान) जब, काल्पनिक, तब, उसकी भी मूलीभूत अपर दोष रहना चाहिये,—सो ऐसी भी अनवस्था दोष फाट पड़ी। यदि, इस अनवस्था दोष परिहार के लिये ब्रह्म स्वरूप सत्य अनुभूति को ही दोष करके माना जाय, सो, उसमें जिज्ञास्य यह है कि, स्वयं ब्रह्म ही जब दोष रूप, तब तो जगत् प्रपञ्च प्रतीति की मूल कारण भी वही हो सकते,—तब फिर प्रपञ्च प्राय द्वितीया अविद्या कल्पना की क्या प्रयोजन ? पक्षान्तर पर, स्वयं ब्रह्म दोष रूपी होने में—वह जब नित्य, तब तो वह वे दोष विनाश से कभी भी मुक्ति लाभ नहीं हो सकती। अतएव, जब तक कि, ब्रह्मातिरिक्त एक दोष का अस्तित्व स्थिरीकृत न हो, तब तक, जगत् को भ्रान्ति या मिथ्या स्वीकार नहीं की जा सकती। ६७॥

रजतादि वस्तु तज्ज्ञानरूपोऽध्यासोऽपि जायते । कृत्स्नस्य मिथ्यारूपस्य तदुपादानत्वं च मिथ्या, मिथ्याभूतस्यार्थस्य मिथ्याभूतमेवकारणं भवितुमर्हतीति हेतु बलादवगम्यते । कारणाज्ञानविषयं प्रत्यक्षं तावत् 'अहमज्ञोमामन्यञ्च न जानामि' इत्यपरोक्षावभासः । अयन्तु न ज्ञानप्रागभावविषयः सहिषष्ठप्रमाणगोचरः । अयं तु 'अहं सुखी' इतिवदपरोक्षः। अभावस्यप्रत्यक्षत्वाभ्युपगमेऽप्ययमनुभवो नात्मज्ञानाभावविषयः अनुभववेलायामपिज्ञानस्यविद्यमानत्वात्; अविद्यमानत्वे ज्ञानाभाव प्रतीत्यनुपपत्तेश्च । एतदुक्तम्भवति -'अहमज्ञः' इत्यस्मिन्ननुभवे अहमित्यात्मनोऽभावधर्म्मितयाज्ञानस्य च प्रतियोगितयावगतिरस्तिवा, न वा ? अस्ति चेत्; विरोधादेव न ज्ञानाभावानुभव सम्भवः । नो चेत् ; धर्म्मिप्रतियोगिज्ञानापेक्षो ज्ञानाभावानुभवः सुतरां न सम्भवति । ज्ञानाभावस्यानुमेयत्वे अभावाख्य-प्रमाणविषयत्वेचेयमनुपपत्तिः समाना । अस्याज्ञानस्य भावरूपत्वे धर्म्मि-प्रतियोगिज्ञानसद्भावेऽपि विरोधाभावादयमनुभवोभावरूपाज्ञानविषयएवाभ्युपगन्तव्यइति ॥ ६८ ॥

अनिर्वचनीयत्व खण्डन—

आपका अनिर्वचनीयत्व शब्द का अभिप्राय क्या है ? यदि कहिये कि सदसद्विलक्षणत्व- अर्थात्- जिसको सत् या असत् करके निरूपण नहीं की जा सकती है । सो ठीक है-इस प्रकार वस्तु जब कोई भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता, तब, तादृश वस्तु का अस्तित्व प्रतिपादन भी एक अनिर्वचनीय ही है । अभिप्राय यह है कि, प्रतीति अनुसार ही सब वस्तु की व्यवस्था की जा सकती है । प्रतीति मात्र ही सत् या असदाकार रूपी। अब सदसदाकारा प्रतीति से, यदि सद सद्विलक्षण वस्तु भी प्रतीत हो, तब तो, कोई भी वस्तु कोई सी प्रतीति की विषय हो सकता ? यदि कहा जाय कि सर्व वस्तु का स्वरूपावरक वाह्य तथा आभ्यन्तरिक सर्व विविध अध्यास की उपादान, सत् या असत् रूप से निरूपण के अयोग्य, और वस्तु विषयक यथार्थज्ञान द्वारा निवर्तनीय, इस रूप कोई एक भाव पदार्थ तो प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भी प्रतीत होता है, यह जो भाव पदार्थ सो प्रागभाव से पृथक, और, अविद्या, अज्ञान प्रभृति शब्दों से अभिहित होता है । निर्विकार, स्वप्रकाश, चैतन्यमय

ब्रह्म जब उसी अविद्या द्वारा आवृत, तभी तदुपहित (अज्ञानावृत) आत्मा में 'हम' 'हमारा' इत्याकार अहंकार तथा ज्ञान-ज्ञेयादि विभाग रूप अध्यास उत्पन्न होता है। उसी अध्यास की अवस्था विशेष-इस अध्यासमय जगत् में भी, पुनः ज्ञान-वाध्य सर्प रजतादि वस्तु और तद्विषयक ज्ञान रूप विशेष विशेष अध्यास होती रहती है। समस्त मिथ्या की उपादानभूत उस अविद्या की उपादानत्व भी मिथ्या, क्यों कि युक्तियों से जानी जाती है कि मिथ्यावस्तु का कारण भी मिथ्या सिवाय सत्य हो नहीं सकती। 'हम अज्ञ'-'हम हमको तथा अपर को नहीं जानते-इत्यादि रूप जो अज्ञान की प्रत्यक्ष प्रतीति उसको विषय-कारणीभूत अज्ञान, किन्तु ज्ञान का प्रागभाव नहीं क्यों कि अभाव मात्र ही अनुपलब्धि नामक, षष्ठ प्रमाण विषयक-प्रत्यक्ष का, विषय नहीं। परन्तु, 'हम अज्ञ'-इत्यादि सब जो ज्ञान 'हम सुखी'-इत्यादि ज्ञान के माफिक अपरोक्ष-प्रत्यक्षात्मक। और अभाव की प्रत्यक्ष स्वीकार करने से भी, 'हम अज्ञ इत्यादि अनुभव कभी भी आत्मगत ज्ञानाभाव विषयक नहीं क्यों कि, अज्ञत्व-प्रतीति काल में भी आत्मा की ज्ञान विद्यमान ही रहती न चेत्, आत्मा द्वारा स्वीय अज्ञता अनुभूतही न होते। अभिप्राय-'हम अज्ञ'-ऐसी प्रतीतिमें आत्मा अज्ञान के आश्रय, और ज्ञान उस अभाव की प्रतियोगी, सो यह ज्ञान उस समय रहता है या नहीं ? यदि ज्ञान रहता हो, तब तो, ज्ञान तथा अज्ञान का सहावस्थान विरुद्ध होने के कारण, ज्ञानाभाव का अनुभव सम्भव पर नहीं है। और, ज्ञान यदि उस काल में न हो, तब भी ज्ञानाभाव का अनुभव असम्भव है। क्यों कि, अभाव प्रतीति की साधारण नियम है कि, जिसकी अभाव जानना चाहिये, सो प्रथमतः उस प्रतियोगी को जानना आवश्यक। प्रतियोगी की ज्ञान न रहने से, तदभाव की ज्ञान नहीं होता-न हो सकता है। ज्ञानाभाव, अनुमान ही का विषय हो, या अनुपलब्धि-प्रमाण का ही विषय हो, उभय पक्ष में प्रदर्शित असंगति दोष समान ही है। और, इस अज्ञान को, अगर भाव रूप करके माना जाय, तब भी, उक्त प्रतियोगी (ज्ञान) तथा धर्म्मी (आत्मा) की ज्ञान रहते हुये भी 'हम अज्ञ' यह अनुभव असंगत नहीं होता है। क्यों कि, इस पक्ष पर, उनको परस्पर में कोई विरोध नहीं रहता। अतएव, उस अनुभव के विषय अज्ञान को भाव रूप ही मानना ठीक है। ६८ ॥

ननु च, भावरूपमप्यज्ञानं वस्तु याथात्म्यावभास रूपेणसाक्षिचैतन्येन विरुध्यते। मैवम्, साक्षिचैतन्यं न वस्तु-याथात्म्य-विषयम्; अपितु अज्ञान विषयम्; अन्यथा मिथ्यार्थावभासानुपपत्तेः। नह्यज्ञान विषयेन ज्ञानेना ज्ञानं निवर्त्तत इति न विरोधः। ननु चेदं भावरूपमप्यज्ञानं विषय विशेष-व्यावृत्तमेव साक्षिचैतन्यस्य विषयो भवति सविषयः प्रमाणाधीनसिद्धिरिति कथमिवसाक्षिचैतन्येनास्मदर्थ व्यावृत्तमज्ञानं विषयी क्रियते। नैवक्षेपः; सर्वमेव वस्तुजातं ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयभूतम्। तत्र जड़त्वेन ज्ञाततया सिध्यत एव प्रमाणव्यवधानापेक्षा। अजड़स्यतु प्रत्यग्वस्तुनः स्वयं सिध्यतो न प्रमाण व्यवधानापेक्षेति सदैवाज्ञान व्यावर्त्तकत्वेन अवभासोयुज्ते। तस्मान्न्यायोपबृंहितेनप्रत्यक्षेणभावरूपमेवाज्ञानं प्रतीयते। तदिदम्भावरूपमज्ञानमनुमानेनापि सिध्यति,-विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभाव व्यतिरिक्त-स्वविषयावरण-स्वनिवर्त्यस्वदेशगत वस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभावदिति। आलोकाभावमात्रं वा रूप दर्शना भाव मात्रम् वा तमो न द्रव्यम्. तत् कथं भावरूपाज्ञानसाधनेनिदर्शनतयोपन्यस्यत इति चेत्; उच्यते-बहुलत्व-विरलत्वाद्यवस्था योगेनरूपवत्तयाचोपलब्धेद्रव्यान्तरमेव तम इति निरवद्यमिति ॥ ६६ ॥

भला, वस्तु का यथायथ भाव को ग्रहण करना ही जब साक्षी-चैतन्य का स्वभाव, तब असत्य अज्ञान भावरूपी होने से भी, साक्षी चैतन्य के साथ उसका विरोध निश्चय होगा? नहीं,-साक्षी चैतन्य जो, वस्तु की यथार्थता ही मात्र को ग्रहण करता है सो नहीं, परन्तु, अज्ञान को भी ग्रहण करता ही है, नहीं तो, असत्य वस्तु की प्रतीति कभी नहीं होते। वस्तुतः ही अज्ञान या असत्य विषयक ज्ञान से अज्ञान या मिथ्या वस्तु निवारित नहीं होता। अतएव, साक्षी चैतन्य के साथ अज्ञान का कोई विरोध नहीं हो सकते। पुनः यह आपत्ति हो रही है कि 'हम अज्ञ'-इसमें अहम्-पदार्थ, आत्मा सहित सम्मिलित भाव से अज्ञान की प्रतीति होती है, स्वयं सिद्ध तथा स्वप्रकाश आत्मा जब कोई भी प्रमाण के अधीन ही नहीं तब तो, साक्षी चैतन्य उसको प्रकाश भी नहीं कर सकते। अतएव उक्त साक्षी चैतन्य, अहम् पदार्थ आत्मा को त्यागि के, मात्र अज्ञान ही को कैसे ग्रहण

अत्रोच्यते, 'अहमज्ञोमामन्यञ्च न जानामि' इत्यत्रोपपत्तिसहितेनकेवलेन च प्रत्यक्षेण न भावरूपमज्ञानं प्रतीयते । यत्तु ज्ञान प्रागभाव विषयत्वेविरोध उक्तः, सहिभावरूपाज्ञानेऽपि तुल्यः । विषयत्वेनाश्रयत्वेन चाज्ञानस्य व्यावर्त्तकतया प्रत्यगर्थः प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नो वा ? प्रतिपन्नश्चेत् तत्स्वरूपज्ञान-निवर्त्त्यं तदज्ञानं तस्मिन् प्रतिपन्ने कथमिवतिष्ठति ? अप्रतिपन्नश्चेत्, व्यावर्त्तकाश्रय विषय

करेगा ? नहीं, यह अपत्ति नहीं आ सकती, कारण यह है कि, समस्त वस्तु ही साक्षी चैतन्य के विषय, तिनमें से कोई ज्ञात रूप, कोई अज्ञातरूप,-विशेष इतना ही मात्र। उसमें भी फिर, जो सब पदार्थ जड़रूप में ज्ञात होके प्रकाशित होता है, तिनके लिये प्रमाण की अपेक्षा रहती है। और, अजड़ स्वरूप आत्मा स्वयं सिद्ध, इसी निमित्त, उनके लिये प्रमाण व्यवहार की अपेक्षा नहीं रहती, सुतरां, सर्वदा ही अज्ञान से पृथक भाव में उनका प्रकाश लाभ संगत होता है। अतएव, युक्ति सिद्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही अज्ञान की भाव रूपता प्रतीत तथा प्रमाणित हो रही है।

उक्त अज्ञान पदार्थ की भावरूपता अनुमान से भी सिद्ध-प्रमाणित हो सकता है। सो अनुमान यों-क्यों कि, प्रमाण समुत्पादित ज्ञान से, अप्रकाशित या अविज्ञात विषय प्रकाशित होता है, अतएव ज्ञानोत् पत्ति की पूर्व में उसको प्रागभाव के अतिरिक्त, अथ च, उसको प्रकाश्यविषय को आवरक, तथा उसी से निवारण योग्य, फिर उसी के आश्रय में आश्रित ऐसा कोई वस्तु रहना निश्चय आवश्यक। अर्थात्-ज्ञानोत्पन्न होने के पूर्व में ऐसा एक वस्तु का अस्तित्व मानना चाहिये जो कि उस ज्ञान के विषय को आवृत कर रक्खा था, अथच, वही ज्ञान उसके निवारण में समर्थ, और, वह ज्ञान जिस आत्मा में समुत्पन्न हुवा है, सो भी उसी आत्मा के आश्रित रहा, अधिकन्तु, वह वस्तु फिर ज्ञान का प्रागभाव न हो-उस प्रागभाव से सम्पूर्ण पृथक। अन्धकार में प्रथमोत्पन्न दीप शिखा इसका दृष्टान्त स्थल। यदि कहिये कि, अन्धकार जब, आलोक का अभाव, किम्वा रूप प्रतीति की अभाव के सिवाय और कुछ भी नहीं, तब तो उसका द्रव्यत्व ही असिद्ध, सुतरां अज्ञान का भावत्व अनुमान में, सोइ दृष्टान्त कैसे हो सकता ? हाँ-सो कहा जाता है,-अन्धकार की जब, गाढ़ता अल्पतादि अवस्था तथा नील रूप का सम्बन्ध भी परिलक्षित होती है, तब निश्चय वह भी एक पृथक द्रव्य, अतएव, उक्त सिद्धान्त भी निर्दोष॥ ६६।

नित्य मुक्त-स्वप्रकाश चैत-यैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवश्च न सम्भवति; स्वानुभवस्वरूपत्वात्। स्वानुभवस्वरूपमपि तिरोहितस्वरूपं अज्ञानमनुभवतीति चेत्; किमिदं तिरोहितस्वरूपत्वम्? अप्रकाशित स्वरूपत्वमिति चेत्; स्वानुभवस्वरूपस्यकथमप्रकाशित स्वरूपत्वम्। स्वानुभवस्वरूपस्याप्यन्यतोऽप्रकाशितस्वरूपत्वमापद्यतइति चेत्; एवं तर्हि प्रकाशाख्य-धर्म्मानभ्युपगमेन प्रकाशस्यैवस्वरूपत्वादन्यतः स्वरूप नाशएवस्यादिति पूर्व्वमेवोक्तम्।

किञ्च ब्रह्म स्वरूप-तिरोधान हेतुभूतम् एतदज्ञानं स्वयमनुभूतं सत् ब्रह्म तिरस्करोति; ब्रह्म तिरस्कृत्य स्वयं तदनुभव-विषयो भवतीत्यन्योन्याश्रयणम्। अनुभूत-

---

का विरोध नहीं'। अच्छी वात, तब तो ज्ञान-प्रागभाव रूपी अज्ञान सो भी विशुद्ध आत्म स्वरूप विषयक और, उक्त प्रकार आश्रय और विषय रूप में जो आत्मा का ज्ञान सो विशुद्ध आत्म विषयक नहीं, इसी कारण से उक्त प्रकार आत्मज्ञान रहते हुये भी, अप्रागभाव रूपी अज्ञान विनष्ट होता है। अतएव अज्ञान का भावत्व साधन में आपका अनुराग के सिवाय उभय के बीच में और कोई वैलक्षण्य देख नहीं पड़ता। विशेषतः, अज्ञान को भाव स्वरूप कहने से भी वह जब अ-ज्ञान, -'ज्ञान नहीं' करके ही समझना पड़ता, तब प्रागभाव के न्याय उसमें भी पूर्वोक्त सापेक्षत्व दोष अव्याहत ही रही। देखा जाय,- अज्ञान-क्या ज्ञान का अभाव? अथवा, ज्ञान से पृथक्-और कुछ? किम्वा ज्ञान विरोधी? इन तीनों पक्ष पर, प्रथमतः ज्ञान का स्वरूप ज्ञान रहना आवश्यक। यद्यपि, अन्धकार की प्रतीति में प्रकाश ज्ञान की अपेक्षा नहीं है-सो सत्य ही है तथापि अन्धकार को जब 'प्रकाश विरोधी' रूप में जानना पड़ता है, तत्काल में भी तो प्रकाश प्रतीति की भी निश्चय ई अपेक्षा रहती है। विशेषतः आपका अभिप्रेत अज्ञान तो कहीं भी (आत्म सम्बन्ध व्यतिरेक से) सिद्ध या प्रतीति नहीं हो सकते, परन्तु, अज्ञान 'ज्ञान नहीं' इत्याकार ही सिद्ध-होती है। अतएव ज्ञानाभाव पक्ष के न्याय, इस पक्ष में भी, सापेक्षत्व दोष समान। विशेषः आप भी जब अन्यत्र प्रागभाव-पदार्थ मानते हैं, तथा च, वह प्रतीति सिद्ध भी, तब, 'हम अज्ञानी, हम हमको तथा अपर को भी नहीं जानते' इत्यादि मौकों पर, वही उभय समस्त प्रागभाव स्वीकार करना ही न्याय्य है।

मेव तिरस्करोतीति चेत्; यद्यतिरोहित स्वरूपमेव ब्रह्म अज्ञानमनुभवति, तद्वाति-रोधान-कल्पना निष्प्रयोजनास्यात्। अज्ञान स्वरूप-कल्पना च; ब्रह्मणोऽज्ञानदर्शनवत् अज्ञान कार्य्यतयाऽभिमतप्रपञ्च दर्शनस्यैव सम्भवात्।

किञ्च ब्रह्मणोऽज्ञानानुभवः किंस्वतः? अन्यतो वा? स्वतश्चेत्; अज्ञानानुभवस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेनानिर्म्मोक्षः स्यात्। अनुभूतिस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानानुभव स्वरूपत्वेन मिथ्यारजत वाधक ज्ञानेन रजतानुभवस्यापि निवृत्तिवन्निवर्त्तक ज्ञानेना ज्ञानानुभूतिरूप-ब्रह्मस्वरूप निवृत्तिर्व्वा। अन्यतश्चेत; किं तदन्यत्? अज्ञानान्तरमिति चेत्; अनवस्थास्यात्। ब्रह्म तिरस्कृत्यैव स्वयमनुभवविषयो भवतीति चेत्; तथा सति इदमज्ञानं काचादिवत् स्वसत्तया ब्रह्मतिरस्करोतीति ज्ञान-वाध्यत्वमज्ञानस्य न स्यात्॥ १००॥

और भी एक बात, नित्य मुक्त, मात्र प्रकाश स्वभाव, चेतन्य स्वरूप ब्रह्म के पक्ष पर (के लिये) उक्त प्रकार अज्ञानानुभव कभी सम्भव पर नहीं। कारण- ब्रह्म पदार्थ स्वीय अनुभव स्वरूप। यदि कहा जाय कि ब्रह्म स्वानुभव रूपी होते हुये भी, जब, उनकी प्रकाश स्वभाव ढकी जाती है तभी अज्ञान अनुभव करते हैं। इसमें भी पूँछ लेना चाहिये कि इस 'ढक जाना' (स्वरूप तिरोधान) की क्या आशय? अगर, 'स्वरूप-अप्रकाशित' को ही स्वरूप तिरोधान कहा जाय, तो-जो स्वयं ही अनुभव आत्मक स्वरूप, उनको फिर स्वरूप आवरण सो कैसा? इसमें भी यदि कहा जाय कि, आत्मा स्वयं अनुभव स्वरूप होते हुये भी, अपर वस्तु से उसका स्वरूप आवृत होती है। भली बात, तब तो आप की बात से (मत में) प्रकाश जब आत्मा की धर्म ही नहीं, परन्तु प्रकाश आत्मा की ही स्वरूप, उसी प्रकाश का तिरोधान जब अपर किसी से हो सकता, तब तो, प्रकारान्तर से आत्मा का ही बिनाश मानना पड़ा, सो यह बात पहिले ही कही जा चुकी।

और, ब्रह्म का स्वरूप तिरोधायक यह अज्ञान स्वयं अनुभूत न होके, कब भी ब्रह्म स्वरूप को आवृत नहीं कर सकते। और ब्रह्म का स्वरूप समाच्छादन न करके, अपने आप अनुभव का विषय नहीं हो सकते। अतएव, स्वरूप तिरोधान तथा अज्ञानानुभव, परस्पर अपेक्षित होने से अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। यदि कहिये कि, अज्ञान पहिले ही

अथेदमज्ञानं स्वयमनादि, ब्रह्मणः स्वसाक्षित्वं ब्रह्मस्वरूपतिरस्कृतिञ्च युगपदेव करोति । अतो नानवस्थादयो दोषा इति, नैतत् । स्वानुभव स्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूप तिरस्कृतिमन्तरेण साक्षित्वापादनायोगात् । हेत्वन्तरेण तिरस्कृतमिति चेत्; तर्हि अस्यानादित्वमत्यपास्तम् । अनवस्था च पूर्व्वोक्ता । अतिरस्कृतस्वरूपस्यैव साक्षित्वापादने ब्रह्मणः स्वानुभवैकतानता च न स्यात् ।

अनुभूत होता है, तत्पश्चात, वही अनुभूत अज्ञान ही ब्रह्म-स्वरूप को आवृत करता है, सो ऐसे में भी, अज्ञान द्वारा ब्रह्म-स्वरूप-तिरोधान-कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं। अधिक की क्या बात है-अज्ञान कल्पना की भी कोई आवश्यकता नहीं । क्यों कि, ब्रह्म, विना आवरण से, अज्ञान को जैसे अनुभव कर सकते, जगत् प्रपञ्च को भी, वैसे ही अज्ञान कार्य्य करके अनुभव कर सकते-सो असम्भव नहीं और, ब्रह्म जो, अज्ञान अनुभव, करते हैं, सो क्या उनके स्वाभाविक अनुभव, या अपर सहायता से ? जो तो स्वाभाविक हो, तब तो चिरकाल के लिये अज्ञान अनुभव हो सकता-मुक्ति की सम्भावना कभी नहीं हो सकती। विशेषतः ब्रह्म स्वयं ज्ञान स्वरूप होते हुये भी जब, अज्ञानानुभव रूप से ही प्रतीत होते हैं, तब 'शुक्ति रजत' में मिथ्या रजत् का बाधक शुक्तिज्ञान द्वारा जैसे मिथ्या रजत् का अनुभव भी बाधित हो जाता है, ठीक उसी रूप से अज्ञान निवर्तक तत्वज्ञानद्वारा अज्ञान के साथ तदनुरूपी ब्रह्म की भी निवृत्ति या बाधा हो सकती । और यदि कहा जाय कि, ब्रह्म से अज्ञानानुभव नहीं होता है-और वस्तु से होता है, तो भी, पूँछना चाहिये कि, वह और वस्तु सो क्या है ? यदि उसको अज्ञानान्तर कहा जाय, तो अनवस्था दोष आ पड़ती, क्यों कि, इस अज्ञानानुभव में जैसे ज्ञानान्तर का प्रयोजन, उस अज्ञान का अनुभव में भी उक्त-रूप ज्ञानान्तर का प्रयोजन-इत्यादि रूप में अनवरत अज्ञान की कल्पना करनी पड़ेगी। फिर, यदि कहिये कि, अज्ञान, ब्रह्म को आवृत करके पीछे से अनुभव का विषय होता है-पहिले अनुभूत होकर पीछे ब्रह्म को आवृत करती है सो नहीं, सो, इसमें भी समझना चाहिये कि, काचादि रोग जैसे चक्षु आवृत करके दर्शन शक्ति विलुप्त कर देता है, अज्ञान भी वैसे ही ब्रह्म में रह कर उनको स्वप्रकाशता को ढक लेता है। ऐसा होने में, काचादि रोग, जैसे केवल ज्ञानद्वारा बाधित नहीं होता, तैसे ही ब्रह्म-निष्ट अज्ञान भी मात्रज्ञान से बाधित-निवारित नहीं हो सकता। १०० ॥

अपिच, अविद्यया ब्रह्मणि तिरोहिते तद् ब्रह्म न किञ्चिदपि प्रकाशते ? उत किञ्चित् प्रकाशते ? पूर्व्वस्मिन्कल्पे प्रकाशमात्रस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽप्रकाशे तुच्छतापत्तिरसकृदुक्ता। उत्तरस्मिन् कल्पे सच्चिदानन्दैरसे ब्रह्मणि कोऽयमंशस्तिरस्क्रियते ? को वा प्रकाशते ? निरंशे निर्व्विशेषे प्रकाशमात्रे वस्तुन्याकारद्वयासम्भवेन तिरस्कारः प्रकाशश्च युगपत् न संगच्छेते।

अथ सच्चिदानन्दैक रसं ब्रह्म विद्यया तिरोहितस्वरूपमविशदमिवलक्ष्यइति; स्वप्रकाशमात्रस्वरूपस्या विशदता अविशदता वा किं रूपा ? एतदुक्तम्भवति, यः सांशः सविशेषः प्रकाशविषयः, तस्य सकलावभासो विशदावभासः, कतिपयविशेष रहितावभासश्च अविशदावभासः। तत्र य आकारोऽप्रतिपन्नः, तस्मिन्नंशे प्रकाशाभावादेव प्रकाशावैशद्यं न विद्यते। यश्चांशःप्रतिपन्नःतस्मिन्नंशे तद्विषयप्रकाशोविशदएव। अतः सर्व्वत्र प्रकाशांशेऽवैशद्यं न सम्भवति। विषयेऽपि स्वरूपे प्रतीयमाने तद्गत-कतिपय विशेषाप्रतीतिरेवावैशद्यम्; तस्मादविषये निर्व्विशेषे प्रकाशमात्रे ब्रह्मणिस्वरूपे प्रकाशमाने कतिपय-विशेषाप्रतिपत्ति रूपावैशद्यं नाम अज्ञान-कार्य्यं न सम्भवतीति। अपिच, इदमविद्या-कार्य्यमवैशद्यं तत्वज्ञानोदयान्निवर्त्तते न वा ? अनिवृत्तावपवर्गाभावः, निवृत्तौ च वस्तु किं रूपमिति विवेचनीयम्। विशदस्वरूपमिति चेत्; तद्विशद स्वरूपं प्रागस्ति वा न वा ? अस्ति चेत्, अविद्या कार्य्यमवैशद्यं तन्निवृत्तश्च न स्याताम्। नो चेत् मोक्षस्य कार्य्यतयाऽनित्यता स्यात्। अस्याज्ञानस्याश्रयानिरूपणादेवासम्भवः पूर्व्वमेवोक्तः। अपि च अपरमार्थदोष-मूलभ्रमवादिना निरधिष्ठानभ्रमासम्भवोऽपि दुरूपपादः, भ्रमहेतुभूतदोष-दोषाश्रयत्ववत् अधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः। ततश्च सर्व्वशून्यत्वमेवस्यात्॥ १०१॥

यदि यों कहा जाय कि, यह अज्ञान स्वयं अनादि सिद्ध सोई अज्ञान एक ही समय में, ब्रह्म का साक्षित्व तथा ब्रह्म-स्वरूप-तिरस्कृति, दोनों को सम्पादन करता है। अतएव, इसमें फिर पूर्वोक्त अनवस्था दोष का सम्भावना नहीं रहती। नहीं,- यह भी ठीक नहीं है। ब्रह्म जब स्वयं अनुभूति स्वरूप तब, पहिले स्वरूप समाच्छादन व्यतीत, साक्षित्व हो ही

नहीं सकते । यदि कहिये कि अपर कोई कारण से स्वरूप आवृत होता है-अज्ञान से नहीं सो उसमें भी, अज्ञान का अनादित्व कल्पना परित्यक्त हो पड़ेगी । इसमें जो अनवस्था दोष-सो पहिले ही कहा गया। विशेषतः, ब्रह्म स्वयं अज्ञानावृत न होके भी, यदि अज्ञान की साक्षी होते, तब तो, उनको केवल मात्र स्वानुभव रूपता सिद्ध न हो पाती ।

और भी एक बात पूँछी जाती है कि, अविद्या तिरोहित ब्रह्म में कुछ भी प्रकाश रहता है या नहीं ? सो, प्रकाश ही जब उनका मात्र स्वरूप, तब फिर, वह प्रकाश ही जब न रहा तब उनमें रहा क्या-तब तो ब्रह्म तुच्छ ही हो पड़ा । और, कियत् परिमाण-प्रकाश को होने में यह जिज्ञास्य है कि, सत्, चित्, आनन्दमय ब्रह्म का कौन अंश अप्रकाशित और कौन अंश प्रकाशित रहता है ? विशेषतः अंश हीन निर्विशेष, एक मात्र प्रकाशात्मक ब्रह्म में जब दो भाव रह ही नहीं सकते तब, एक ही दम प्रकाश और अप्रकाश-दोनों धर्मों की अवस्थिति कभी संगत नहीं ।

यदि कहिये कि, ब्रह्म सच्चिदानन्दमय होते हुये भी, अविद्या से उनका स्वरूप ढक जाता है, इसी से उनका अविशद रूप मालूम होता है । किन्तु, प्रकाश ही मात्र जिनका स्वरूप तिनकी विशदता या अविशदता-सो कैसी ? अभिप्राय यह है कि, जो पदार्थ अंश युक्त, सविशेष तथा अपर प्रकाश के वशीभूत, उसको जो सम्पूर्ण प्रकाश सोई विशदता, और कुछ अंश विशेष का प्रकाश सोई अविशदता । तिसमें जो अंश, ज्ञान के वशीभूत न हो, सो अंश प्रकाश न रहने से निर्मल प्रकाश नहीं रहता, और जो अंश ज्ञान गोचर होता है उस अंश का प्रकाश स्वत ही विशद रूप, अतएव कहीं भी प्रकाशांश की अविशदता सम्भव पर नहीं । कोई वस्तु का स्वरूप प्रतीति का विषय होते हुये भी तद्गत कुछ कुछ विशेष विशेष अंश प्रतीतिगम्य न होने से उसका प्रकाश या प्रतीति को अविशद कहा जाता है । अतएव, इन्द्रिय का अविषय, निर्विशेष अथ च मात्र-प्रकाशमय ब्रह्म जब स्वयं ही प्रकाशमान, तब, तद्गत कतिपय विशेष अंश की अप्रतीति में अज्ञान जनित अविशदता की सम्भावना कभी नहीं हो सकती है ।

अपि च, अविद्या-समुद्भूत उस अविशदता तत्वज्ञानोदय से निवृत्त हो सकती या नहीं ? निवृत्त न होने से अपवर्ग-मुक्ति नहीं हो सकती । और, जो तो, तत्वज्ञान से निवृत्त हो, तो भी, वस्तु का प्रवृत स्वरूप-सो किस प्रकार सो विवेचन योग्य । यदि विशदता

यदुक्तम्; अनुमाने नापि भावरूपमज्ञानं सिध्यतीति; तदयुक्तम्; अनुमाना-सम्भवात्। ननु उक्तमनुमानम्। सत्यमुक्तम्, दुरुक्तं तु तत्; अज्ञानेऽप्यनभिमता-ज्ञानान्तर-साधनेन विरुद्धत्वाद् हेतोः। तत्र अज्ञानान्तरासाधने हेतोरनैकान्त्यं, साधने च तदज्ञानमज्ञानसाक्षित्वं निवारयति ततश्चाज्ञन कल्पना निष्फला स्यात्।

दृष्टान्तश्च साधनविकलः, प्रदीप प्रभाया अप्रकाशितार्थ-प्रकाशकत्वाभावात्, सर्वत्रहि विज्ञानस्यैव प्रकाशकत्वम्। सत्यपि दीपे ज्ञानेन विना विषय-प्रकाशाभावात्। इन्द्रियाणामपि ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वमेव, न प्रकाशकत्वम्। प्रदीप प्रभायास्तु चक्षुरिन्द्रियस्य ज्ञान मुत्पादयतो विरोधि-तमोनिरसन द्वारेणोपकारत्वमात्रमेव। प्रकाशक ज्ञानोत्पत्तौ व्याप्रियमाण चक्षुरिन्द्रियोपकारकत्व हेतुत्वम् अपेक्ष्य दीपस्य प्रकाशकत्व व्यवहारः। नास्माभिर्ज्ञान तुल्य-प्रकाशकत्वाभ्युपगमेन दीप-प्रभा निदर्शिता; अपितु, ज्ञानस्यैव स्वविषयावरण निरसनपूर्वक प्रकाशकत्वसंगीकृत्येति चेत्; न, नहिं विरोधि-निरसनमात्रं प्रकाशकत्वम्; अपित्वर्थ परिच्छेदः,

---

को ही प्रकृत स्वरूप कहा जाय, तो उसमें भी जिज्ञास्य यह है कि, वह विशद स्वरूप, अज्ञान सम्बन्ध का पूर्व में भी विद्यमान था या नहीं ? विद्यमान रहने में उस विशद स्वरूप में अविद्या जनित अवैशद-मालिन्य तथा उसकी निवृत्ति उभय ही असम्भव। और, 'विशद स्वभाव पूर्व में नहीं था'-यों कहने में भी मुक्ति फल-सो जन्य हो पड़ेगा और उसकी अनित्यता दोष होगा। विशेषतः आलोच्य ज्ञान की प्रकृत आशय निरूपण ही जब असम्भव, तब अज्ञान कल्पना भी सम्भव पर नहीं',-सो यह भी बात कही जा चुकी है, पहिले ही।

विशेषतः, जिन्हों ने कहे हैं-'भ्रम का मूल जो दोष सो असत्य, अतएव कोई एक सत्य पदार्थ को आश्रय न करके-निरधिष्ठान भाव में कभी भ्रम उपज नहीं सकते'। उनको यह कहना भी गलत है। क्यों कि, भ्रम का मूल कारण जो दोष, सो जैसे असत्य भूत-दोषान्तर के आश्रित, वैसे ही अपदार्थ या असत्य अधिष्ठान में रह करके भी भ्रमोत्पत्ति होगी-सो उसमें भी क्या बाधा है ? सुतरां, निरधिष्ठान भ्रम सम्भावित होने से ही सर्व्वशून्य वाद फाट पड़ेगा। १०१ ॥

व्यवहार योग्यतापादनमिति यावत् तत्तु ज्ञानस्यैव। यद्युपकारकाणामप्यप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वमंगीकृतम्; तर्हीन्द्रियाणामुपकारकतमत्वेनाप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वमंगीकरणीयम्। तथासति तेषां स्वनिवर्त्त्य-वस्त्वन्तरपूर्व्वकत्वाभावात् हेतोरनैकान्त्यमित्यलमनेन।

प्रतिप्रयोगाश्च,-विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानमात्र ब्रह्माश्रयम्; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकादि अज्ञानवत; ज्ञात्राश्रयंहितत्। विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञानावरणम्; अज्ञानत्वात्, शुक्तिकाद्यज्ञानवत्; विषयावरणंहि तत्। विवादाध्यासितमज्ञानं न ज्ञान निवर्त्यम्; ज्ञानविषयानावरणत्वात्, यत् ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं, तत् ज्ञानविषयावरणम्; यथाशुक्तिकाद्यज्ञानम्। ब्रह्मनाज्ञानास्पदं, ज्ञातृत्वविरहात् घटादिवत्। ब्रह्मज्ञानावरणम्, ज्ञानाविषयत्वात्; यदज्ञानावरणं तज्ज्ञानविषयभूतम्; यथा शुक्तिकादि। ब्रह्म न ज्ञाननिवर्त्याज्ञानं ज्ञानाविषयत्वात्, यत् ज्ञाननिवर्त्याज्ञानं, तत् ज्ञान विषय भूतम्; यथा शुक्तिकादि। विवादाध्यासितं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावातिरिक्ता ज्ञानपूर्व्वकं न भवति,प्रमाणज्ञानत्वात्, भवदभिमताज्ञानसाधन प्रमाणज्ञानवत्। ज्ञानं नवस्तुनो विनाशकं, शक्तिविशेषोपबृंहण विरहे सति ज्ञान त्वात्; यद्वस्तुनो विनाशकं, तच्छक्ति विशेषोपबृंहितं ज्ञानमज्ञानश्चदृष्टम्; यथेश्वर-योगिप्रभृतिज्ञानम्; यथा च मुद्गरादि। भावरूप मज्ञानं न ज्ञान विनाश्यम् भावरूपत्वात्; घटादिवदिति ॥ १०२ ॥

और जो, अनुमान से भी अज्ञान का भाव रूपता प्रमाण की बात कही गयी है सो भी युक्ति विरुद्ध है, क्यों कि, वैसा अनुमान कभी सम्भव पर नहीं। सो क्यों ? वैसा अनुमान तो प्रदर्शित भया है ? हां, प्रदर्शित भया है, सो ठीक है, लेकिन, वह दुरुक्त है (युक्ति विरुद्ध)। कारण-अप्रकाशितार्थ-प्रकाशकत्व, रूप जो हेतु द्वारा अज्ञान को साधन किया गया,-सो आपका अभिप्रेत न होने से भी, उसी हेतु से ही, अज्ञान का अज्ञानान्तर सिद्ध हो जाता है। सुतरां, वह हेतु प्रकृत विषया विरुद्ध है। और, यदि उस हेतु से अज्ञान ही का साधन न हो, तब भी, हेतु का अनैकान्तत्व रूप और एक दोष उपस्थित होता है, और अपर अज्ञान का साधन करने से भी, वही अज्ञान ही आत्मा का अज्ञान

साक्षित्व को मिटा रहा है । सुतरां, अज्ञान कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं ।

और, पूर्वोक्त दृष्टान्त भी (प्रदीप भी) अज्ञान का भावत्व साधन के अनुकूल नहीं हो रहा है । कारण-प्रदीप प्रभा कभी भी अप्रकाशित वस्तु की प्रकाश नहीं करती है, क्यों कि, ज्ञान ही सर्वत्र मात्र वस्तु प्रकाशक होता है । इसीसे, प्रदीप रहते हुये भी, ज्ञान व्यतीत कोई वस्तु का प्रकाश नहीं होती । और, उदाहृत इन्द्रियां भी ज्ञानोत्पत्ति ही की साधन-किन्तु, वस्तु प्रकाश के कारण नहीं, उल्लिखित प्रदीप प्रभा भी केवल चाक्षुष-ज्ञानोत्पत्ति का प्रतिबन्धक-अज्ञान राशि को अपनीत करती है, इसी से, वह चाक्षुष ज्ञान के उपकारक मात्र । (किन्तु, साक्षात में ज्ञानोत्पादक नहीं) वस्तु प्रकाशक ज्ञान-समुत्पादन में चक्षुरिन्द्रिय ही कार्य्यकरी, प्रदीप प्रभा तत्रत्य अन्धाकार अपसारित करके चक्षु की सहायता मात्र करती है, इसीसे, प्रदीप प्रभा को 'प्रकाशक' करके व्यवहार की जाती । यदि कहिये कि, आप सब, प्रदीप प्रभा को ज्ञान के ही अनुरूप प्रकाशक करके नहीं मानते, और, उस अभिप्राय पर वह दृष्टान्त भी नहीं दी गयी, परन्तु, मात्र ज्ञान ही, जो स्वविषय का आवरण विनाश-पूर्वक विषयों को प्रकाशित करता है, केवल, इसी भाव को दर्शाने के लिये वह दृष्टान्त दिया गया है । नहीं, सो भी नहीं होगा । केवल ज्ञान-प्रतिबन्धक निवारण ही को 'प्रकाशकत्व' नहीं कहा जाता, परन्तु, जिसका जैसा स्वरूप, सो वैसा निरूपण करके उस वस्तु को लोक व्यवहार का उपयुक्त करने का नाम 'प्रकाशकत्व' । इदृश प्रकाशकत्व धर्म सो, सिवाय ज्ञान के और किसी में नहीं रह सकती । यदि, ज्ञानोपकारक विषय को भी 'अप्रकाशितार्थ प्रकाशक' करके मानाजाय तब भी ज्ञानोत्पति की प्रधानतम-साधन या सहाय, इन्द्रियों को भी 'अप्रकाशितार्थ प्रकाशक' करके स्वीकार करना पड़ेगा, तब तो आपका पूर्व प्रदर्शित (अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्वात्) हेतु सो भी अनैकान्त्य-व्यभिचार-दोष से दूषित हुवा, कारण-इन्द्रिय समूह, कार्य करने के पूर्व में, उनसे निवारण-योग्य अपर कोई वस्तु नहीं रहता है । अतएव, इति अलम् अनेन ।

विशेषतः-अज्ञान का भाव रूपत्व साधन के अनुकूल में जैसे अनुमान प्रदर्शित भया है, तत् प्रतिकूल में भी वैसे ही अनुमान की जा सकती (१)-विवादास्पदीभूत अज्ञान कभी शुद्ध ज्ञानमय ब्रह्म में आश्रित नहीं रह सकती, कारण-यह अज्ञान, दृष्टान्त यथा शुक्तिकादि विषयक अज्ञान । यह अज्ञान भी अज्ञान ही है, किन्तु, यह ब्रह्म में नहीं रहता-

अथ उच्येत, बाधकज्ञानेन भावरूपाणां पूर्वज्ञानोत्पन्नानां भयादीनां विनाशोदृश्यत इति। नैवम, न हि ज्ञानेन तेषां विनाशः, क्षणित्वेन तेषां स्वयमेव विनाशात; कारण निवृत्या च पश्चादनुतपत्तेः। क्षणिकत्वञ्च तेषां ज्ञानवदुत्पत्ति

रहता है ज्ञाता-भ्रान्त पुरुष में। (२)-विवादास्पदीभूत अज्ञान कभी ज्ञान का आवरण नहीं हो सकता कारण वह अज्ञान, दृष्टान्त-यथा शुक्तिकादि विषयक अज्ञान, सो अज्ञान, शुक्तिकादि विषय को ही आवृत करती है। (३) विवादास्पदीभूत अज्ञान कभी भी ज्ञान-निवर्त्य नहीं, (ज्ञान से वह अज्ञान नाश नहीं हो सकता)। क्यों कि वह ज्ञान-विषय को आवृत नहीं करती। जो अज्ञान ज्ञान से निवारणीय सो ज्ञान के विषय को आवृत करता ही है। दृष्टान्त-यथा शुक्तिकादि विषय में अज्ञान-(सो अज्ञान ही सत्य ज्ञान का विषय-शुक्तिकादि को आच्छादक है) (अब प्रकृत विषय में जो सब की संगति प्रदर्शित भया)-१ घटादि जड़ पदार्थों में, जैसे ज्ञातृत्व धर्म नहीं है, ब्रह्म में भी, वैसे ही, ज्ञातृत्व नहीं है-अर्थात् वह ज्ञाता नहीं हो सकते, अतएव, वह अज्ञान का आश्रय भी नहीं हो सकता। २-अज्ञान कभी ब्रह्म को आवृत्त नहीं कर सकते, कारण-वह कभी ज्ञान के विषय नहीं होते-(अज्ञेय) जो पदार्थ अज्ञान से आवृत्त होता है, सो ज्ञान का विषयीभूत होता ही है। दृष्टान्त-यथा-शुक्तिका प्रभृति-(ज्ञान के विषय होने के कारण ही, शुक्तिकादि अज्ञानावृत रहता है)। ३-ब्रह्म विषयक अज्ञान कभी ज्ञान निवर्तनीय नहीं, क्यों कि वह ज्ञान का अविषय-अज्ञेय। जिसको अज्ञान ज्ञान से निवारित होता है सो, निश्चय, ज्ञान का भी विषय दृष्टान्त--यथा शुक्तिका प्रभृति। ४--विवादास्पदीभूत प्रमाणज्ञान कभी स्वीय प्रागभावातिरिक्त अज्ञान पूर्वक नहीं हो सकते, कारण वह प्रमाण जनितज्ञान। इसका दृष्टान्त -आप ही का अभिप्रेत अज्ञान-साधक प्रमाण ज्ञान। ५--ज्ञान स्वभावतः कोई वस्तु विनाशक नहीं होता है, कारण--वह अपर शक्ति के साहाय्य रहित ज्ञानमात्र। देखा जाता है कि, जिससे वस्तु विनाश होता है, वह, ज्ञान ही हो चाहे अज्ञान ही हो, निश्चय करके अपर शक्ति विशेष की सहायता प्राप्त होता है,-जैसे ईश्वर को ज्ञान तथा योगि प्रभृति महापुरुषों को ज्ञान, मुद्गरादि भी इसकी अपर दृष्टान्त। ६-भाव रूपी अज्ञान कभी ज्ञान से विनष्ट नहीं हो सकता, क्यों कि, वह भाव पदार्थ, दृष्टान्त यथा घटादि। १.२॥

कारणसन्निधान एवोपलब्धेः, अन्यथानुपलब्धेश्चावगम्यते । अणिकत्वेच तेषां भयादीनां भयादि हेतुभूत ज्ञान सन्तता वविशेषेण सर्व्वेषां ज्ञानानां भयाद्युत्पत्ति हेतुत्वेनानेक भयोपलब्धि प्रसंगाच्च । स्वप्रागभाव व्यतिरिक्त-वस्त्वन्तर पूर्व्वक मिति व्यर्थ विशेषणोपादानेन प्रयोगकुशलता चाविष्कृता । अतोनानुमानेनापि भावरूपाज्ञानसिद्धिः । श्रुतितदर्थापत्तिभ्यामज्ञानासिद्धि रनन्तरमेव वक्ष्यते ।

मिथ्यार्थस्य मिथ्यैवोपादानम् भवितुमर्हतीति एतदपि 'न विलक्षणात्' ब्र०सू० २-१-४ । इत्येतदधिकरण न्यायेन परिहृयते । अतोऽनिर्व्वचनीया ज्ञान विषया न कदाचित् अपि प्रतीतिरस्ति । प्रतीतिभ्रान्तिबाधैरपि न तथाभ्युपगमनीयम् प्रतीयमानमेवहि प्रतीतिभ्रान्ति-बाधविषयः । आभिः प्रतीतिभिः प्रतीत्यन्तरेण चानुपलब्धम् (?) आसां विषय इति न युज्यते कल्पतुम् ।

शुक्त्यादिषु रजतादि प्रतीतेः, प्रतीतिकालेऽपि तन्नास्तीति बाधेन चान्यस्यान्यथाभानायोगाच्च सदसदनिर्व्वचनीयमपूर्व्वमेवेदं रजतं दोषवशात् प्रतीयत इति कल्पनीयमिति चेत्; न, तत् कल्पनायामप्यन्यस्यान्यथाभानस्या वर्जनीयत्वात्; अन्यथाभानाभ्युपगमादेव ख्याति-प्रवृत्ति-बाध-भ्रमत्वानामुपपत्तेरत्यन्तापरिदृष्टाकारणक-वस्तुकल्पनायोगात् कल्प्यमानं हीदमनिर्व्वचनीयम्, न च तदानीमनिर्व्वचनीयमितिप्रतीयते; अपि तु परमार्थ रजतमित्येव । अनिर्व्वचनीयमित्येव प्रतीतं चेत्; भ्रान्ति-बाधयोः प्रवृत्तेरप्यसम्भवः । अतोऽन्यस्यान्यथाभानविरहे प्रतीति-प्रवृत्तिबाध-भ्रमत्वानामनुपपत्तेः, तस्य अपरिहार्य्यत्वाच्च, शुक्त्यादिरेव रजताद्याकारेणावभासत इति भवताभ्युपगन्तव्यम् ।

ख्यात्यन्तरवादिनाञ्च सुदूरमपि गत्वा अन्यथावभासोऽवश्याश्रयणीयः,-असत् ख्याति पक्षे सदात्मना;आत्मख्याति पक्षे चार्थात्मना;अख्याति पक्षेऽप्यन्यविशेषणम् अन्यविशेषणत्वेन;ज्ञानद्वयमेकत्वेन च;विषयासद्भावपक्षेऽपि विद्यमानत्वेन । किञ्च, 'अनिर्व्वचनीयमपूर्व्वरजतमत्र जातम्'इति वदता तस्य जन्म-कारणं वक्तव्यम् । न तावत् तत् प्रतीतिः, तस्यास्तद्विषयत्वेन तदुत्पत्तेः प्रागात्मलाभायोगात् । निर्व्विषयाजाता तदुत्पाद्य तदेव विषयीकरोतीति महतामिदमुपपादनम् । अथेन्द्रियादिगतो दोषः;

तन्न, तस्य पुरुषाश्रयत्वेनार्थगतकार्य्यस्योत्पादकत्वायोगात् । नापीन्द्रियाणि, तेषां ज्ञान-कारणत्वात् । नापि दुष्टानीन्द्रियाणि तेषामपि स्वकार्य्यभूते ज्ञान एव हि विशेष करत्वम् । अनादि-मिथ्याज्ञानोपादनत्वं तु पूर्व्वमेवनिरस्तम् ।

किञ्च, अपूर्व्वमनिर्व्वचनीयमिदं वस्तुजातं रजतादि बुद्धि-शब्दाभ्यां कथमिव विषयीक्रियते,-न घटादिबुद्धि-शब्दाभ्याम् ? रजतादिसादृश्यादिति चेत; तर्हि तत् सदृशमित्येव प्रतीति-शब्दौस्याताम् । रजतादि-जाति योगादिति चेत्; साकिं परमार्थभूता ? उतापरमार्थभूतावा ? न तावत् परमार्थभूता, तस्या अपरमार्थान्वयायोगात् । नाप्यपरमार्थभूता, परमार्थान्वयायोगात् अपरमार्थे परमार्थ बुद्धि-शब्दयोर्निर्वाहकत्वायोगाच्चेत्यलम् अपरिणतकुतर्क निरसनेन ॥ १०३ ॥

यदि कहा जाय कि, वाधक ज्ञान (को) उपस्थित होने से,प्राथमिक भय समुत्पादित भय-कम्पादिकों का विनाश होते देखा जाता है। नहीं, ऐसा मानना अनुचित है। कारण,-उसमें, ज्ञान द्वारा, जो तत्कालोत्पन्न भयादिकों का विनाश होता है, सो नहीं, क्यों कि, भय कम्पादि जो भाव सो स्वयं ही क्षणिक, ताते अपर (उपाय) से उनके विनाश का कोई आवश्यक नहीं। परन्तु ज्ञानोदय के साथ भ्रम के कारण मिट जाता है, सुतरां, कारण के अभाव में, तत्कार्य भय कम्पादि भी फिर नहीं उपजते-निवृत्ति हो जाती। ज्ञान के न्याय भयादिभि जब उत्पत्ति कारण के सद्भाव ही से प्रतीति होती है- असद्भाव से प्रतीति नही'होती है, इसीसे भयादिकों का क्षणिकत्व सहज ही में जाना जाता है। पक्षान्तर पर, भयादिकों को क्षणिक न कहने से, भयादिकों का कारणीभूतज्ञान जब धारा वाहिक रूप से चलता रहता है, तब, उसका प्रत्येक से, पृथक पृथक एक एक भयादि की सृष्टि होती है-ऐसा कहना चाहिये, सुतरां, उसकी समष्टि में-इकट्ठा बहुसंख्यक भय की उपलब्धि हो सकती। और, 'स्वीय प्रागभावातिरिक्त वस्तवन्तर-पूर्व्वक' इस प्रकार वृथा विशेषण के प्रयोग में भी, अनुमानकर्ता केवल अपनी अनुमान-पाण्डित्य ही दिखलाये हैं-फल कुछ भी नहीं । अतएव अनुमान से अज्ञान का भावरूपत्व सिद्ध नहीं होता । श्रुति और 'अर्थापत्ति' प्रमाण से भी, भावरूप अज्ञान प्रमाणित नहीं हो सकते, इसके बाद ही सो प्रमाण की जायगी ।

और, जो कहा गया है कि, मिथ्यापदार्थ का उपादान भी मिथ्या होगी, 'न विलक्षणात'-इस सूत्रोक्त युक्ति अनुसार उसकी भी समाधान की जायगी। अतएव, अनिर्वचनीय अज्ञान के अस्तित्व विषय में कुछ भी प्रमाण या प्रतीति नहीं है। और केवल प्रतीति, भ्रान्ति किम्वा वाध से भी अनिर्वचनीय अज्ञान को अंगीकार नहीं की जा सकती। क्यों कि, जो प्रतीति योग्य किम्वा भ्रम और वाध विषयक सो, निश्चय करके प्रतीतिमान या विशेष रूप से उल्लेख योग्य होता है, किन्तु, उक्त प्रकार प्रतीति, भ्रान्ति तथा वाध द्वारा किम्वा अन्य विध प्रतीति से भी, उस प्रकार कोई एक विषय का अस्तित्व कल्पना नहीं की जा सकती। क्यों कि, वस्तु न रहने पर भी समय विशेष में उस प्रकार प्रतीति की उत्पत्ति होती है।

शुक्तिकादि में रजतादि की प्रतीति होति है, और, प्रतीति समकाल में भी 'यह नहीं है- असत्' ऐसा वाध-मिथ्यात्व बोध परिदृष्ट होता है, अथच, एक वस्तु को अन्य वस्तु रूप प्रतीति सो असम्भव है। इन सब कारणों से, यदि, कहा जाय कि (यही) सदसद रूप से निर्वाचन के अयोग्य-अनिर्वचनीय और अपूर्व सोइ रजत् कोई एक दोष वशतः प्रतीति होती है-ऐसा ही कल्पना करनी चाहिये। न, ऐसी भी ठीक नहीं होगी। कारण-अनिर्वचनीयत्व कल्पना करने से भी, एक वस्तु का यो अन्य प्रकार प्रतीति, सो तो, परित्याग नहीं की जा सकती। और, यह अन्यथाभाव स्वीकार करने से ही जब, अन्यथा ख्याति, वाध या भ्रम रूप में उसकी उपपत्ति (सामञ्जस्य) हो सकते, तब फिर, नितान्त अप्रसिद्ध निःकारण (अनिर्वचनीय) वस्तु कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। और, यदि वा, यह अनिर्वचनीयत्व की कल्पना करना ही हो, तब भी, तत्काल में इसकी अनिर्वचनीयत्व की प्रतीति रहनी चाहिये, अथ च इसकी प्रतीति, उस समय, कुछ भी नहीं रहती, वरं, उस रजत् सत्य ही प्रतीत होती है। और यदि कहिये कि, प्रतीति समय भी वह अनिर्वचनीय करके ही प्रतीति होती है, तब भी तो, उस ज्ञान को 'भ्रम' नहीं कह सकते, और उसकी बाधा भी सम्भव पर नहीं, और, उस रजत को ग्रहण के लिये भी किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव, भ्रम स्थल पर अन्यथा भान न रहने से जब, तद्विषयक प्रतीति, प्रवृत्ति तथा वाध कुछ भी संगत नहीं होता, और, पक्षान्तर में अन्यथाभान का

परित्याग के भी, जब, कोई उपाय नहीं, तब, शुक्तिकादि ही, जो रजत् रूप प्रतीति होती है, सो, आप को भी मानना चाहिये।

अपरापर ख्याति-वादियों को भी बहु तर्क वितर्क के बाद-अवशेष अन्यथा भास (अन्यथा ख्याति) ही अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। तिनमें से असत् ख्याति पक्ष में वही अन्यथाभास 'सत् स्वरूप', आत्मख्याति में 'ज्ञेय पदार्थ स्वरूप, अख्याति में-'एक प्रकार विशेषण-विशिष्ट को अन्य प्रकार विशेषण-विशिष्ट रूप', और, दो पृथक-पृथक ज्ञान को, विशेषण-विशेष्य-भावापन्न एक ज्ञान रूप, और, 'जो लोक ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व बिलकुल नहीं मानते, उनके पक्ष में भी ज्ञेय पदार्थ की विद्यमानता रूप', फलतः, अन्यथा ख्याति के ही आश्रय लेना पड़ता है। (आत्मख्याति रसत्ख्याति-रख्यातिः ख्यातिरन्यथा तथा निर्वचन ख्याति रित्येतत् ख्याति पञ्चकम्।) तिनमें से-आत्मख्याति-योगाचार बौद्ध मत, असत ख्याति-माध्यमिक बौद्धमत, अख्याति-पूर्व मीमांसा मत, अन्यथाख्याति-न्याय मत, अनिर्वचन ख्याति-श्रीशङ्कर मत।

और जिन्हों ने कहते हैं कि भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय, अलौकिक रजत उत्पन्न होता है, तिनको भी, उस रजतोत्पत्ति की एक कारण निर्देश करना चाहिये। प्रथमतः, रजत की प्रतीति को रजतोत्पादक नहीं कह सकते। क्यों कि, रजत उत्पत्ति के पहिले, उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। और जो, प्रतीति प्रथमतः निर्विषय भाव में ही होकर, पश्चात् रजत् समुत्पादन करके, उसीको अपनी ग्रहणीय विषय करता है, सो यह भी अत्यन्त विस्मय कर युक्ति प्रणाली! यदि कहिये कि, चक्षु प्रभृति इन्द्रिय गत दोष ही उस रजत का उत्पादक, सो भी नहीं हो सकता, और, द्रष्ट पुरुष गत वह दोष भी दृश्य विषय में कार्य्य समुत्पादन नहीं कर सकता। इन्द्रियों को भी रजतोत्पादक नहीं कहा जा सकता। क्यों कि, वह सब केवल ज्ञानोत्पादक-विषय उत्पादक नहीं। अविकृति इन्द्रियां, यदि कारण न हो, विकृत इन्द्रियां तो हो सकते? नहीं, सो भी नहीं क्यों कि, दुष्ट इन्द्रियों ने केवल स्वकार्य्य ज्ञान ही में वैचित्र्य घटाता है मात्र-कोई वस्तु उत्पादन नहीं कर सकता और अनादि मिथ्या ज्ञान, जो, उस रजत का उपादान कारण नहीं हो सकता, सो पूर्व मेव प्रतिपादित भया है। अपिच, जिज्ञास्य यह है कि, जागतिक समस्त वस्तु ही यदि अपूर्व अनिर्वचनीय हो, तो फिर, वह केवल ही 'रजत्' शब्द तथा तदनुरूप बुद्धि की विषय क्यों

अथवा-यथार्थं सर्वं विज्ञानमिति वेद विदाम्मतम् ।
श्रुति-स्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्व-प्रतीतितः ॥

'वहुस्याम्'इतिसंकल्पपूर्वसृष्ट्याद्युपक्रमे ।'तासां त्रिवृतमेकैकाम्'इतिश्रुत्यैव चोदितम्॥
त्रिवृत्करणमेवंहि प्रत्यक्षेणोपलभ्यते । यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तदपामपि ॥
शुक्लंकृष्णंपृथिव्याश्चेत्यग्नावेवत्रिरूपता ।श्रुत्यैवदर्शिता,तस्मात्सर्वेसवत्रसंगताः॥१
पुराणेचैवमेवोक्तं वैष्णवेसृष्ट्युपक्रमे । नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहितंविना ॥
नाशक्नुवन् प्रजाःस्रष्टुमसमागम्यकृत्स्नशः । समेत्यान्योन्यसंयोगंपरस्परसमाश्रयाः
'महदाद्याविशेषान्ता ह्यण्डम्'इत्यादिनातत । सूत्रकारोपिभूतानां त्रिरूपत्वं तथावदत्॥
भूयात्मकत्वात्तु भूयस्त्वाद् ब्र.३-१-२इतितेनाभिधाभिदा । सोमाभावेचपूतीकग्रहणंश्रुति
चोदितम्॥सोमावयवसद्भावादितिन्यायविदोविदुः।व्रीह्यभावेचनीवारग्रहणंव्रीहिभावतः
तदेवसदृशंतस्य यत्तद्द्रव्यैक देशभाक् । शुक्त्यादौ रजतादेश्चभावःश्रुत्यैव चोदितः॥
रूप्य-शुक्त्यादिनिर्देशभेदोभूयस्त्वहेतुकः। रूप्यादिसदृशश्चायं शुक्त्यादिरुपलभ्यते॥

होता है ? घट पटादि शब्द भी तदनुरूप बुद्धि का भी विषय हो सकता ? अभिप्राय जब सब वस्तु ही मिथ्या हुवा, तो फिर, विभिन्न वस्तु की नाम भिन्न भिन्न क्यों प्रतीति होती है ? सब वस्तु ही सब नाम तथा बुद्धि का विषय हो सकता ? यदि कहा जाय कि, प्रकृत रजत् आदि वस्तु के सादृश्य रहने से अनिर्वचनीय पदार्थ में भी वही रजतादि शब्द और तदनुरूप बुद्धि होती है । उसमें भी, यह रजत् सदृश'-इस रूप शब्द तथा प्रतीति हो सकती । (ठीक रजत् रूप प्रतीति नहीं होगी) । पुनः यदि कहा जाय, 'इन सब पदार्थों में भी रजतादि-गत जाति रहती है, उसी कारण से प्रकृत रजत् प्रभृति की सजातीय होने से, उस अनिर्वचनीय पदार्थ में भी रजत् शब्द तथा रजत बुद्धि होती है । भली बात, अब पूँछा जाता है कि, सो रजतादि जाति क्या यथार्थ या अयथार्थ ? सो यथार्थ नहीं हो सकता, क्यों कि, तब तो वह असत्य रजत में अनुगत नहीं रह सकते-(मिथ्या की बाधा में सत्य की प्रतीति हो सकती थी) । अयथार्थ भी नहीं उसमें, वह सत्य जाति, सो कभी मिथ्या में सम्बन्ध नहीं रह सकते । विशेषतः,अयथार्थ वस्तु में यथार्थ बुद्धि सम्पादन करने की शक्ति उसकी नहीं है । अतएव, असार कुतर्क से क्या प्रयोजन ? ।१०३॥

अतस्तस्यात्रसद्भावःप्रतीतेरपिनिश्चितः। कदाचिच्चचक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः
रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थीप्रवर्तते। दोष हानौ तु शुक्त्यंशे गृहीतेतन्निवर्तते ॥
अतोयथार्थ रूप्यादि-विज्ञानंशुक्तिकादिषु। वाध्यवाधक भावोऽपि भूयस्त्वनोपपद्यते॥
शुक्तिभूयस्त्ववैकल्य-साकल्यग्रहरूपतः। नातोमिथ्यार्थ-सत्यार्थ विषयत्व निवन्धनः॥
एवंसर्वस्य सर्वत्वे व्यवहार व्यवस्थितिः॥ भाष्यकारः।

स्वप्ने च प्राणिनां पुण्य पापानुगुणं भगवतैव तत्तत् पुरुषमात्रानुभाव्याः तत्तत् कालावसानास्तथाभूताश्चार्थाः सृज्यन्ते। तथाहि श्रुतिः स्वप्नविषया-'न तत्र रथानरथ योगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्ति, प्रथा नन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्रा वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति,अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः स्रवन्त्यःसृजते, सहिकर्ता-बृहदा०-६-३-१०। इति। यद्यपिसकलेतर पुरुषानुभाव्यतया तदानीं न भवन्ति, तथापि तत्ततपुरुष मात्रानुभाव्यतयातथाविधानर्थानीश्वरः सृजति,सहि-कर्त्ता। तस्य सत्यसंकल्पस्याश्चर्य्य शक्तेस्तथाविधंकर्त्तृत्वं सम्भवतीत्यर्थः।

'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदे वामृतमुच्यते। तस्मिन लोकाःश्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन॥' कठ० २-२-८। इति च। सूत्रकारेपि 'सन्ध्ये सृष्टिराहहि'। 'निर्म्मातारञ्चैकेपुत्रादयश्च-ब्र० सू०-३।२।१-२। इति सूत्रद्वयेन, स्वप्नेष्वर्थेषु जीवस्य स्रष्टृत्वमाशंक्य-'मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येना नभिव्यक्तस्वरूपत्वात्'-ब्र० सू० ३-२-३। इत्यादिना न जीवस्य संक-ल्प मात्रेण स्रष्टृत्वमुपपद्यते। जीवस्य स्वाभाविक सत्यसंकल्पत्वादेः कृत्स्नस्य संसार दशायामनभिव्यक्तस्वरूपत्वादीश्वरस्यैव तत् तत् पुरुष मात्रानुभाव्यतयाश्चर्य्य-भूता सृष्टिरियम्। 'तस्मिन्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन'। इति परमात्मैव तत्रस्रष्टेत्यवगम्यते, इति परिहरति। अपवरकादिषु शयानस्य स्वप्नदृशः स्वदेहेनैव देशान्तर गमन राज्याभिषेक-शिरश्छेदादयश्च पुण्य पाप फलभूतः शयानदेह-सरूप-संस्थानदेहान्तरसृष्ट्या उपपद्यन्ते॥ १०४॥

अथवा, वेदवित् पण्डितों का अभिमत-'श्रुति स्मृति प्रभृति शास्त्रानुसार जाना जाता है कि समस्त वस्तु ही सर्वात्मक, अतएव, समस्त ज्ञान ही सत्य-यथार्थ।' 'वहुस्यामं

इस संकल्प पूर्वक, सृष्टि प्रदर्शनार्थ (छान्दोग्ये) जो प्रकरण आरब्ध भया है, उसी में स्वयं श्रुति ही कही है कि, 'हम बहु होंगे' (अनन्तर सूक्ष्म भूतों को सृष्टि करके इच्छा किये) उन अविमिश्र भूतों का प्रत्येक को 'त्रिवृत्' करूँ । यह त्रिवृत् करण-परस्पर मिश्रण भाव प्रत्यक्ष से भी जाना जाता है—अग्नि की जो लोहित वर्ण सोइ तेज का रूप, जो शुक्ल रंग सोइ जल का रूप और जो कृष्ण वर्ण सोइ पृथ्वी का रूप । इस प्रकार से, श्रुति एक अग्नि में ही रूपत्रय का समावेश प्रदर्शन किये हैं । अतएव, सब भूतों में ही सब भूत सम्मिलित हैं । श्री विष्णु पुराण के सृष्टि प्रकरण में कहा गया है कि, नानान शक्ति सम्पन्न भूत समूह समुत्पन्न होकर भी, प्रजा सृष्टि में समर्थन भये, ताते सब भूतों ने सम्मिलित होकर तथा परस्पर को परस्पर की आश्रय करके, 'महत्तत्व' से लेकर, स्थूल भूत तक समस्त ब्रह्माण्ड को बनाया है । स्वयं ब्रह्मसूत्र-कार भी सर्वभूतों की त्रिरूपता—सम्मिश्रित भावज्ञापन के लिये कहे हैं 'यद्धे तु समस्त भूत ही भयात्मक, मात्र आधिक्य अनुसार एक एक नाम से व्यवहृत होता है'—इत्यादि । 'वेद में', 'सोमलता' के अभाव में 'पूतिका'—ग्रहण की व्यवस्था है, न्याय विदों ने कहते हैं कि, पुतिका में सोमलता का अवयव विद्यमान है, इसी कारण से वैसी विधान भयी है । और, नीवार (तिन्नी) में व्रीहि के सादृश्य है, तभी, व्रीहि के अभाव पर नीवार ग्रहण की व्यवस्था है । शुक्ति प्रभृति में, जो, रजतादि का सद्भाव, सो भी श्रुति सम्मत । मात्र, भागाधिक्य ही, यह शुक्ति, यह रजत—इत्यादि भेद निर्देश की कारण। शुक्तिकादिकों में, जो, रौप्यादि की सादृश्य परिलक्षित होती है, सो, उसी से शुक्ति प्रभृति में रजतादि की सद्भाव निश्चय किया जाता है । समय विशेष पर, चक्षु प्रभृति इन्द्रियों का दोष वशतः, शुक्ति की शुक्ति भाग छिप जाती है, चक्षु प्रभृति मात्र रजत भाग को ग्रहण करता है, और, उसी रजत के लिये तत् प्रति प्रवृत्त होता है । पुनश्च, पूर्वोक्त दोष मिट जाने से शुक्तित्व नयन-गोचर होता है, तब फिर निवृत्त होता है । अतएव, शुक्ति प्रभृति में जो, रजतादि ज्ञान, सो यथार्थ ही है । केवल शुक्ति भाग के आधिक्य हेतु वाध्य वाधक व्यवस्था होती रहती है । अर्थात्—जब शुक्ति का असम्पूर्ण अंश रजत भाग मात्र गृहीत होता है, तब, भ्रम रूप, और जब उसका सम्पूर्ण भाग गृहीत होत है, तब सत्य रूप । और, प्रथमोक्त जो ज्ञान सो वाध्य तथा शेषोक्त ज्ञान सो वाधक होता ही है । किन्तु,

मिथ्या या असत्य वस्तु की प्रतीति सिद्ध वाध्य-वाधक भाव नहीं होता है। सब वस्तु सर्वात्मक होते हुये भी उस प्रकार आधिक्यानुसार व्यवहार की व्यवस्था होती है।

स्वप्न काल में, भगवान जगत्पति ही प्राणीयोंके पाप पुण्यानुसार, प्रत्येक के भोगोपयोगी विषय समूह तथा तत् कालोचित वासना या संस्कार की सृष्टि करते रहते हैं। स्वप्नावस्था प्रकाशिका श्रुति भी कहे हैं-'तहां पर रथ, अश्व किम्वा तदनुरूप पथ नहीं रहता, किन्तु, रथ, अश्व तथा पथ सृष्टि करते हैं। वहाँ पर आनन्द, मुत् या प्रमुद नहीं रहा, किन्तु, वह सब सृष्ट होता है। जलाशय, पुष्कर तथा नदी वहाँ नहीं है, किन्तु, वह सब निर्मित होता है। वह परमेश्वर ही वहाँ पर (सबका) कर्ता।' यद्यपि, उस समय, सब के अनुभव-योग्य वह पदार्थ सकल नहीं रहता, तथापि परमेश्वर, भिन्न भिन्न पुरुष भोग्य वह सब पदार्थ सृष्टि करते हैं। क्यों कि, वास्तव में वही एक मात्र कर्ता-वही सत्य संकल्प तथा अनन्त शक्ति सम्पन्न, सुतरां, उनके लिये, उस प्रकार कर्तृत्व, सम्भव पर है-ही-है।

'मानुष निद्रित होने से भी, जो पुरुष (परमेश्वर) पर्य्याप्त परिमाण काम्य वस्तु निर्माण करते हुये जागते रहते हैं, वही शुक्र (शुद्ध), वही ब्रह्म तथा वही अमृत नाम से कथित होते हैं। समस्त लोक उनको आश्रय करके रहता है। कोई भी उनको अतिक्रम नहीं कर सकता।' सूत्रकार-श्री वेदव्यासजी का भी स्वप्नावस्था में सृष्टि का उल्लेख है' तथा 'कोई कोई (जीव को स्वप्न कालीन) पुत्रादि की निर्माता कहते हैं'-इन दोनों सूत्र में स्वप्न पदार्थ की सृष्टि में, प्रथमतः जीव का कर्तृत्व शंका करके, परिशेष 'क्यों कि, यथा यथ रूप से प्रकाशित नहीं होता, अतएव, 'वह सब पदार्थ केवल माया मात्र'-इत्यादि सूत्रों में कहे हैं कि, संसार दशा में जीवका सत्य संकल्पत्व प्रभृति स्वाभाविक धर्म समूह, जब, अनभिव्यक्त रहता है, तब, उस अवस्था पर, उसकी इच्छा मात्र से स्वप्न पदार्थ की सृष्टि कभी सम्भव पर नहीं। अतएव, परमेश्वर ही स्वप्नकाल में भिन्न भिन्न पुरुष के दर्शन योग्य विभिन्न विचित्र पदार्थ सृष्टि करते हैं। विशेषतः 'समस्त लोक ही उनके आश्रित, कोई भी उनको अतिक्रम नहीं कर सकते।' इत्यादि श्रुतियों से भी, तत्काल विषे परमात्मा ही को सृष्टि कर्तृत्व जाना जाता है,-इसको कह कर स्वप्न कालीन जीव-सृष्टि-शंका का समाधान किये हैं। और गृहाभ्यन्तरस्थ निद्रित व्यक्ति भी जो, उसी अवस्था में स्वशरीर से ही देशा-

पीत शंखादौ तु नयनवर्ति–पित्तद्रव्य सम्भिन्ना नायन रश्मयः शंखादिभिः संयुज्यन्ते। तत्रापि पित्तगत–पीतिमाभिभूतः शंखगत–शुक्लिमा न गृह्यते । अतः सुवर्णानुलिप्त शंखवत् 'पीतःशंखः' इतिप्रतीयते। पीतद्रव्यं तद्गत पीतिमा चातिसूक्ष्मतया पार्श्वस्थैर्न गृह्यते। पित्तोपहतेन तु स्वनयननिष्क्रान्ततया अतिसामीप्यात् सूक्ष्ममपि गृह्यते। तद्ग्रहण जनित संस्कारसचिव–नायनरश्मिभिर्दूरस्थमपिगृह्यते। जपाकुसुम–समीपवर्ति–स्फटिकमणिरपि तत्प्रभाभिभूततयारक्त इति गृह्यते। जपाकुसुमप्रभावितताऽपि स्वच्छद्रव्य संयुक्ततया स्फुटतरमुपलभ्यत इत्युपलब्धि–व्यवस्थाप्यमिदम्। मरीचिका–जल ज्ञानेऽपि तेजः पृथिव्योरप्यम्बुनो विद्यमानत्वादिन्द्रियदोषेण तेजः पृथिव्योरग्रहणाच्चादृष्टवशाच्चाम्बुनो ग्रहणात् यथार्थत्वम्। अलात चक्रेऽप्यलातस्य द्रुततरगमनेन सर्व्वदेश संयोगादन्तरालाग्रहणात् तथा प्रतीति रुपपद्यते। चक्र प्रतीतावप्यन्तरालाग्रहणपूर्व्वक–तत्तद्देश संयुक्त तत्तद्वस्तु ग्रहणमेव । क्वचिदन्तरालाभावादन्तरालाग्रहणम् । क्वचित् शैघ्र्यादग्रहणमिति विशेषः। अतस्तदपि यथार्थम् दर्पणादिषु निजमुखादि प्रतीतिरपि यथार्था। दर्पणादि–प्रतिहतगतयो हि नायन रश्मयो दर्पणादि देश–ग्रहणपूर्व्वकं निज मुखादि गृह्णन्ति। तत्राप्यतिशैघ्र्यादन्तरालाग्रहणात् तथाप्रतीतिः।

दिंमोहेऽपि दिगन्तरस्य अस्यांदिशि विद्यमानत्वाददृष्टवशेनैतद्दिगंश वियुक्तो दिगन्तरांशो गृह्यते। अतो दिगन्तरप्रतीतिर्यथार्थैव। द्विचन्द्र–ज्ञानादावप्यंगुल्यवष्टम्भ–तिमिरादिभिर्नायन–तेजोगतिभेदेन सामग्री भेदात्, सामग्रीद्वयमन्योन्यनिरपेक्षं चन्द्रग्रहणद्वय–हेतुर्भवति। तत्रैका सामग्री स्वदेशविशिष्टं चन्द्रं गृह्णाति, द्वितीया तु किञ्चिद्वक्र गतिश्चन्द्र समीपदेशग्रहणपूर्व्वकं चन्द्रं स्वदेशवियुक्तं गृह्णाति। अतःसामग्री द्वयेनयुगपद्देशद्वयविशिष्ट चन्द्र ग्रहणेऽपि ग्रहणभेदेन ग्राह्याकार भेदादेकत्वग्रहणा भावाच्च 'द्वौ चन्द्रौ' इति भवति प्रतीति विशेषः। देशान्त-

---

न्तर गमन राज्याभिषेक तथा स्वशिरश्छेदन आदि दर्शन करता है, सो, उससे भी समझना चाहिये कि, तत्काल विषे, पाप पुण्य के फल से प्रकृत देह के अनुरूप अपर देह सृष्ट होता है, और, उसी देह से ही तात्कालिक क्रियांय सम्पन्न होता है। १०४॥

रस्य चागृहीतस्वदेशचन्द्रस्य च निरन्तरग्रहणेन भवति । तत्र सामग्रीद्वित्वं पारमार्थिकम् । तेन देशद्वयविशिष्ट चन्द्रग्रहणद्वयं च पारमार्थिकम् । ग्रहणद्वित्वेन चन्द्रस्यैव ग्राह्याकार द्वित्वंच पारमार्थिकम् । तत्र विशेषण द्वय-विशिष्ट-चन्द्रग्रहणद्वयस्यैक एव चन्द्रोग्राह्यः, इति ग्रहणे प्रत्यभिज्ञानवत् केवल चक्षुषः सामर्थ्याभावाच्चाक्षुषं ज्ञानं तथैवावतिष्ठते । द्वयोश्चक्षुषोरेकसामग्रन्त-र्भावेऽपि तिमिरादिदोष भिन्नं चाक्षुषं तेजः सामग्रीद्वयं भवतीति कार्य्यंकल्प्यम्। अपगतेतु दोषे स्वदेशविशिष्टस्य चन्द्रस्यैकग्रहणवेद्यत्वादेकश्चन्द्र इतिभवति प्रत्ययः दोषकृतन्तु सामग्रीद्वित्वम्; तत्कृतं ग्रहणद्वित्वम्; तत्कृतं ग्राह्याकारद्वित्वञ्चेति निरवद्यम्। अतः सर्व्वं विज्ञानजातं यथार्थमिति सिद्धम् ॥ १०५ ॥

किन्तु, पीत शंखादि प्रतीति में, नयन गत पित्त के साथ नयन रश्मि मिश्रित होके, दृश्यमान शंखादि सहित संयुक्त होता है, उसीके फलरूप, पित्तगत पीतवर्ण से शंख की स्वाभाविक शुभ्रता अभिभूत होती है, इसी कारण से, शंख की शुभ्रता फिर नयन गोचर नहीं होती। अतः, सुवर्ण रञ्जितपीत शंख-ऐसा प्रतीयमान होता है। अति सूक्ष्मता हेतु, नयनगत पित्त तथा उसका पीत वर्ण को पार्श्वस्थ व्यक्ति नहीं देख सकता, किन्तु सूक्ष्म होने से भी अति नैकट्य वशतः पित्तोपहत पुरुषों ने उसको देख सकता। और, उस प्रकार से (श्वेत को पीत रूप) ग्रहण करते करते, नयन रश्मि में जो संस्कार उपस्थित होता है, उसी संस्कार से तादृश नयन रश्मि अति दूरस्थ वस्तु को भी (वैसा ही) ग्रहण में समर्थ होता है।

उसी माफिक, जपाकुसुम सन्निहित स्फटिक, जपाकुसुम की लोहित प्रभा से अभि-भूत हो जाता है, ताते ही, स्फटिक लोहित दिखता है। जपाकुसुम की प्रभा चारों तरफ फैलाते हुये भी, स्वच्छ वस्तु के संयोग से ही, जो, सुस्पष्ट रूप प्रतीत होता है, सो, उप-लब्धि या प्रतीति बल से ही उस प्रकार नियम को मानना पड़ता। और, मरीचिका में जो जलकी प्रतीति होती है, उसमें भी समझना चाहिये कि, तेज तथा पृथिवी में जो जलविद्यमान है, मात्र इन्द्रिय गत दोष से तेज तथा पृथिवी की प्रतीति न होके, अदृष्ट वशतःकेवल जल ही की प्रतीति होती है। सुतरां, वह जल भी अलक्ष्य नहीं अलात चक्र में भी, अलात चक्र का अतिद्रुत गमन के फल से, तद्गत अवकाश दृष्ट नहीं होता,-सर्वत्र ही अविच्छेद भाव से

उसकी सत्ता की प्रतीति होती है, मात्र। और, जो अलात (ज्वलन्त पिण्ड) की चक्राकार प्रतीति, सो उसका भी कारण-मध्यवर्ति अवकाश की अप्रतीति तथा सर्वत्र संयुक्त रूप प्रतीति। विशेष इतना ही है, कि सायत,कहीं अवकाश नहीं, तभी, उसकी प्रतीति भी नहीं होती, और, कहीं अतिवेग वशत: अवकाश की अप्रतीति होती है। अतएव वह भी यथार्थ ही है। दर्पणादि स्वच्छ पदार्थों में जो, निज मुखादिकों का विपरीत भाव प्रतीत होता है, सो भी मिथ्या नहीं, क्यों कि नयन रश्मि सम्मुखस्थ दर्पणादिकों पर पतित तथा प्रतिहत होके, अति शीघ्रता के कारण, अन्तराल की अप्रतीति हेतु, दर्पणादि-देश ग्रहण पूर्वक, निज मुखादिकों को ग्रहण करती है, तभी, उस प्रकार (विपरीत भाव-वाम दक्षिण की समता) प्रतीति होती है।

और, दिक्-मोह (भ्रम) में सो भी,-भ्रान्ति के आश्रयीभूत दिक् में अन्यान्य दिगों का भी सम्बन्ध हेतु, भ्रम-समय अदृष्ट अनुसार अन्यान्य दिग्-भाग की प्रतीति न होने से मात्र उसी दिक् की प्रतीति होती है, अतएव, एक दिक को अन्य दिक रूप प्रतीति, सो भी मिथ्या नहीं। द्विचन्द्र दर्शन में भी अँगुली के अग्रभाग से दबाने के कारण, नयन रश्मि द्विधा निर्गत होती है, वह द्विधानिर्गत रश्मि, परस्पर निरपेक्ष भाव से द्विचन्द्र दर्शन का कारण होता है। तिनमें से एक भाग रश्मि, यथा स्थान स्थित चन्द्र को ग्रहण करती है, और दूसरा भाग, सो किञ्चित् वक्रभाव से, चन्द्र के समीपवर्ति स्थान को लिये हुये उसी चन्द्र को देखता है। अतएव द्विविध कारण उपस्थित रहने के लिये,एकही समय विभिन्न-स्थानगत रूप में दो चांद की प्रतीति होती है। सो,इसीसे, समझना चाहिये कि, दर्शन के कारणीभूत नयन रश्मि के प्रभेद से, ग्राह्य चन्द्र की भी आकृति का भेद होता है, इसीसे,एक के बदले में दो चन्द्रमा दिखाई देती है। अति क्षिप्रता वश, देशान्तर तथा चन्द्र का आश्रय भूत देश-इन उभय का प्रभेद प्रतीति न होने से, चन्द्र को अन्य देशस्थ मालूम होता है। अतएव, उसमें भी,दर्शन-साधन चाक्षुष तेजका जो द्वित्व सो वास्तविक, उसका फलरूप पृथक स्थान स्थित रूप चन्द्रगत द्वित्व-प्रतीति भी सत्य,सुतरां साधन का द्वित्व निबन्धन एक ही चन्द्र का द्वित्व-विशिष्ट-ग्रहण, सो भी पारमार्थिक। प्रत्यभिज्ञा में (यही सोइ हस्ती-आदि में) जैसे चक्षु मात्र ही ज्ञान साधन नहीं होता है-पूर्व संस्कार की भी अपेक्षा रहती है, तैसे ही, दोनों स्थान पर स्थिति के कारण, चन्द्र विषय में दो ज्ञान उत्पन्न होने से, सोई संस्कारानुसार चक्षु, तब

ख्यात्यन्तराणां दूषणानि तैस्तैर्व्वादिभिरेव प्रपञ्चितानि, इति न तत्र यत्नः क्रियते। अथवा किमनेन वहुनोपपादन प्रकारेण। प्रत्यक्षानुमानागमाख्यं प्रमाणजातम्, आगमगम्यञ्च निरस्त निखिलदोष-गन्धमनवधिकातिशया संख्येयकल्याणगुणगणं सर्व्वज्ञ सत्य संकल्पं परंब्रह्माभ्युपगच्छतां किं न सेत्स्यति; किं नोपपद्यते। भगवताहि परेण ब्रह्मणा क्षेत्रज्ञ-पुण्य पापानुगुणं तद्भोग्यत्वायाखिलं जगत् सृजता सुख दुःखोपेक्षा-फलानुभवानुभाव्याःपदार्थाःसर्व्वसाधारणानुभवविषयाः,केचन तत्तत् पुरुष मात्रानुभवविषयास्तत्तत्कालावसानास्तथातथानुभाव्याः सृज्यन्ते। तत्रवाध्य बाधकभावः सर्व्वानुभव विषयतया तद्रहिततया चोपपद्यत इति सर्व्वं समञ्जसम्।

यत्पुनः, सदसदनिर्व्वचनीयमज्ञानं श्रुतिसिद्धमिति; तदसत्। 'अनृतेनहिप्रत्यूढ़ाः' इत्यादिष्वनृत शब्दस्यानिर्व्वचनीया नभिधायित्वात्। 'ऋतेतरविषयोह्यनृतशब्दः। ऋतमिति कर्म्मवाचि, 'ऋतं पिवन्तौ' इति वचनात्। ऋतं-कर्म्मफलाभिसन्धिरहितम् परमपुरुषाराधनवेषं तत् प्राप्तिफलम्। अत्र तद्व्यतिरिक्तं सांसारिकफलं कर्म्मानृतं ब्रह्मप्राप्ति विरोधि 'एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्नृतेन हि प्रत्यूढ़ाः। छान्दो० ८-३-२ इति वचनात्।

'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्'-यजु-२-८-९। इत्यत्रापि सदसच्छब्दौ चिदचिद्व्यष्टि विषयौ। उत्पत्तिवेलायां सत्त्यत्-शब्दाभिहितयोः चिदचिद्व्यष्टि-

फिर चन्द्र का एकत्व को नहीं देख सकता? इसीसे, चाक्षुप प्रत्यक्ष विद्यमान रहते हुये भी, चन्द्र का एकत्व प्रतीति-गोचर नहीं होता। यद्यपि, चक्षु-द्वय एक ही कार्य्य पर एक ही साधन का अन्तर्भुक्त, तथापि, विभिन्न कार्य्य दर्शन में कल्पना की जाती है कि, नयन रश्मि तिमिरादि दोष दुष्ट होने से, पृथक् पृथक दो साधन होकर, दो कार्य्य को करता है। पुनश्च, दोष मिट जाने से, स्वाभाविक भाव से, यथा स्थान स्थित एक ही चन्द्र को ग्रहण करता है, सुतरां, तत् समय चन्द्र एक ही प्रतीति होता है। दोष के वश में साधन का द्वित्व, साधन का द्वित्व में ज्ञान का द्वित्व, ज्ञान का द्वित्वानुसार ग्राह्य चन्द्रादिकों का द्वित्व प्रतीत होता है और, इसी दोष का नाश में, तदधीन समस्त कार्य्य ही विलुप्त हो जाता है, इस प्रकार कल्पना से समस्त सिद्धान्त ही निर्दोष है अतएव समस्त विज्ञान ही यथार्थ-मिथ्या कुछ भी नहीं। १०५॥

भूतयोर्व्वस्तुनोरप्यय कालेऽचित् समष्टिभूते तमः शब्दाभिधेये वस्तुनि प्रलय-प्रतिपादनपरत्वादस्य वाक्यस्य, नात्रकस्यचित् सदसदनिर्व्वचनीयतोच्यते; सदसतोः कालविशेषेऽसद्भाव मात्र वचनात्। अत्र तमः शब्दाभिहितस्याचित् समष्टित्वं श्रुत्यन्तरादवगम्यते, 'अव्यक्तमक्षरेलीयते अक्षरंतमसि लीयते, तमः परे देवे एकीभवति'-सुबालो० २। इति। सत्यम्; तमः शब्देनाचित् समष्टिरुपायाः प्रकृतेः सूक्ष्मावस्थोच्यते। तस्यास्तु, 'मायान्तुप्रकृतिं विद्यात्'-श्वेताश्व-४-१०। इति मायाशब्देनाभिधानादनिर्व्वचनीयत्वमिति चेत; नैतदेवम्, मायाशब्दस्यानिर्व्वचनीय वाचित्वं न दृष्टमिति। मायाशब्दस्य मिथ्यापर्य्यायत्वेनानिर्व्वचनीयत्वमिति चेत्; तदपि नास्ति। नहि सर्व्वत्र मायाशब्दो मिथ्याविषयः असुर-राक्षस-शास्त्रादिषु सत्येष्वेव मायाशब्द प्रयोगात् यथोक्तम्-वि० पुराणे-१-१६-२०-

'तेनमायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना। बालस्य रक्षतादेहमेकैकश्येनसूदितम्'॥

इति। अतो मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकराभिधायी। प्रकृतेश्च मायाशब्दाभिधानं विचित्रार्थ सर्गकरत्वादेव।-श्वेताश्व-४।६।--

'अस्मान्मायी सृजतेविश्वमेतत्, तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः॥' इति माया शब्द वाच्यायाः प्रकृतेर्व्विचित्रार्थ सर्गकरत्वं दर्शयति। परम पुरुषस्य च तद्वत्तामात्रेण मायित्वमुच्यते नाज्ञत्वेन। जीवस्यैव हि माययानिरोधः श्रूयते-- 'तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः'-इति। 'अनादि मायया सुप्तो यदाजीवः प्रबुध्यते'-माण्डूक्य--२-२१। इति च। 'इन्द्रो मायाभिःपुरुरूपईयते'। इत्यत्रापि विचिताः शक्तयोऽभिधियन्ते। अतएव हि, 'भूरि त्वष्टेव राजति'-इत्युच्यते। नहि मिथ्याभूतः कश्चिद्विराजते। 'मम माया दुरत्यया'--इत्यत्रापि गुणमयीति वचनात् सैव त्रिगुणात्मिकाप्रकृतिरुच्यते, इति न श्रुतिभिः सदसदनिर्व्वचनीया ज्ञान प्रतिपादनम्॥

नाप्यैक्योपदेशानुपपत्त्या; नहि 'तत्वमसि' इति जीव-परयोरैक्योपदेशे सति, सर्व्वज्ञे सत्यसंकल्पे सकल जगत्-सर्ग-स्थिति-विनाशहेतुभूते तच्छब्दावगते प्रकृते ब्रह्मणि विरुद्धाज्ञान--परिकल्पना हेतु भूता काचिदप्यनुपपत्तिर्दृश्यते। ऐक्योपदेशस्तु 'त्वम्' शब्देनापि जीव--शरीरकस्य ब्रह्मण एवाभिधानादुपपन्नतरः 'अनेन

जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि-छान्दो--६--३--२ । इति सर्व्वस्य वस्तुनः परमात्मपर्य्यन्तस्यैव हि नामरूप भाक्त्वमुक्तम्; अतो न ब्रह्माज्ञानपरिकल्पनम् । इतिहास-पुराणयोरपि न ब्रह्माज्ञानवादः कचिदपि दृश्यते ॥ १०६ ॥

अपरापर ख्यातिवाद में भी जो जो दोष उपस्थित होता हैं, वादियों ने ही उन दोष की आलोचना विस्तृत रूप में किये हैं, अतएव, उस विषय में पुनर्य्यत्न करना अनावश्यक है। अथवा, इस प्रकार बहु विध उपपादन-समर्थन की चेष्टा में कुछ भी प्रयोजन नहीं है । क्यों कि, जिन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम, (शब्द) यह त्रिविध प्रमाण स्वीकार करते हैं तथा सर्व प्रकार दोष सम्बन्ध वर्जित, न्युनाधिक-भाव-रहित, असंख्य-कल्याणमय गुण भूषित और सत्य संकल्प तथा सर्वज्ञत्व-गुण विशिष्ट ब्रह्म का अस्तित्व अंगीकार करते हैं उनके लिये कुछ भी असिद्ध या अनुपपन्न नहीं हो सकता। समझना चाहिये भगवान परब्रह्म जीवों के पुण्य पापानुसार, सुख दुःख तथा उपेक्षात्मक फलप्रद जो सब जीव भोग्य पदार्थों की सृष्टि किये हैं, तिनमें से कुछ कुछ सर्व साधारणों के प्रतीतिगोचर (भोग्य रूप) और कुछ कुछ केवल एक एक-व्यक्ति विशेष के भोग्य, और, कुछ कुछ विशेष विशेष समयोपयोगी रूप । अतएव, इन सृष्ट पदार्थों में जो बाध्य बाधक भाव, सो कभी कभी सर्व साधारण का अनुभव के विषय होता है, और, कभी कभी सो न होके व्यक्ति विशेष मात्र के प्रतीतिगम्य होता है,-इस प्रकार से समस्त विषय की उपपत्ति तथा सामंजस्य सुरक्षित हो सकते ।

सदसद निर्वचनीय ज्ञान को, जो, श्रुति सिद्ध कहा गया है, सो भी संगत नहीं हुये। क्यों कि, (उदाहरण रूप) 'अनृतेनहि प्रत्यूढ़ाः' इत्यादि वाक्यस्थ 'अनृत' शब्द सो, कभी भी अनिर्वचनीयता बोधक नहीं हैं। क्यों कि, ऋत भिन्न वस्तु ही अनृत शब्द का यथार्थ अर्थ। 'ऋतम् पिवन्तौ'-श्रुति अनुसार जाना जाता है 'कि 'ऋत' शब्द का अर्थ 'कर्म'। 'उन्होंने यह ब्रह्म लोक (को) प्राप्त नहीं होते'-कारण-उन्हों ने अनृत द्वारा समावृत।' इस श्रुति से समझा जाता है कि, फलाकांक्षा रहित, भगवत् प्राप्ति साधक भगवत् आराधन रूप जो कर्म, सोई 'ऋत' शब्द का वाच्यार्थ, और तद्भिन्न-ब्रह्मप्राप्ति के प्रतिकूल, सांसारिक फल साधक कर्म मात्र ही अनृत (न + ऋत) पद वाच्य। ऐसा अर्थ

होने से ही, श्रुति कथित,-'क्यों कि, वे सब अनृत-समाच्छादित'-वाक्य का भी सार्थकता रहती है।

'तब, सृष्टि के पूर्व में असत् नहीं रहा, सत् भी नहीं रहे'-इसमें सत् तथा असत् शब्द द्वय, चेतन और अचेतन का व्यष्टि बोधक, अर्थात्-एक एक चेतनाचेतन वस्तु का बोधक, क्यों कि, उक्त जो वाक्य सो प्रलय काल प्रतिपादन के ही लिये प्रयुक्त भया है, अर्थात्-सृष्टि काल में, सत्' तथा 'त्यत्' शब्द से जो समस्त व्यष्टि-भूत चेतनाचेतन वस्तु अभिहित होता है, तत् समस्त ही, जो, प्रलयकाल में अचित् समष्टि रूप तमः' शब्द वाच्य प्रकृति में विलीन रहता है, मात्र इसी भाव को प्रतिपादन के लिये ही 'नास-दासीत्'-वाक्य की अवतारणा हुई है, वस्तुतः उस वाक्य से कोई वस्तु की अनिर्वचनीयता अभिहित नहीं भयी, परन्तु, सत् तथा असत् वस्तु जो, समय विशेष पर नहीं रहता, मात्र सोई कही गई है। उस श्रुति में जो 'तमः' शब्द अचेतन समष्टि बोधक सो, अव्यक्त सूक्ष्मावस्था अक्षर में, अक्षर तम में विलीन होता है, तमः फिर पर देवता-परमात्मा में एकी भूत हो रहता है'-इस श्रुति से भी जाना जाता है। हाँ, यद्यपि, 'तमः' शब्द से अचित् समष्टि रूपा प्रकृति की सूक्ष्मावस्था ही उक्त भई हो-सो ठीक है किन्तु 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'- माया को प्रकृति करके जानना',-यह श्रुति प्रकृति ही को, माया शब्द से अभिहित कराने के कारण, 'तमः' शब्दोक्त प्रकृति की अनिर्वचनीयता ही प्रतीति हो रही है ? नहीं,-'माया' शब्द का अनिवचनीत्व-अर्थ, जब कहीं भी देखा नहीं जाता तब वैसा अर्थ कैसे किया जाय ? यदि कहिये कि, 'माया' शब्द मिथ्या-पर्याय में उक्त है, ताते अनि-र्वचनीयत्व बोधक कहना चाहिये। नहीं,-सर्वत्र मिथ्या अर्थ में प्रयुक्त न होने से, मिथ्या-पर्याय भी कहा नहीं जा सकता। क्यों कि, असुर राक्षसों ने जो सब अस्त्रों का प्रयोग करता है सो मिथ्या नहीं तथापि माया शब्द से अभिहित करते देखा जाता है। श्रीविष्णु पुराण में-'श्री विष्णु-आज्ञा से समागत, त्वरित गति-सुदर्शन बालक प्रह्लादजी को देह रक्षार्थ, शम्बर की माया सहस्र को, एक एक करके विध्वस्त करते भये।' अतएव समझना चाहिये कि, आश्चर्य वस्तु-सृष्टि ही माया शब्द का अर्थ, मिथ्यावस्तु नहीं। प्रकृति भी विचित्र सृष्टि कारिनी, ताते ही माया शब्द से अभिहित होती है। 'मायी परमेश्वर इन्हीं से जगत् सृष्टि करते हैं, जीव उसी माया से उनमें सन्निरुद्ध रहता है।' यह श्रुति, प्रकृति की

ननु 'ज्योतींषिविष्णुः' इति ब्रह्मैकमेव तत्त्वमिति प्रतिज्ञाय 'ज्ञानस्वरूपो भगवान यतोऽसौ' इति शैलाब्धि-धरादि भेद-भिन्नस्य जगतो ज्ञानैक स्वरूप-ब्रह्म

विचित्र शक्ति योग से विचित्र कार्य कारित्व को प्रदर्शन कर रहे हैं। माया सम्बन्ध से ही परम पुरुष को 'मायी' कही जाती है, किन्तु अज्ञत्व के लिये नहीं। और, माया सम्बन्ध वशतः जो निरोध या शक्ति संकोच, सो केवल जीवों के लिये होता है। 'अपरजव ही, उससे आवद्ध होता है।' 'अनादि माया के वश में निद्रित जीव जब प्रबुद्ध होता है।' इन उभय श्रुतियों में वही अर्थ प्रमाणित हो रहा है। और पूर्वोक्त 'इन्द्रो मायाभिः' वाक्य में भी माया शब्द से परमेश्वर शक्ति की विचित्रता ही दिखलायी गई मिथ्यात्व नहीं। इसी कारण से परमेश्वर को 'प्रचुर सृष्टि कर्ता प्राय विराजमान' कहा जाता है। किन्तु, जगत् मिथ्या होने में निर्माण कौशल की विराजमानता असम्भव है। और गीताजी में 'मम माया' इत्यादि वाक्यों में भी 'गुण मयी' विशेषण रहने से, वही त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही उल्लेख समझा जाता है। तभी, देखा जाता है कि कोई भी श्रुति, सदसत् रूप अनिर्वचनीय अज्ञान का अस्तित्व प्रतिपादन नहीं कर रही है।

ऐक्य या अभेद उपदेश की असंगति के लिये भी (वैसी कल्पना) नहीं हो सकती क्यों कि, 'तत् त्वम् असि' इस वाक्य में जीव और परमात्मा का एकत्व या अभेद उपदेश या निर्धारित होने के बाद ऐसा कोई अनुपपत्ति या असंगति नहीं देख पड़ती, जिसलिये सर्वज्ञ सत्य सङ्कल्प तथा समस्त जगत् की सृष्टि स्थिति-लयकर्ता 'तत्' पदार्थ ब्रह्म में भी ज्ञान विरुद्ध एक अज्ञान का अस्तित्व कल्पना का आवश्यक हो। विशेषतः 'त्वम्' पद से जीव शरीरक ब्रह्म को कहा गया है-ऐसा स्वीकार करने से भी, पूर्वोक्त अभेद उपदेश समधिक सुसगत हो सकता। अर्थात्-जीव जब ब्रह्म का ही शरीर तब, 'त्वम' पदवाच्य जीव और 'तत्' पद वाच्या ब्रह्म की अभेदोक्ति विरुद्ध नहीं हो सकती। हम यह जीवात्मा रूप से अभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर नाम तथा रूप को प्रकट करेंगे।' इस श्रुति में परमात्मा पर्यन्त समस्त वस्तु को ही नाम-रूप-भागी कही गयी है, (सुतरां, जीव भी ब्रह्म का ही शरीर स्थानीय) अतएव, फिर ब्रह्म में अज्ञान कल्पना का कोई आवश्यक नहीं होता है, और कोई इतिहास पुराण में भी ब्रह्माश्रित अज्ञान का कथन नहीं देखा जाता है। १:९ ॥

ज्ञान विजृम्भितत्वमेवाभिधाय 'यदा तु शुद्धं निजरूपि' इति ज्ञान भूतस्यैव ब्रह्मणः स्व-स्वरूपावस्थिति वेलायां वस्तुभेदाभाव दर्शनेनाज्ञानविजृम्भितत्वमेव स्थिरी· कृत्य, 'वस्त्वस्ति किं,'-'मही, घटत्वम्'-इति श्लोक द्वयेन जगदुपलब्धि प्रकारेणापि वस्तुभेदानामसत्यत्वमुपपाद्य 'तस्मान्न विज्ञान मृते' इति प्रतिज्ञातं ब्रह्म व्यतिरिक्त-स्या सत्यत्व मुप संहृत्य 'विज्ञान मेकम्' इति ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि भेद दर्शन निमित्ता ज्ञान मूलं निजकर्म्मैवेति स्फुटीकृत्य 'ज्ञानं विशुद्धम्' इति ज्ञानस्वरूपस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विशोध्य सद्भाव एव भवतोमयोक्तः' इति ज्ञान स्वरूपस्य ब्रह्मण· एव सत्यत्वं नान्यस्य, अन्यस्य चासत्यत्वमेव,तस्य भुवनादेः सत्यत्वं व्यावहारिक मिति तत्त्वं तवोपदिष्टमेवेत्युपदेशो दृश्यते ।

नैतदेवम्; अत्र भुवन कोशस्य विस्तीर्णं स्वरूपमुक्त्वा पूर्व्वमनुक्तं रूपान्तरं संक्षेपतः 'श्रूयताम्' इत्यारभ्याभिधीयते; चिदचिन्मिश्रे जगति चिदंशोवाङ्मन: सागोचरः स्वसम्वेद्यस्वरूपभेदो ज्ञानैकाकारतया अस्पृष्ट प्राकृत भेदोऽविनाशित्वेन 'अस्ति'-शब्द वाच्यः । अचिदंशस्तु चिदंशकर्म निमित्त-परिणामभेदोविनाशीति 'नास्ति'-शब्दाभिधेयः। उभयन्तु परब्रह्म-भूतवासुदेव शरीरतया तदात्मकमित्येत-द्रूपं संक्षेपेणात्राभिहितम् ।-

तथाहि—'यदम्बुवैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरा ।
पद्माकारा समुद्भूता पर्व्वताब्ध्यादि संयुता ॥ श्री वि० पु० २-१२-३७

इत्यम्बुनो विष्णु शरीरत्वेनाम्बु-परिणामभूतं ब्रह्माण्डमपिविष्णोः कायः तस्य च विष्णुरात्मेति सकल श्रुति गत तादात्म्योपदेशोपबृंहण रूपस्य सामान्याधि करण्यस्य 'ज्योतींषिविष्णुः' इत्यारभ्य वक्ष्यमाणस्य शरीरात्मभाव एव निबन्धन-मित्याह । अस्मिन् शास्त्रे पूर्व्वं मप्येतदसकृदुक्तम् ,-'तानिसर्व्वाणि तद्वपुः' । तत् सर्व्वं वै हरेस्तनुः; 'स एव सर्व्व भूतात्मा प्रधान पुरुषात्मनः; 'विश्वरूपो यतो-ऽव्ययः'; इति । तदिदंशरीरात्मभावायत्तं तादात्म्यं सामानाधिकरण्येन व्यपदि· शतिज्योतींषि विष्णुः' इति ।

अत्र अस्त्यात्मकं नास्त्यात्मकं च जगदन्तर्गतं वस्तु विष्णोःकायतया विष्णवा-त्मक मित्युक्तम्। इदमस्त्यात्मकम्, इदं नास्त्यात्मकम् अस्यचनास्त्यात्मकत्वे हेतु-

रयमित्याह, 'ज्ञान स्वरूपो भगवान् यतोऽसौ' इत्यशेष क्षेत्रज्ञात्मनावस्थितस्य भगवतो ज्ञान मेव स्वाभाविकं रूपम्, न देव मनुष्यादिवस्तु रूपम्। यतएवम्, तत एवाचिद्रूप देव-मनुष्य-शैलाब्धिधरादयश्च तद्विज्ञान-विजृम्भिताः, तस्य ज्ञानैकाकारस्य सतो देवाद्याकारेण स्वात्म-वैविध्यानुसन्धानमूलाः-देवाद्याकारानुसन्धान-मूल-कर्म्ममूलाइत्यर्थः। यतश्चाचिद्वस्तु क्षेत्रज्ञकर्म्मानुगुणं परिणामास्पदम्. तत, सन्नास्ति शब्दाभिधेयम् इतरदस्ति-शब्दाभिधेयमित्यर्थादुक्तं भवति। तदेव विवृणोति-'यदातु शुद्धं निजरूपि' इति। यदैतत् ज्ञानैकाकार-मात्म वस्तु देवाद्याकारेण स्वात्मनि वैविध्यानुसन्धानमूल-सर्व्वकर्म्मक्षयात् निर्दोषं परिशुद्धं निज रूपि भवति तदादेवाद्याकारेणैकीकृत्य आत्मकल्पना--मूल कर्म्मफल भूतास्तद्भोगार्था वस्तुषु वस्तु भेदा न भवन्ति ॥ १०७॥

भला-विष्णुपुराण में विष्णु ज्योतिः स्वरूपा' इस वाक्य में ब्रह्म ही एक मात्र तत्व कह कर प्रतिज्ञा करके 'ज्ञान स्वरूप भगवान' इस वाक्य में शैल, समुद्र, पृथिवी प्रभृति विविध भेदसम्पन्न इस समस्त जगत को, ज्ञानमय ब्रह्म का अज्ञान-समुत्पादित कहा गया है। इसके बाद 'ब्रह्म जब विशुद्ध स्वरूप प्राप्त होते हैं' इस वाक्य में ज्ञान स्वरूप ब्रह्म का स्वरूपावस्थित दशा में जगत् भेद नहीं रहता है कहके, जगत् की अज्ञान-जन्यता को दृढ़तर करके, अवशेष 'वस्तु क्या ?' 'आदौ मृत्तिका पश्चात् घट होता है' इन दोनों श्लोक में, विभिन्न वस्तु-पूर्ण जगत की असत्यता प्रतिपादन किये हैं। उसके बाद 'अतएव विज्ञानातिरिक्त कुछ भी नहीं है'-इस प्रकार से पूर्व-प्रतिज्ञात जगत्-मिथ्यात्व का उपसंहार किये हैं। अनन्तर 'विज्ञान ही मात्र सत्य'-इस वाक्य में, जीव का स्वीय कर्म ही जो, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में भेद दर्शन के कारण रूप अज्ञान का मूल-कारण, सो सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादन करके 'विशुद्ध ज्ञान स्वरूप' वाक्य में, ब्रह्म का विशुद्ध स्वरूप को निर्देश किये हैं। उस प्रकार से ब्रह्म स्वरूप का संशोधन के बाद 'हमने इस प्रकार सद्भाव या अस्तित्व निरूपण किया' इस वाक्य से, 'एक मात्र ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही सत्य वस्तु, अन्य समस्त ही असत्य-मिथ्या' अधिकन्तु 'भुवनादि समस्त पदार्थ ही की सत्यता व्यवहारिक', 'हम तुमको यह तत्वोपदेश प्रदान किया',-इस प्रकार उपदेश परिलक्षित होता है। (अतएव भेद प्रतीति को रक्षाके लिये ही ब्रह्म में अनिर्वचनीय-अज्ञान-कल्पना का आवश्यक है।)

नहीं—अनिर्वचनीय अज्ञान कल्पना का आवश्यक नहीं होता है। कारण-श्री विष्णु पुराण का यह द्वितीय अंश ही में, प्रथमतः भूमण्डल का स्थूल-स्वरूप को विस्तृत भाव से वर्णन करके, परिशेष अनुक्त सूक्ष्म रूप को भी संक्षेप से वर्णना की गई, 'श्रूयताम्' इत्यादि वाक्य से लेकर उसी की वर्णना आरब्ध भयी है कहा गया कि, यह जगत् चित-जड़-मिश्रित उनमें से चित् अंश, सो मन वचन का अगोचर-केवल आत्म वेद्य-विविध विभाग सम्पन्न-एक मात्र ज्ञानाकार-अविनाशी तथा केवल अस्ति (सत्) पद वाच्य। और चित्भाग (जीव) का कर्म फल से विविध भेदाकार में परिणत-अचित अंश, सो विनाश शील, सुतरां, नास्तिपद वाच्य। यह चित् और अचित् दोनों पर ब्रह्म वासुदेव का शरीर, सुतरां, तत् स्वरूप। जगत का यह स्वरूप यहां पर संक्षेप से कहा गया है।

देखिये-वहां ही कथित है-'हे विप्र, विष्णु का शरीर स्वरूप जो जल, उसी से शैलसागर आदि संयुक्त, पद्माकार यह वसुन्धरा उत्पन्न-भयी है'-इस वाक्य में, अम्बु को श्री विष्णु का शरीर कहने से, अम्बु-परिणाम यह ब्रह्माण्ड भी उन्हीं का शरीर-स्थानीय समझना चाहिये। और श्रुति में भी, विष्णु को ब्रह्माण्ड की आत्मा करके, ब्रह्माण्ड औ विष्णु का सामानाधिकरण्य या अभेद निर्देश है, उक्त प्रकार शरीरात्म भाव ही उसका कारण यही सब बातें उस श्रुति में कही हुई है। इस शास्त्र में भी 'वह सब ही उनके शरीर', 'तत् समस्त ही उनके वपु' 'क्यों कि, आप विश्व-रूप तथा अव्यय अतएव, आप ही सर्व भूतों का आत्म-स्वरूप'-इत्यादि वाक्यों में यही बात, इतः पूर्व में बहुवार कही जा चुकी। शरीरात्म-भाव-घटित तादात्म्य ही 'ज्योतींषि विष्णुः' इत्यादि में (अभेद विशेषण-विशेष्य रूप से) अभिहित भया है।

इस जगन्मध्यगत अस्त्यात्मक और नास्त्यात्मक-सत तथा असत, यह उभयविध वस्तु ही विष्णु काशरीर, सुतरां तदात्मक-विष्णु स्वरूप करके उक्त भया है। यह जो सत तथा असत् रूप द्विविध पदार्थ तिनमें असत रूपत्व पक्ष में हेतु यह है कि, सत्रूप भगवान स्वयं ज्ञान स्वरूप, सर्व जीवरूप में अवस्थित-भगवान का ज्ञान ही मात्र स्वभावसिद्ध रूप-देव मनुष्यादि रूप सो स्वभाव सिद्ध नहीं है। अतएव, अचित् जड़ रूपी देव मनुष्य, पर्वत समुद्रादि भेद समूह उन्हीं का ज्ञान सम्भूत (इच्छा प्रसूत) अर्थात मात्र ज्ञान-स्वरूप भगवान का जो विविध वैचित्र्य जनक तथा देव-मनुष्यादि आकार-स्मारक कर्म राशि, सोई

ये देवादिवस्तुषु आत्मतयाभिमतेषु भोग्यभूता देवमनुष्य शैलाब्धि धरादि वस्तु भेदाः, ते तन्मूलभूताकर्म्मसु विनष्टेषु न भवन्तीत्यचिद्वस्तुनः कदाचित्का वस्थाविशेष-योगितया नास्ति' शब्दाभिधेयत्वम्, इतरस्य सर्व्वदानिसिद्धज्ञानैका-कारत्वेन 'अस्ति' शब्दाभिधेयत्वम् इतरस्य सर्वदा निज सिद्ध ज्ञानैकाकारत्वेन अस्तिशब्दाभिधेयत्व मित्यर्थः । प्रतिक्षणमन्यथाभूततया कदाचित्का-वस्थायोगिनोऽचिद्वस्तुनो 'नास्ति' शब्दाभिधेयत्वमेव, इत्याह 'वस्त्वस्ति किम्' इति । 'अस्ति' शब्दाभिधेयो ह्यादि मध्यपर्य्यन्तहीनः सततैक रूपः पदार्थः, तस्य कदा-चिदपि 'नास्तिबुद्ध्यनर्हत्वात् अचिद्वस्तु किञ्चित् कचिदपि तथाभूतं नदृष्ट चरम् ततः किमित्यत्राह, 'यच्चान्यथात्वम्' इति । यद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथात्वं, याति; तदु-त्तरोत्तरावस्थाप्राप्त्या पूर्व्व पूर्व्वावस्थां जहातीति तस्य पूर्व्वावस्थस्योत्तरावस्थायां न प्रतिसन्धानमस्ति । अतः सर्व्वदातस्य नास्ति' शब्दाभिधेयत्वमेव । तथा ह्युप-लभ्यते, इत्याह -'मही, घटत्वम्' इति । स्वकर्म्माणादेव-मनुष्यादि भावेन स्तिमि-तात्म निश्चयैः स्वभोग्य भूत मचिद्वस्तु प्रतिक्षणमन्यथाभूतमालक्ष्यते-अनुभूयत इत्यर्थः। एवं सति किमप्यचिद्वस्तु 'अस्ति-शब्दार्हमादि-मध्य पर्य्यन्तहीनं सततै-करूप मालक्षितमस्ति किम् ? न ह्यस्तीत्यभिप्रायः । यस्मादेवम्, तस्मात् ज्ञानस्वरू-पात्मव्यतिरिक्तमचिद्वस्तु कदाचित् केवलास्ति-शब्दवाच्यं न भवतीत्याह,-'तस्मा-न्नविज्ञानमृते' इति । आत्मातु सर्व्वत्र ज्ञानैकाकारतयादेवादिभेद प्रत्यनीकस्वरू-

---

उक्त प्रकार वैचित्र्य (जनक और देव मनुष्यादि आकार स्मारक) बोध का मूल कारण ।
क्यों कि, अचित् वस्तु निचय जीव का कर्म फल भोग के उपयुक्त परिणति मात्र, इसी वास्ते नास्ति या असत्--प्रतिपाद्य । इसी के ही फल से अचित भिन्न (चित्) वस्तु की अस्ति याने सत् पद वाच्यता भी सिद्ध भयी । यही अभिप्राय 'यदातु शुद्धं निज रूपि' वाक्य में विवृत की गयी है । मात्र ज्ञान स्वरूप आत्मा में जो देव मनुष्यादि रूप विविध वैचित्र्य आरोपित होति है, उसका मात्र हेतु कर्म ही है । सोइ समस्त कर्म का क्षय से आत्मा निर्दोष--विशुद्ध स्वीय स्वभाव के प्राप्त होता है, तब, देवतादिकों में आत्म भाव कल्पना की मूल कारण रूप कर्मराशि विनष्ट हो जाती है, सुतरां,--तत् काल में कर्म फलानुयायी भोग प्रद कोई वस्तु--भेद भी विद्यमान नहीं रहता है । १८७ ॥

पोऽपि देवादि शरीर-प्रवेशहेतुभूत-स्वकृतविविधकर्म्ममूल-देवादि भेदभिन्नात्मबुद्धिभिस्तेन तेन रूपेणवहुधानुसंहित इति तद्भेदानुसन्धानं नात्मस्वरूप प्रयुक्तम्, इत्याह,-'विज्ञानमेकम्' इति।

आत्म-स्वरूपन्तु कर्म्मरहितम्; ततएव मलरूप प्रकृति-स्पर्शरहितम्; ततश्च तत्प्रयुक्त-शोकमोहलोभाद्यशेष-हेयगुणासंगि, उपचयापचयानर्हतयाएकम्, ततएव सदैक रूपम्; तच्च वासुदेव शरीरमिति तदात्मकम्, अतदात्मकस्य कस्यचिदप्यभावादित्याह,-'ज्ञानं विशुद्धम्' इति॥ १०८॥

देवता प्रभृति में आत्मभाव स्थापन के कारण, देवता, मनुष्य, पर्वत तथा समुद्रादि जो सब वस्तु इतः पूर्व में जीवों का भोग्य स्वरूप रहा भोग्यता का मूल कारण कर्म्म समूह विनष्ट हो जाने से, वह सब वस्तुवों की भोग्यता भी जाती रहती, सुतरां उस समय त्रिपे वह सब वस्तु न रहने ही में परिगणनीय होता है, इसी से अचित् वस्तु सकल कदाचित् का वस्थायोगी' अर्थात् एक ही अवस्था बराबर के लिये नहीं रह सकती। ताते ही, वह सब 'नास्ति' शब्द से अभिहित होने के योग्य। और, चित् या चेतन वस्तु जो स्वतः सिद्ध--ज्ञान रूप में ही सर्वदा विद्यमान रहते हैं, तभी, वह 'अस्ति' शब्दाभिहित होने योग्य। 'अचित्'--जड़ वस्तु समूह प्रति--नियत ही परिवर्तन शील वो अनियत अवस्थाभागी, इसी निमित्त 'वस्त्वस्ति किं?' श्लोक में वह सब का 'नास्तित्व' अभिहित भया है। जो 'अस्ति'--शब्द का प्रतिपाद्य सो आदि--मध्य--अन्त हीन तथा सर्वदा एक रस उनमें नास्ति--बुद्धि कभी नहीं हो सकती। पक्षान्तर में कभी कोई अचित् वस्तु को उस प्रकार नहीं देखा जाता। अगर कहिये कि, ऐसा कहने से ही क्या होता? तदुत्तर रूप कहा गया यच्चान्यथात्वम्', अर्थात्—जो वस्तु क्षण क्षण में रूपान्तर को प्राप्त होता सो उत्तरोत्तर नूतनत्व को प्राप्त होता रहता है और पुरातनत्व को त्याग करता जाता, इस प्रकार से वह वस्तु ऐसी ही दूरवर्ती अवस्था में उपनीत होता है, जिससे कि, उसको देखने से उसका पूर्व भाव स्मरण नहीं होता। अतएव तथा विध अचित वस्तुवों को सदा ही 'नास्ति' शब्द से उल्लेख किया जाता है। देखिये 'मही, घटत्वम, इत्यादि वाक्य से भी तादृश उपलब्धि की बात ही उल्लिखित भयी है।

चिदंशः सदैकरूपतयासर्व्वदाऽस्ति-शब्द वाच्यः। अचिदंशस्तु प्रतिक्षण परिणामित्वेन सर्वदानाशगर्भः इति सर्व्वदा 'नास्ति' शब्दाभिधेयः। एवंरूप चिद्-चिदात्मकं जगत् वासुदेव शरीरम् तदात्मक मिति जगद्याथात्म्यं सम्यगुक्तमित्याह,-'सद्भावएवम्' इति। अत्र 'सत्यम्, असत्यम् इति 'यदस्ति यन्नास्ति' इति प्रक्रान्तयोपसंहारः॥ एतत् ज्ञानैकाकारतयासमम् अशब्दगोचर-स्वरूप भेदमेवाचिन्मिश्रं भुवनाश्रितं भुवनाश्रितं देवमनुष्यादिरूपेण सन्यग्व्यवहारार्हभेदं यत्प्रतीते; तत्रहेतुः कर्म्मैवेत्युक्तम्; इत्याह-'एतत् तु यत्' इति। तदेव विवृणोति-'यच्चः

जिन्हों ने स्वीय कर्म फल से देवता या मनुष्यादि देह प्राप्त हो कर, निश्चल आत्मस्वरूप को असन्दिग्ध भाव में सन्दर्शन किये हैं, तिन्हों ने ही स्वीय भोग्य वस्तु की परिवर्तनशीलता प्रति मुहूर्त पर, अनुभव करते हैं। यही जब अचित् पदार्थ का स्वभाव, तब, जिसको, आदि-मध्य-अन्त रहित सर्वदा एक रूप तथा 'अस्ति' शब्द से उल्लेख किया जा सकता है ऐसा भी कोई जड़ वस्तु, क्या कहीं देखा गया है? अभिप्राय यह है कि, ऐसे पदार्थ हो ही नहीं सकते। इस प्रकार सिद्धान्त ही ठीक है। अतएव, ज्ञान रूपी आत्मा व्यतीत कोई भी जड़ वस्तु कभी, कहीं भी मात्र 'अस्ति' शब्द से उल्लेख योग्य नहीं हो सकता। यही 'तस्मात् न विज्ञानमृते'-श्लोक से प्रतिपादित भया है। और, आत्मा स्वभावतः मात्र ज्ञान स्वरूप तथा देवता मनुष्यादि भेद रहित होते हुये भी, देवादि शरीर में प्रवेश के कारणीभूत जो स्वकृत विविध-कर्म राशि, उसी से उसमें देवादि रूप में, भिन्न प्रकार भेद बुद्धि समुत्पन्न होती है, और, वही आगन्तुक भेद बुद्धि से ही आत्मा में भी भेद बुद्धि की प्रतीति मात्र होती है, किन्तु, वह भेद बुद्धि स्वभाव सिद्ध नहीं है, यही 'विज्ञान मेमम्' श्लोक में कहा गया है।

प्रकृत पक्ष में, स्वरूपतः कोई भी कर्म सम्बन्ध आत्मा में नहीं है, सुतरां, मलरूपा प्रकृति सम्बन्ध भी उनमें नहीं है-वह (आप) कर्म रहित निर्दोष। कर्म तथा प्रकृति का सम्बन्ध न रहने से तन्मूलक शोक, मोह और लोभादि-जो कुछ अपकृष्ट गुण, सो, तिनके साथ भी उनका सम्बन्ध नहीं है, और, उपचय तथा अपचय (ह्रास वृद्धि) न रहने के कारण, वह एक तथा सदा एकरस। एवम्विध आत्मा ही श्री वासुदेव के शरीर, सुतरां, वासुदेवात्मक् जगत में अतदात्मक कुछ भी नहीं, तभी 'ज्ञान विशुद्धम्' कहा गया है।१०८

पशुः'इति। जगद्याथात्म्य ज्ञान-प्रयोजनं मोक्षोपाय यतन मित्याह-'यच्चैतत्'इति।

अत्र निर्विशेषे परे ब्रह्मणि तदाश्रयेसदसदनिर्व्वचनीये चाज्ञाने जगतस्तत् कल्पितत्वे चानुगुणं किञ्चिदपि पदं न दृश्यते । 'अस्ति-नास्ति'-शब्दाभिधेयं, चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगत परमस्य परेशस्य परस्य ब्रह्मणो विष्णोः कायत्वेन तदात्मकम् । ज्ञानैकाकारस्यात्मनो देवादि विविधाकारानुभवे अचित परिणामे च हेतुर्व्वस्तु-याथात्म्य ज्ञानविरोधि क्षेत्रज्ञानं कर्म्मैवेतिप्रतिपादनात्, 'अस्ति-नास्ति-सत्यासत्य'-शब्दानांच सदसदनिर्व्वचनीय-वस्त्वभिधाना सामर्थ्याच्च 'नास्त्यसत्य' शब्दौ 'अस्ति-सत्य'-शब्दविरोधिनौ । अतश्चैताभ्यामसत्त्वं हि प्रतीयते; नानिर्व्वचनीयत्वम् ॥ १०६ ॥

जगत् में चित्-चैतन्य अंश जो सदा काल एक रूप रहता है, इसी वास्ते वह 'अस्ति' शब्द से अभिधान योग्य, और, अचित् या जड़ भाग जो क्षण क्षण में परिवर्तन शील तथा विनाशाभिमुखी, इसी से, जो सदैव 'नास्ति'-असत् शब्द से अभिहित होने योग्य। उस रूप चित् जड़-मय यह जगत् श्री वासुदेव के शरीरस्थानीय और उनसे अतिरिक्त नहीं, जगत का यथार्थ तत्व यही है। 'सद्भाव एवं'-वाक्या से वही अभिप्राय निरूपति भया है, और, पूर्व में 'यदस्ति, यन्नास्ति' वाक्य में जो सत्य तथा असत्य का उल्लेख किया गया था 'सत्यं' और 'असत्यं' वाक्य से उसी का उपसंहार किया गया।

जो मात्र ज्ञान रूप से सर्वत्र समान, जिनका स्वरूप-गत भेद को वाक्य से निर्णय नहीं किया जा सकता, वही चैतन्य जो, जागतिक जड़ वस्तु के साथ सम्बद्ध हो कर, देव-मनुष्यादि विविध भेद व्यवहार को प्राप्त होते हैं, सो, स्वकृत कर्म ही उसमें मात्र कारण। इसी आशय पर 'एतत्तुयत्'-वाक्य कथित भया है, और 'यज्ञः पसुः' इत्यादि वाक्यों से भी वही अभिप्राय को कहा गया। और जगत् का यथार्थ तत्व को जान कर लोग मुक्ति लाभ के लिये यत्न करेंगे-यही, जगत का प्रकृत-स्वरूप निरूपण का प्रयोजन, 'यच्चैतत्' वाक्य भी तभी प्रयुक्त भया है।

उक्त सन्दर्भ में ऐसा कोइ भी शब्द नहीं देख पड़ता है, जिस करके परब्रह्म का निर्विशेष-रूप, तथा उनमें सद्सद्रूप-अनिर्वचनीय-अज्ञान-सत्ता अथवा जगत का मायि-

अत्र च अचिद्वस्तुनि 'नास्त्यसत्य' शब्दौन तुच्छत्व-मिथ्यात्वपरौ प्रयुक्तौ; अपितु विनाशित्वपरौ। 'वस्त्वस्ति किं,-महीघटत्वम्' इत्यत्रविनाशितत्वमेवह्यु प-पादित्वम्; न निश्प्रमाणकत्वं ज्ञानवाध्यत्वम्वा; एकेनाकारेनैकस्मिन कालेऽनुभूत-स्य कालान्तरेपरिणामविशेषेणान्यथोपलब्ध्या यदस्तित्वोपपादनात्। तुच्छत्वंहि प्रमाणसम्वन्धानर्हत्वम्। वाधोऽपि यद्देशकालादि सम्बन्धितया नास्तीत्युपलब्धं:; तस्य तद्देश्य-कालादि सम्बन्धितया नास्तीत्पुपलब्धे, नतु कालान्तरेऽनुभूतस्य कालान्तरे परिणामादिना नास्तीत्युपलब्धि:; कालभेदेन विरोधाभावात्। अतो न मिथ्यात्वम्।

एतदुक्तम्भवतिं,-ज्ञानस्वरूपमात्म-वस्तुआदि-मध्यपर्य्यन्तरहितं सततैक रूप-मिति स्वत एव सदा 'अस्ति'शब्दवाच्यम्। अचेतनन्तु क्षेत्रज्ञभोग्य भूतं तत् कर्म्मा-नुगुण परिणामि विनाशीति सर्व्वदा नास्त्यर्थगर्भमिति 'नास्त्यसत्य'-शब्दाभिधे-यमिति। यथोक्तम्-

यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैतिवै। परिणामादिसम्भूतं तद्वस्तुनृपतच्चकिम्॥
वि० पु० २-१३-९५॥

अनाशीपरमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नास्ति नसन्देहो नाशि-द्रव्योपपादितम्॥
वि० पु०-२-१४-२५॥

कत्व-मिथ्यात्व कल्पना की जा सकती, वरं, उस प्रकरण में यही कही गई कि, 'अस्ति नास्ति'-शब्द का प्रतिपाद्य चिज्जडात्मक समस्त जगत् ही परात्पर-परमेश्वर-ब्रह्म रूपी विष्णु का शरीर तथा विष्णु स्वरूप। और, मात्र ज्ञान स्वरूप आत्मा का भी जो देव मनु-ष्यादि विविध परिणाम तथा तदाकारत्व बोध, सो, उसका भी मात्र कारण-वस्तु तत्व बोध' की विरोधी जीवकृत शुभाशुभ कर्म। एतदतिरिक्त कुछ भी उस प्रकरण में उक्त नहीं भया। अधिकन्तु 'अस्ति, नास्ति' और 'सत्य, असत्य' शब्दों के भी सदसद्-अनिर्वचनीय-वस्तु बोधन में सामर्थ्य नहीं है, 'नास्ति' तथा 'असत्य' शब्द में भी 'अस्ति' तथा 'सत्य शब्दों का विरुद्धार्थ मात्र प्रतिपादन करते हैं, सुतरां, वे दोनों शब्द से केवल असत्ता मात्र (अविद्यमानता मात्र) प्रतीति होती है, किन्तु, किसी की अनिर्वचनीयत्व-प्रतीति नहीं होती है। १०९॥

इति। देशकालकर्म्मविशेषापेक्षया अस्तित्व--नास्तित्व--योगिनि वस्तुनि केवलस्ति बुद्धिबोध्यत्वमपरमार्थ इत्युक्तम्। आत्मनश्च केवलास्ति--बुद्धिबोध्यत्वमिति सपरमार्थइत्युक्तम्। श्रोतुश्च मैत्रेयस्य-वि पु०-२-१४ विष्णुमाधारंयथाचैतन् त्रैलोक्यंसमवस्थितम्। परमार्थश्चसेप्रोक्तो यथाज्ञानम्प्रधानतः इत्याद्यनुभाषणाच्च। 'ज्योतींषिविष्णुः' इत्यादि सामान्याधिकरण्यस्यात्मशरीर भाव एव निबन्धनम्, चिदचिद्वस्तुनोश्च 'अस्ति--नास्ति' शब्दयोगनिबन्धनम्, ज्ञानस्याकर्म्मनिमित्त स्वाभाविकस्वरूपत्वेन स्वरूपप्राधान्यम् अचिद्वस्तुनश्च तत्तत् कर्म्म निमित्त परिणामित्वेनाप्राधान्यमिति प्रतीयते॥

यदुक्तं,-निर्विशेषब्रह्म ज्ञानादेवाविद्या निवृत्तिं वदन्ति श्रुतय इति। तदसत् 'वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तम्', आदित्य वर्णंतमसः परस्तात्। तमेवंविद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय।' तैत्तिरीयारण्यके ब्रह्मेमेधे पुरुषसूक्तम्॥ 'सर्व्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि'। 'न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः।' य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति'-तैत्तिरीयारण्यके, ६ प्रश्नः। इत्याद्यनेक वाक्यविरोधात्। ब्रह्मणः सविशेषत्वादेव सर्व्वाण्यपि वाक्यानि सविशेष ज्ञानादेव मोक्षं वदन्ति। शोधक वाक्यान्यपि सविशेष मेव ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्युक्तम्।११।

और, पूर्वोक्त सन्दर्भ में जो, अचित् वस्तुओं को 'नास्ति' तथा असत्य' शब्द से अभिहित किया गया, उन वस्तुओं की तुच्छता-मात्र प्रतिपादन करना ही उसका अभिप्राय नहीं, परन्तु, जड़ वस्तु की ध्वन्स शीलता-प्रतिपादन ही उसका प्रकृत आशय है। और वस्त्वस्ति किं ?' तथा 'मही, घटत्वम्' वाक्यों में भी जड़ पदार्थ की ध्वंसशीलता ही प्रतिपादित भई है, किन्तु, उन सबका अप्रमाण्य याने ज्ञान बाध्यत्व प्रति पादित नहीं भया। कारण एक समय पर जिस वस्तु की जो आकृति देखी जाती है, विकार वश समयान्तर पर, उसी का जो अन्यथा भाव देखा जाता है-सो अन्यथा भाव ही उस 'नास्ति' शब्द से प्रतिपादित भया है। 'तुच्छत्व'-जो कोई भी प्रमाण से ग्रहण का अयोग्य, बाध'-जो वस्तु जिस समय जहां पर है (होता है), उसी देश काल में उस वस्तु को न होना। किन्तु, कालान्तर में न होने की प्रतीति-सो 'बाध' नहीं है। क्यों कि, विभिन्न काल में एक ही

वस्तु के 'होने,' न होने में, तो कोइ विरोध नहीं हो सकता। अतएव, उस वाक्य से भी अचित् वस्तु की मिथ्यात्व-सिद्धि नहीं हो सकतो। कहा यह गया कि, ज्ञान-स्वरूप-आत्मा सो आदि, मध्य, अन्त-हीन तथा सदा एक-रस, इसी कारण से वह (आप) चार दिन के लिये 'अस्ति'-वाच्य। और अचेतन सब वस्तु, जीवों के कर्मानुसार, उनही को भोग के लिये, नानात्व सम्पन्न वो भोग के साथ साथ स्व स्व विनाश-अभिमुखी होते रहते हैं। तभी सर्वदा विनाशोन्मुख-वे अचेतन वस्तु सब 'नास्ति' वो 'असत्' शब्द से अभिहित होने योग्य हैं। यथा श्री श्रीविष्णु पुराणे हे नृप, जो कालान्तर में भी परिणामादि जनित संज्ञान्त, प्राप्त न हो सोइ प्रकृत सत्य वस्तु। क्या ऐसा भी कोई वस्तु जगत् में है?-नहीं है।' पण्डितों ने अविनश्वर वस्तु को ही परमार्थ रूप स्वीकार करते हैं; किन्तु, जड़ों में से, जब, सब ही विनाशशील कारणों से समुत्पन्न, तौ ऐसा परमार्थ-सत्य, जो कुछ भी नहीं रह सकते, सो निस्सन्देह हैं।' अभिप्राय-देश, काल तथा क्रिया विशेष के साथ जिसका अस्तित्व तथा नास्तित्व व्यवहार होता है-जो कभी रहता है, कभी नहीं रहता है उस वस्तुको, केवल मात्र 'अस्ति' शब्द से निर्देश करना, सो परमार्थ नहीं है। और, आत्मा को भी जो, 'अस्ति' मात्र जानना सोइ प्रकृत सत्य -यह भी उसी वाक्य से प्रतिपादित भया है। और, श्रोता मैत्रेय भी उस उपदेश को सुनके कहे थे कि, 'यह त्रिलोक समष्टि सम्यक रूप से भगवान श्रीविष्णु में अवस्थान कर रहा है, स्वबुद्धि अनुसार यह परमार्थ तत्व हमसे कहा जा चुका'। इससे समझा जाता है कि, पूर्व में जो, ज्योतिः और विष्णु में अभेद निर्देश किया गया है, सो, विष्णु तथा ज्योति की शरीर शरीरि भाव ही उसका हेतु चित् और जड़ में जो अस्ति तथा नास्ति के प्रयोग, सो उसमें भी हेतु है-कर्म जनित विकार-सम्बन्ध को चिन्ता न करके, मात्र ज्ञान का स्वाभाविक प्राधान्य चिन्ता। क्यों कि, अचित् वस्तु समूह व ज्ञान-साध्य कर्म ही का फल-परिणाम; सुतरां ज्ञान अपेक्षा उनका प्राधान्य नहीं है। इस प्रकार प्रधान्य-तथा अप्रधान्य-वोध ही उस प्रकार विभिन्न व्यवहार का कारणरूप।

और, जो, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या-निवृत्ति की बात श्रुतियों ने कहे हैं' ऐसा जो कहा जाता है, सो भी असंगत है। क्योंकि, तब तो, निम्नलिखित बहुतर श्रुतियों से विरोध हो पड़ेगा। सो यह है- 'आदित्यवर्णं सूर्य समान स्वप्रकाश-अन्धकार का अतीत

तत्त्वमस्यादि वाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्व्विशेष वस्त्वैक्य परम् 'तत् त्वम्' पदयोः सविशेष ब्रह्माभिधायित्वात्। 'तत्' पदं हि सर्व्वज्ञं सत्य संकल्पं जगत् कारणं ब्रह्म परामृशति। "तदैक्षत बहुस्याम्" इत्यादिषु तस्यैवप्रकृतत्वात्। 'तत्' सामानाधिकरणं 'त्वं' पदञ्च अचिद्विशिष्ट-जीव शरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति। प्रकारद्वया वस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य प्रकारद्वय परित्यागे प्रवृत्ति निमित्त भेदासम्भवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात, द्वयोः पदयोर्लक्षणा च। 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि न लक्षणा, भूत वर्त्तमान काल सम्बन्धितयैक्य-प्रतीत्यविरोधात्। देशभेद विरोधश्चकालभेदेन परिहृतः 'तदैक्षत बहुस्याम्' इत्यु, पक्रम विरोधश्च। एक विज्ञानेन सर्व्व विज्ञान प्रतिज्ञा च न घटते। ज्ञान स्वरू-पस्य निरस्त निखिलदोषस्य सर्व्वज्ञस्य समस्त कल्याणगुणात्मकस्य अज्ञानि-तत्-कार्य्यानन्तापुरुषार्थाश्रयत्वं च न सम्भवति बाधार्थत्वे च सामानाधिकरणस्य तत्वं पदयोरधिष्ठान लक्षणा निवृत्तिलक्षणाचेति लक्षणादयस्तु एव दोषः।

इयांस्तु विशेषः-'नेदं रजतम्' इतिवदप्रतिपन्नस्यैव बाधस्यागत्या परिकल्प-नम्; तत्पदेनाधिष्ठानातिरेकिधर्म्मानुपस्थापनेन बाधानुपपत्तिश्च।

अधिष्ठानं तु प्राक् तिरोहितमतिरोहितस्वरूपं तत्' पदेनोपस्थाप्यत इति चेत्; न प्राक् अधिष्ठानाप्रकाशे यदाश्रयभ्रम-बाधयोरसम्भवात्। भ्रमाश्रयमधिष्ठानमति-रोहितमिति चेत्; तदेवाधिष्ठानस्वरूपं भ्रमविरोधीति तत् प्रकाशे सुतरां न तदाश्रयभ्रम--बाधो। अतोऽधिष्ठानातिरेकि पारमार्थिक धर्म्म तद्विरोधानभ्युपगमे

इस महान पुरुष को हम जानते हैं। उनको जानने से इस देह ही में अमृतत्व-लाभ होता है। गति की ओर पथ नहीं' है विद्युत्वम् प्रकाशमान पुरुष से ही समस्त निमेष उत्पन्न हुये हैं। कोई भी उनका शासनकर्ता नहीं'' है। उनका 'श्री' नाम ही पवित्र यश स्वरूप'। 'जिन्हों ने इनको जानते हैं वे मुक्त हैं'। इत्यादि परब्रह्म सविशेष हैं तभी, श्रुतियों ने सविशेष ज्ञान से ही मुक्ति बता रहे हैं। जीवों का अज्ञान निवारक 'सत्यं ज्ञान मनन्तम्' प्रभृति वाक्यों ने भी सविशेष ब्रह्म को प्रतिपादन किये हैं सो पहिले ही कहा जा चुका है॥ ११०॥

भ्रान्ति बाधौ दुरुपपादौ । अधिष्ठाने हि पुरुषमात्राकारे प्रतीयमाने तदतिरेकिणि पारमार्थिके राजत्वे तिरोहिते सत्येव व्याधत्वभ्रमः। राजत्वोपदेशेन च तन्निवृत्तिर्भवति, नाधिष्ठान मात्रोपदेशेन; तस्य प्रकाशमानत्वेनानुपदेश्यत्वात्. भ्रमानुपमर्दित्वाच्च ॥ जीवशरीरक-जगत्कारण--ब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तंपदद्वयम् । प्रकारद्वयविशिष्टैक-वस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं सिद्धम् । निरस्त निखिलदोषस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य ब्रह्मणो जीवान्तर्य्यामित्वमप्यैश्वर्य्यमपरम्प्रतिपादितम्भवति; उपक्रमानुकूलता च; एकविज्ञानेन सर्व्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तिश्च । सूक्ष्म चिद्चिद्वस्तु शरीरस्यैव ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तु-शरीरत्वेन कार्य्यत्वात्, "'तमीश्वराणाम्परम्महेश्वरम् । परास्य शक्तिर्व्विविधैवश्रूयते'" । श्वेताश्वः-६-७-८। 'अपहतपाप्मा••सत्यकामः सत्यसंकल्पः'-छान्दो-८-१-६ । इत्यादि-श्रुत्यन्तराविरोधश्च ।

'तत् त्वमसि' इत्यत्रोद्देश्योपादेयविभागः कथमिति चेत्; नात्र किञ्चिदुद्दश्य किमपिविधीयते; 'ऐतदात्म्यमिदंसर्व्वम्'-छान्दो-६-७-४ । इत्यनेनैवप्राप्तत्वात् अप्राप्तेहि शास्त्रमर्थवत । 'इदं सर्व्वं' मिति सजीवं जगन्निर्द्दिश्य-'ऐतदात्म्यम्' इति तस्यैष आत्मेति तत्रप्रतिपादितम् । तत्र च हेतुरप्युक्तः'सन्मूलाः सौम्येमा सर्व्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' ॥ ६-८-७ ॥ इति । 'सर्व्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानितिशान्तः'--छान्दो--६-८-४ ॥ १११ ॥

और, तत् त्वम् असि' प्रभृति वाक्यों में जो सामान्यधिकरण्य प्रयुक्त हुआ है। सभी निर्विशेष वस्तु वाचक नहीं, कारण,-तत औ त्वम् पदों में ब्रह्म के सविशेष भाव ही समझा जाता है-निर्विशेष नहीं। वह (आप) आलोचना किये 'हम बहु होंगे'-इत्यादि श्रुतियों में जब सविशेष ब्रह्म ही का प्रस्ताव सन्निविष्ट है, तब तो कहना चाहिये कि उस प्रकरणस्थ 'तत्' पद में सर्वज्ञ. सत्यसंकल्प तथा जगत् कारण ब्रह्म को ही समझा जाता है, और उसके सहपठित विशेषण- विशेष्य भावापन्न 'त्वम्' पद में भी, जड़ सह कृत जीव शरीर धारी ब्रह्म ही को समझा जाता है। कारण-विभिन्न प्रकार पदार्थों की जो एकार्थ बोधकत्व उसीको सामानाधिकरण्य कहा जाता है। 'तत्' और त्वम् पदों में, यदि प्रकार गत भेद न

माना जाय, तब तो, प्रवृत्ति-निमित्त का भेद न रहने के कारण पदद्वय का सामानाधिकरण्य ही को परित्याग करना पड़ेगा। पक्षान्तर पर, उन दोनों पदों के मुख्यार्थ बाधित होने से लक्षणा या गौणार्थ भी कल्पना करनी पड़ी। (मुख्यार्थ-सम्भव में लक्षणा-स्वीकार दोष वह है)। 'सोऽयं वह देवदत्त'-इसमें भी लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती, क्यों कि एक ही देवदत्त में, अतीत तथा वर्तमान की प्रतीति पर विरोध कुछ भी नहीं। भिन्न स्थान पर अवस्थिति में भी, ऐक्य प्रतीति का व्याघात नहीं होता। कारण,-एक ही व्यक्ति विभिन्न-समय में विभिन्न स्थान पर, अवाध-अवस्थिति कर सकते हैं। विशेषतः 'तत्' पद का निर्विशेषत्व-अर्थ को ग्रहण में, ज, उपक्रम में 'तत् ऐक्षत बहु-स्याम्'-श्रुति प्रयुक्त भयी है, उस उपक्रम के साथ भी विरोध होगा। अधिकन्तु, एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा सो भी संरक्षित-न होगी। पक्षान्तर पर सब विध दोष सम्बन्ध रहित समस्त कल्याण गुण सम्पन्न तथा सर्वज्ञ ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान तथा अज्ञान जनित अनन्त-अनर्थ आय पड़ा। और, यदि कहा जाय कि, 'तत्' तथा 'त्वम' पदों के जो सामानाधिकरण्य, सो उसका अर्थ 'ऐक्य' नहीं-परन्तु-'बाध' ही उसका प्रकृत अर्थ सो, इसमें भी, 'तत्' और 'त्वम्' पदों का सर्वाधिष्ठान भूत पर ब्रह्म में और जीव के जीव-भाव की निवृत्ति में लक्षणा करनी पड़ेगी, और, पूर्व में जो सामानाधिकरण्य का नियम कहा गया, सो उसको भी उल्लघन करना पड़ेगा, और, प्रकरण विरोध आदि, सो तो है ही है विशेष इतना ही है कि, (पूर्व में जो दोष प्रदर्शित भया सो तो है है ही है और भी दो दोष आय पड़ा। प्रथमतः-शुक्ति में जो रजत् भ्रम, सो परीक्षा के समय उस रजत को नहीं पाया जाता) इसी से बाध्य होकर वहां पर, 'यह रजत नहीं'-ऐसा कह कर रजत को 'बाध' को मानना पड़ता, किन्तु 'तत् त्वम् असि'-में उस प्रकार कुछ भी अनुपपत्ति या बाधक-प्रमाण के न होते हुये भी (मात्र सिद्धान्त रक्षार्थ) निरूपाय होके 'बाध' कल्पना-करनी पड़ती। द्वितीयतः 'तत्' पद में जब पहिले ही अधिष्ठान चैतन्य मात्र समझ में आ रहा है,-तदतिरिक्त कुछ भी नहीं समझा जा रहा तब, विरोधी-कोई पदार्थ की उपस्थिति या सद्भाव न रहने से, इस पक्ष में, 'बाध' परित्याग, सो किसको होगा ? सुतरां, 'बाध' की भी अनुपपत्ति भयी।

यदि कहा जाय कि, अधिष्ठान चैतन्य प्रथमतः अज्ञान से आवृत रहता है, पश्चात् 'तत्'-पद से उनका प्रकृत स्वरूप उद्घाटित होता है, नहीं-ऐसा नहीं कह सकते, कारण

'वाध, के पहिले, भ्रमाधिष्ठान का स्वरूप • अप्रकाशित–अविज्ञात रहने से, फिर उसीको आश्रय करके, 'भ्रम' तथा 'वाध' कभी नहीं हो सकते। फिर, यदि कहिये कि, भ्रमके आश्रयीभूत अधिष्ठान, सो आवृत नहीं रहता (किन्तु, वाध के अधिष्ठान आवृत रहता है) । अच्छी बात –अधिष्ठान का स्वरूप जब भ्रम की विरोधी, तब, उस अधिष्ठान का स्वरूप प्रकाशमान--प्रतीति गोचर रहने से, उसी अधिष्ठान को अवलम्बन करके भ्रम या वाधा कुछ भी तो नहीं हो सकते। अतएव उस वाक्य में अधिष्ठानातिरिक्त कुछ धर्म्म स्वीकार न करने से तथा उस धर्म का तिरोधान या आवरण--न मानने से, भ्राति या वाधको उपपादन करना, सो सहज साध्य नहीं है। (देखने में आता है) भ्रम को आश्रयीभुत कोई एक राजपुरुष में जब केवलमात्र पुरुषगत आकृति का ज्ञान रहता हैं, अथ च आकृति से सम्पूर्ण पृथक--तद्गत जो राज भाव, उसको कुछ भी पतीति न हो तब उनको व्याध (करके) भ्रम होता (हो सकता) है। पुनश्च, 'आप राजा हैं' ऐसे उपदेश से उस भ्रन्ति की निवृत्ति हो जाती हैं, किन्तु 'आप एक पुरुष,'--मात्र इस प्रकार--अधिष्ठान के उपदेश से भ्रान्ति जा नहीं सकती। कारण,--उनकी पुरुषाकार में जो भ्रमाधिष्ठानभाव, सो तब भी प्रकाशित रहा, सुतरां उस प्रकार उपदेश, सो अनर्थक, विशेषतः, वैसे उपदेश से कवी भी भ्रम निवारण नही' हो सकता।

प्रकृत पक्ष में जीव जिनका शरीर और जो जगत के कारण, 'तत्' तथा 'त्वम्' पद सोइ ब्रह्म--वोधक होने में उन दोनों पद का मुख्यार्थ भी संगत होता है, और, उस प्रकार द्विविध विशेष भाव सम्पन्न ऐक ही ब्रह्म--प्रतिपादन में तात्पर्य स्वीकार करने से उन पदद्वय का सामानाधिकरण भी सुसंगत हो सकता। और, सर्वदोष वर्जित तथा समस्त कल्याण गुणमय ब्रह्म का जो और भी एक ऐश्वर्य–जिसका नाम जीवान्तर्यामित्व, सो भी उस वाक्य से प्रतिपादित हो सकता। इस माफिक अर्थ करने में प्रकरणस्थ उपक्रम, सो भी सुसंगत होगा, और, 'एक विज्ञान में सर्व विज्ञान'–प्रतिज्ञा, सो भी उत्पन्न होगी। सूक्ष्मचित् जड़ वस्तु सब जैसे ब्रह्म (शरीर), स्थूल चित्जड़ वस्तु सब भी वैसे ही ब्रह्म शरीर अथ च स्थूल भाग वही सूक्ष्म भाग से ही समुत्पन्न, सुतरां, कार्य कारणभाव भी परापरत्वादिवोधक 'ईश्वर सर्वापेक्षा परम और महेश्वर, उनको–' 'इनकी नानाविध पराशक्ति श्रुत होती है'

तथा श्रुत्यन्तराणि च ब्रह्मणस्तद्व्यतिरिक्तस्य चिदचिद्वस्तुनश्च शरीरात्म भावमेव तादात्म्यं वदन्ति 'अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानाम् सर्व्वात्मा'। आरण्यक० ३--११--२३। 'यः पृथिव्यांतिष्ठान् पृथिव्याअन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरोयमयति । सतेआत्मान्तर्य्याम्यमृतः'। 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः, यमात्मा न वेद, यस्यात्माशरीरं, य आत्मानमन्तरोयमयति; सते आत्मान्तर्य्याम्यमृतः'। बृहदाः--५--७--३--२२। 'यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन्' इत्यारभ्य-'यस्य मृत्युः शरीरं, यं मृत्युर्न वेद। एष सर्व्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः'। सुवाल ७। तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्'। तैत्ति-६-२। इत्यादीनि।

अत्रापि-'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणि' इति ब्रह्मात्मक-जीवानुप्रवेशेनैव सर्व्वेषांवस्तुत्वं शब्दवाच्यत्वञ्च प्रतिपादितम्; 'तदनुप्रविश्य

'आप पापविनिर्मुक्त, सत्यकाम, सत्य संकल्प'-इत्यादि अथवापर कोई भी श्रुति से विरोध भी नहीं होगा।

यदि कहा जाय कि, ऐसा होने से 'तत् त्वम् असि' वाक्य में उद्देश्य-विधेयविभाग सो जाना कैसे जायगा? उत्तर-यहाँ पर, जो किसी को उद्देश्य करके और कुछ विधान किया गया? सो नहीं--अर्थात्, यहां पर उद्देश्य विधेय भाव है ही नहीं, क्यों कि, उस प्रकरण का प्रथम ही--'यह समस्त जगत् एतदात्मक'--इसी में वह उद्देश्य-विधेय भाव निरूपित हुआ। अप्राप्त विषय को प्रतिपादन करना ही शास्त्र का प्रयोजन, किन्तु, उसी स्थान पर 'इदंसर्वं'-वाक्य से जीव और जगत् को निर्देश करके, 'एतदात्म्य'-वाक्य से ब्रह्म को ही, उद्दिष्ट जीव जगत का 'आत्मा'-करके, प्रतिपादन किया गया। उसके बाद 'यह समस्त ही ब्रह्म स्वरूप, समस्त ही उनसे जात, उनही में स्थित तथा उनही में विलीन होता है, अतएव शान्त होके उपासना करना।' यहाँ जैसे साधक का शान्तभाव अवलम्बन के निमित्त ब्रह्म का सर्वमय भाव को हेतु रूप निर्देश किया गया है, तद्रूप, वहाँ भी विधेय ब्रह्मात्म-भाव के प्रति 'हे सोम्य, सत्‌ब्रह्म ही समस्त जायमान पदार्थ का मूल (कारण) आश्रय तथा विलय स्थान,' इस हेतु से पूर्व-विहित ब्रह्मात्मभाव ही को समर्थन किया गया है॥ १११॥

सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यनेनैकार्थ्यात्। जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वम्; ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते। अतश्चिदचिदात्मकस्य सर्व्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्म-तादात्म्यमात्मशरीरभावादेवेति अवगम्यते। तस्माद् ब्रह्म व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तच्छरीरत्वेनैव वस्तुत्वात् तस्य प्रतिपादकोऽपि शब्दः तत्पर्य्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति। अतःसर्व्व शब्दानां लोकव्युत्पत्त्यावगत तत्तत् पदार्थविशिष्टब्रह्माभिधायित्वं सिद्धमिति, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्व्वम्' इति प्रतिज्ञातार्थस्य 'तत्त्वमसि' इति सामानाधिकरण्येव विशेषेणोपसंहारः। अतो निर्व्विशेष वस्त्वैक्य वादिनो भेदाभेदवादिनः केवलभेदवादिनश्च वैयधिकरण्येन सामानाधिकरण्येन च सर्व्वे ब्रह्मात्मभावोपदेशाः परित्यक्ताः स्युः।

एकस्मिन् वस्तुनि कस्य तादात्म्यमुपदिश्यते? तस्यैवेतिचेन्; तत् स्ववाक्येनैवागतमिति न तादात्म्योपदेशावसेयमस्ति किञ्चिन्। कल्पितभेद-निरसनमितिचेत्; तत्तु न सामानाधिकरण्य-तादात्म्योप देशावसेयमित्युक्तम्। सामानाधिकरण्यं तु ब्रह्मणि प्रकारद्वयप्रतिपादनेन विरोधमेवावहेत्।

भेदाभेदवादेतु ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गात् तत्प्रयुक्ता जीवगता दोषा ब्रह्मण्येव प्रादुःष्युरिति निरस्त निखिल दोष-कल्याणगुणात्मक ब्रह्मात्मभावोपदेशाहि विरोधादेव परित्यक्ताः स्युः।

स्वाभाविक-भेदाभेदवादेऽपि ब्रह्मणः स्वत एव जीवभावाभ्युपगमात् गुणवद्दोषाश्च स्वभाविका भवेयुरिति निर्दोष ब्रह्म-तादात्म्योपदेशो विरुद्ध एव केवलभेद वादिन।श्चात्यन्त भिन्नयोः केनापि प्रकारेणैक्यासम्भवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशो न सम्भवतीति सर्व्व वेदान्त परित्यागः स्यात्॥ ११२॥

अपरापर श्रुति समूह भी ब्रह्मातिरिक्त चिज्जड़ात्मक पदार्थों के साथ ब्रह्म का 'श्री' शरीर-शरीरि भाव रूप तादात्म्य-अभेद सम्बन्ध को प्रतिपादन कर रहे हैं। यथाः- सर्वात्मा परमेश्वर अन्तर में प्रविष्ट रह कर जनगण को शासन करते हैं।' 'जिन्हों ने पृथ्वी में रहते हुये भी पृथ्वी से पृथक रहते हैं।' पृथ्वी जिनको नहीं जानती, अथच पृथ्वी जिनका शरीर,

और जिन्हों ने अभ्यन्तरस्थ रह कर पृथ्वी को संयत-नियमित करते हैं, वही अमृत अन्तर्यामी तुम्हारी आत्मा।' 'जो आत्मा में रहकर आत्मा से पृथक, आत्मा जिनको नहीं जानता, आत्मा ही जिनका शरीर और जो अभ्यन्तर में रह कर आत्मा को परिचालित करते हैं, वही अमृत अन्तर्यामी तुम्हारी आत्मा।' 'जिन्हों ने अभ्यन्तर में विचरते हुये'–यहां से लेकर 'मृत्यु जिनका शरीर, मृत्यु जिनको नहीं जानता, वही सर्वभूतों का अन्तरात्मा,-निष्पाप तथा दिव्य एक देवता नारायण।' 'आप भूत समूह को सृष्टि करके उनके अभ्यन्तर में प्रविष्ट होते भये और, स्थूल तथा सूक्ष्म अथवा-कार्य कारण रूप मे प्रकट होते भये'-- इत्यादि। इन सब श्रुतियों ने परमेश्वर को आत्मा और चित्-जड़ात्मक वस्तुओ को उनके शरीर कहके वर्णन किये हैं।

और यहां पर भी (छान्दोग्य) 'हम, यह जीवात्मा रूप से; भूतवर्ग के अभ्यन्तर में प्रविष्ट होके नाम--रूप को विस्तार करेंगे,'--इस श्रुति मे देखा जाता है कि, ब्रह्मात्मक जीव का अन्तर--प्रवेश से ही समस्त पदार्थ की अस्तित्व सिद्धि तथा शब्द वाच्यता-लाभ प्रतिपादित हो रहा है। इस प्रकार अर्थ ग्रहण से ही पूर्वोक्त सत् च त्यत् च अभवत्'–श्रुति का अर्थ के साथ भी इस श्रुति का अर्थ को साम्य--रचित हो सकता है। ब्रह्म का जो जीवरूप से अनुप्रवेश इसीसे ही समझा जाता है कि जीव भी प्रकृत पक्ष में ब्रह्म--स्वरूप–अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं। इस बात से यह भी जाना जाता है कि चित्-जड़ात्मक समस्त वस्तु ही ब्रह्म का शरीर-ब्रह्म ही तत् समुदाय का आत्मा, यह शरीरात्मभाव से ही ब्रह्म के साथ वे वस्तुवों का 'तादात्म्य' या अभेद-निर्देश होता है। अतएव, समझना चाहिये कि, ब्रह्मातितिरिक्त समस्त--वस्तु जब ब्रह्म का शरीर करके ही वस्तुत्व-लाभ करता है, तब, तत्--प्रतिपादक शब्द समूह उस प्रकार के अर्थ ही को प्रतिपदन करता है-सो ऐसा ही कहना पड़ता है। इसी कारण से, लौकिक व्यवहारानुयायी व्युत पत्ति अनुसार लौकिक पदार्थ-वोधक शब्द समूह भी तद्विशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादक हो सकते। अतएव, स्वीकार करना चाहिये कि, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'--श्रुति में जो अर्थ प्रतिज्ञात हुवा है, 'ततत्वमू असि' वाक्य मे समानाधिकरण विशेषण-विशेष्य भाव से, उसी का विशेषभाव मे उपसंहार किया गया है- मात्र।

स्वयं श्रुति ही जब ब्रह्म को शरीरी और जगत् को शरीर करके निर्देश किये हैं, तब

सामानाधिकरण्य-मुख से ही हो, या, वैयधिकरण्य--मुख से ही हो, जो सब वाक्यों में ब्रह्मात्मभाव उपदिष्ट भया है, निर्विशेष ब्रह्म वस्तु का एकत्ववाद के पक्ष पर, भेदाभेद-वाद के पक्ष पर तथा केवल भेद-वाद के पक्ष में भी सो समस्त उपदेश को परित्याग करना पड़ता।

एक ही वस्तु में, तादात्म्य या अभेद उपदेश, सो किसके होगा ? यदि कहा जाय कि, वही एक ही का तादात्म्य-उपदेश होगा ? भला,-ब्रह्म-स्वरूप बोधक-'सत्यं ज्ञान मनन्तम्' इत्यादि में ही तो सो जाना गया है, सुतरां, फिर भी तादात्म्य उपदेश से अधिक क्या जाना जायगा ? यदि कहिये अज्ञानवश, ब्रह्म में जो सब भेद कल्पित भया है, सो उसी को निरास के लिये उस प्रकार उपदेश का आवश्यक है। नहीं-सो नहीं, क्यों कि सामानाधिकरण्य-तादात्म्य का उपदेश में भी, जो, उस कल्पित भेद की निवृत्ति नहीं हो सकती सो पहिले ही कहा गया है। अधिकन्तु, पृथक पृथक दो-'प्रकार' या विशेष धर्म को न रहने में, जब, सामानाधिकरण्य ही नहीं हो सकता तब, तादृश द्विविध 'प्रकार'-(धर्म) युक्त सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध, सो ब्रह्म का एकत्व व्यवहार के अनुकूल न होके बल्कि प्रति कूल ही हो सकता।

और भेदाभेद वाद में भी जब, ब्रह्म ही में उपाधि सम्बन्ध माना जाता है, तथा उस उपाधि से ही जब जीव का जीवत्व उपस्थित होता है, तब तो, जीव-गत कामादि दोष राशि ब्रह्म में भी संक्रामित हो सकता है। अतएव, उस विरोध के मारे ही, सर्व दोष वर्जित तथा सर्व कल्याण-गुण सम्पन्न ब्रह्म के साथ जीव का अभेद उपदेश सो संगत नहीं होगा; कार्यतः वह सब उपदेश को परित्याग का आवश्यक होता है।

और, भेदाभेद वादियों ने जब ब्रह्म के जीवभाव को सहज सिद्धरूप मानते हैं तो तो जीव गत गुण तथा दोष दोनों को स्वाभाविक करके स्वीकार करना पड़ा। अतएव, उस मतमे स्वभाव शुद्ध ब्रह्म के साथ, जो सदोष जीव का तादात्म्य,-सो तो नितान्त विरुद्ध,-सुतरां वर्जनीय। और, जो लोग केवल भेद-वादी (जीव ब्रह्म का एकत्व मानते ही नहीं) उनके मत में तो अत्यन्त विभिन्न पदार्थ जीव तथा ब्रह्म का एकत्व, सो कब भी, सम्भव पर नहीं, इसी कारण से ब्रह्मात्म-भाव का उपदेश सम्भव पर नहीं होता है। अतएव, 'तत् त्वम् असि'-वाक्य में 'ब्रह्मात्म भावोपदेश' मानने से समस्त वेदान्त शास्त्र को परित्याग हो पड़ा। ११२॥

निखिलोपनिषत् प्रसिद्धं कृत्स्नस्य ब्रह्म शरीर भावमातिष्ठमानैः कृत्स्नस्य ब्रह्मात्म भावोपदेशाः सर्व्वे सम्यगुपपादिता भवन्ति। जाति गुणयोरिव द्रव्याणामपि शरीरभावेन विशेषणत्वेन 'गौरश्वो मनुष्यो देवो जातः पुरुषः कर्म्मभिः' इति सामानाधिकरण्यं लोकवेदयोर्मुख्यमेव दृष्ट चरम्। जाति गुणयोरपि द्रव्यप्रकारत्वमेव-'षण्डोगौः, शुक्लः पटः' इति सामानाधिकरण्य-निबन्धनम्। मनुष्यत्वादि विशिष्ट पिण्डानामप्यात्मनः प्रकार तयैव पदार्थत्वात् 'मनुष्यः पुरुषः षण्डो योषिदात्मा जातः' इति सामानाधिकरण्यं सर्व्वत्रानुगतमिति प्रकारत्वमेव सामानाधिकरण्य-निबन्धनम्; न परस्परव्यावृत्ता जात्यादयः। स्वनिष्ठानामेव हि द्रव्याणां कदाचित् कचिद्द्रव्य विशेषणत्वे मत्वर्थीयः प्रत्ययो 'दण्डी कुण्डली' इति दृष्टः; न पृथक् प्रतिपत्ति स्थित्यनर्हाणां द्रव्याणां तेषां विशेषणत्वं सामानाधिकरण्यावसयेमेव

यदि 'गौरश्वो मनुष्योदेवः पुरुषो योषित्षण्डआत्मा कर्म्मभिर्जातः' इत्य 'षण्डो मुण्डो गौः', 'शुक्लः पटः, कृष्णः पटः' इति जाति-गुण-वदात्म-प्रकारत्वं मनुष्यादि शरीराणामिष्यते। तर्हि जाति-व्यक्त्योरिव प्रकार-प्रकारिणोः शरीरात्मनोरपि नियमेन सह प्रतिपत्तिःस्यात्। न च एवं दृश्यते। न हि नियमेन गोत्वादिवदात्मा श्रयतयैवात्मना सह मनुष्यादि शरीरं पश्यन्ति। अतो मनुष्य आत्मेति सामानाधिकरण्यं लाक्षणिक मेव। नैतदेवम्; मनुष्यादि शरीराणामपि आत्मैकाश्रयत्वं तदेक प्रयोजनत्वं तत्-प्रकारत्वञ्च जात्यादितुल्यम्। आत्मैकाश्रयत्वम्-आत्मविश्लेषे शरीरविनाशादवगम्यते। आत्मैकप्रयोजनत्वञ्च-तत्तत् कर्म्मफलभोगार्थतयैव सद्भावात्। तत्प्रकारत्वमपि देवोमनुष्य इत्यात्म विशेषणतयैवप्रतीतेः। एतदेव हि गवादि शब्दानां व्यक्ति पर्य्यन्तत्वे हेतुः। एतत् स्वभाव विरहादेव दण्डादीनां विशेषणत्वे 'दण्डी' 'कुण्डली' इतिमत्वर्थीयः प्रत्ययः। देव मनुष्यादि पिण्डानामात्मैकाश्रयत्व-तदेकप्रयोजनत्व-तत्प्रकारत्वस्वभावात् 'देवो मनुष्य आत्मा' इति लोक-वेदयोः सामानाधिकरण्येन व्यवहारः। जाति-व्यक्त्योर्नियमेन सह प्रतीतिरुभयोश्चाक्षुषत्वात् आत्मनस्त्वचाक्षुषत्वाच्चक्षुषाशरीर ग्रहणवेलायामात्मा न गृह्यते। पृथग्ग्रहणयोग्यस्य प्रकारतयैकस्वरूपत्वं दुर्घटमितिमावोचः। जात्यादिवत् तदेकप्रयोजनत्व-तद्विशेषणत्वैः शरीरस्यापि तत्प्रकारतैक स्वभावत्वावग-

मात्। सहोपलम्भ-नियमस्त्वेक सामग्रीवेद्यत्वनिवन्धन इत्युक्तम्। यथा चक्षुपापृथिव्यादेर्गन्ध रसादि सम्बन्धित्वं स्वाभाविकमपि न गृह्यते, एवं चक्षुषा गृह्यमाणं शरीरमात्मप्रकारतैकस्वभावमपि न तथागृह्यते; आत्म ग्रहणे चक्षुषः सामर्थ्याभावात्। नैतावता शरीरस्य तत् प्रकारत्वस्वभावविरहः। तत प्रकारतैक स्वभावत्वमेव सामानाधिकरण्यनिवन्धनम्। आत्मप्रकारतया प्रतिपादन समर्थस्तु शब्दः सहैव प्रकारतयाप्रतिपादयति॥ ११३ ॥

पक्षान्तर में, जिन्हों ने समस्त उपनिषत् शास्त्रीय प्रसिद्ध के अनुसार समस्त वस्तु को ब्रह्म-शरीर-रूप मानते हैं उनके मत में ब्रह्मात्मभाव बोधक उपदेश निचय अति उत्तम रूप से समर्थित हो सकते। मनुष्यत्वादि जाति तथा शुक्लत्वादि गुण समूह जैसे विशेषण रूप होता है, वैसे ही, द्रव्य समूह भी शरीर रूप से आत्मा के विशेषणरूप हो सकता है, तभी-'पुरुष (आत्मा) स्वीय कर्म द्वारा गो, अश्व, मनुष्य तथा देवता-रूप भये हैं'-इत्यादि सामानाधिकरण्य-घटित प्रयोग समस्त, क्या लोक-व्यवहार में क्या वेद प्रयोग में, सर्वत्र ही मुख्य रूप से प्रयुक्त होते देखे जाते हैं। 'पण्ड गो, शुक्ल वस्त्र' इत्यादि में जो पण्डत्व जात तथा शुक्लत्व गुण, द्रव्यरूपी गो तथा वस्त्र के विशेषणभाव में प्रयुक्त होता है; जाति और गुण का द्रव्य-विशेषणत्व-नियम ही उसके कारण है। और मनुष्यत्व प्रभृति जाति विशिष्ट जो देह पिण्ड, सो भी आत्मा का प्रकार या विशेषण रूप में ही प्रयुक्त होते है। 'आत्मा-मनुष्य, पुरुष पण्ड तथा स्त्री रूप में जन्मे हैं''-इत्यादि में आत्मा के साथ देह-पिण्ड का जो सामानाधिकरण्य-व्यवहार अव्याहत भाव से चला आता है; सो द्रव्यों के विशेषणत्व-नियम ही उस व्यवहार का कारण, किन्तु, परस्पर व्यावृत्त अर्थात् पृथकभाव में अवस्थित जाति-गुणादि धर्म समस्त उस सामानाधिकरण्य का कारण नहीं। कभी तो, स्थल विशेष पर द्रव्य समूह ही विशेषण रूप से अपर द्रव्यों में आश्रित रह कर, मत्वर्थीय प्रत्ययके सहयोगसे प्रयुक्त होता है, यथा-दण्ड कुण्डली। दण्ड और कुण्डल दोनों स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाव से भिन्नकार-प्रतीति के विषय होते हुये भी, यहाँ पर औरों के विशेषण-रूप से प्रयुक्त भये हैं। यह जो विशेषण भाव उसकी सो भी कथित सामानाधिकरण्य के वल से ही व्यवस्थापित किया जाता।

इसमें यह आशंका हो सकती-'पराड गो'-इसमें पराडत्व'-जाति जसे 'गो' का विशेषण भया है, तथा 'शुक्लपट' 'कृष्णपट'-इनमें शुक्ल और कृष्ण गुण जैसे पट का विशेषण रूपभया है, 'पुरुष कर्म फल से गो, अश्व, मनुष्य, देवता, योषित या पाड़ भया है,' इन व्यवहारों में भी, यदि वैसे ही मनुष्यादि शरीर को आत्मा का विशेषण रूप माना जाय, तब तो, विशेषण-विशेष्य भावापन्न मनुष्यत्वादि जाति तथा मनुष्यादि व्यक्ति के न्याय, प्रकार-शरीर (विशेषण) और प्रकारी-आत्मा (विशेष्य) की भी नित्य ही सह प्रतिपत्ति-सहावस्थान तथा एकत्र प्रतीति हो सकती ? अथच ऐसी प्रतीति कभी देखी नहीं जाती। गोत्वादि जाति विशिष्ट रूप में जैसे गवादि शरीरों का व्यवहार होता है, वैसे मनुष्यादि शरीरों को, कभी कोइ आत्माश्रय या आत्मनिष्ठ करके (जानि के) आत्मा के साथ अभिन्न रूप में व्यवहार नहीं करते हैं। सुतरां कहना चाहिये कि 'मनुष्य ही आत्मा' अथवा आत्मा ही मनुष्य इस प्रकार जो आत्मा तथा शरीर का अभेद व्यवहार सो लाक्षणिक-गौण मात्र ?

नहीं-ऐसा सिद्धान्त नहीं हो सकता, जाति गुण के न्याय मनुष्यादि शरीर भी मात्र आत्माश्रित, आत्मप्रयोजनीय तथा आत्म के ही प्रकार-धर्म स्वरूप। मनुष्यादि शरीर जो, आत्मा में आश्रित, सो, आत्म-वियोग के साथ साथ शरीर-विनाश को देखने से समझा जाता है। आत्म कृत विशेष विशेष कर्म फल-भोग के निमित्त ही जो, शरीर की सृष्टि तथा अस्ति (त्व) ता, उसी शरीर की (आत्म-प्रयोजनीयता) आत्म--प्रयोजना-धीनता समर्थित-होती है। 'आत्म ही देवता या मनुष्य'-इत्यादि,व्यवहार दर्शन से ही जाना जाता है कि देव मनुष्यादि शरीरों ने भी आत्मा ही की विशेषण रूप हो रहा है। गवादि शब्दों में जो, केवल आत्मा को न समझाय के व्यक्ति को भी समझाता है, उल्लिखित आत्मैकाश्रयत्व आदि ही उसका कारण। और, इस प्रकार सम्बन्ध न रहने से ही, दण्ड कुण्डलादि पदों ने विशेषण रूप होते हुये भी, मत्वर्थीय (इन आदिक) प्रत्यय के योग से 'दण्डी' 'कुण्डली' इत्यादि रूप से उनके विशेषण--विशेष्य भाव को साधन करना पड़ता है। और, देव मनुष्यादि शरीर, सो स्वाभाविक ही आत्माश्रित,-आत्मा ही के प्रयोजन में प्रयोजित तथा आत्मा ही का विशेषण, इसी से लौकिक तथा वैदिक प्रयोग में 'देवात्मा, मनुष्यात्मा' आदि सामानाधिकरण्य रूप में व्यवहृत होते हैं। जाति तथा मनुष्यादि देह दोनों चक्षु ग्राह्य

ननु च शब्देऽपि व्यवहारे शरीर शब्देन शरीर मात्रं गृह्यते, इति नात्म पर्य्यन्तता शरीर शब्दस्य। नैवम्; आत्म प्रकार भूतस्यैव शरीरस्य पदार्थता-विवेक-प्रदर्शनाय निरूपणात् निष्कर्षक-शब्दोऽयम्; यथा गोत्वं शुक्लत्वमाकृतिर्गुण इत्यादि शब्दाः। अतो गवादिशब्दवत देवमनुष्यादि शब्दा आत्मपर्य्यन्ताः। एवं देवमनुष्यादि-पिण्ड विशिष्टानां जीवानां परमात्म-शरीरतया तत्प्रकारत्वात् जीवात्मवाचिनः शब्दाः परमात्मपर्य्यन्ताः। अतः परस्य ब्रह्मणः प्रकारतयैव चिदचिद्वस्तुनः पदार्थत्वमिति तत् सामानाधिकरण्येन प्रयोगः। अयमर्थो वेदार्थसंग्रहे समर्थितः। इदमेव शरीरात्मभावलक्षणं तादात्म्यम् 'आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च'-ब्र० सू० ४-१-३। इति वक्ष्यति। 'आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्' इति च वाक्यकारः (३६)।

अत्रेदं तत्वम्, 'अचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनःपरस्य च ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन चेशितृत्वेन स्वरूपविवेकमाहुःकाश्चनश्रुतयः,-'अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतत्,तस्मिंश्चा-

---

सुतरां, सर्वदा उन दोनों की एकत्र-प्रतीति होती है; किन्तु आत्मा चाक्षुष न होने से, दर्शन समय में मात्र शरीर ही दृष्ट होता है-आत्मा नहीं। और यह भी कहा नहीं जा सकता है, कि, पृथक्-प्रतीति-गम्य पदार्थ की प्रकारता, सो असम्भव है। क्योंकि मात्र आत्मा के आश्रित रहने से, आत्मा के प्रयोजन साधन में नियुक्त रहने से तथा आत्मा के ही विशेषण रूप में व्यवहृत होने से, जात्यादि पदार्थ होके न्याय शरीर का भी आत्म-विशेषणत्व जाना जाता है। जहाँ, उभय के ही प्रत्यक्ष-कारण एक, तहाँ ही, सहोपलम्भ के नियम-एकत्व प्रतीति अवश्यम्भाविनी, यह बात पहिले भी कही गई है। जैसे, गन्ध वीरस पृथिवी का सहज गुण होते हुये भी, दर्शन समय में उसका-रस गन्धकी प्रतीति नहीं होती तैसे ही शरीर स्वभावतः आत्मा के विशेषणीभूत होते हुये भी, शरीर दर्शन के समय में तत् संसृष्ट आत्मा को देखा नहीं जाता। सुतरां, एकत्र प्रतीति न होने ही से, शरीर को सहज सिद्ध आत्म-प्रकारता के अभाव नहीं हो सकता। और आत्म-विशेषण करके ही, शरीर तथा आत्मा का अभेद प्रयोग होता है। शब्द हो शरीर का आत्म विशेषणत्व प्रतिपादन में समर्थ इसी कारण से शब्द ही शरीर को आत्म-विशेषण रूप प्रतिपादन करता है॥ ११३॥

न्योमाययासन्निरुद्धः । मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' ॥ श्वेताश्व० ४-६-१० । 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः । क्षरात्मानावीशतेदेवएकः' । १-१० । 'अमृताक्षरं हरः' इति भोक्ता निर्दिश्यते । प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन हरतीति हरः । 'सकारणं कारणाधिपाधिपः, न चास्य कश्चित् जनिता न चाधिपः' । श्वेताश्व-६-६ 'प्रधान-क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः' । श्वेताश्व-६--१६ । 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्' । महानारायण--११-३ । 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' । श्वेताश्व-१-६ 'नित्यो नित्यानाम्, चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधातिकामान्' । कठ० ५-१३ । 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्चमत्वा' । श्वेताश्व-१-१२ । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' । मुण्ड-३-१-१ । 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' । श्वेताश्व--१--६। अजामेकां लोहित--शुक्ल--कृष्णाम्, बह्वीं प्रजांजनयन्ती सरूपाम् । अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनांभुक्तभोगाम-जोऽन्यः' महानारायण १०।५। 'समानेवृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशयाशोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदापश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत- शोकः' । श्वेताश्व ४--७ ॥ इत्याद्याः । स्मृतिरपि-'अहंकारइतीयंमे भिन्नाप्रकृतिरष्टधा । अपरेयमित-स्त्वन्यांप्रकृतिं विद्धिमेपराम् ॥ जीवभूताम्महाबाहोययेदं धार्य्यतेजगत् ॥ गीताः ७-४-५ । 'सर्व्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिंजान्ति मामिकाम् ॥ कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौविसृजाम्यहम् । प्रकृतिं स्वामवष्टभ्यविसृजामिपुनः पुनः । भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशम्प्रकृतेर्व्वशात्' । गीता ६-७-८ । मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराच-रम् । हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते'॥ ६--१० । 'प्रकृतिम्पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि । १३-१६ ॥ ममयोनिर्म्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । सम्भवःसर्व्व-भूतानां ततो भवति भारतः । १४-३ । इति जगद्योनि भूतं महद् ब्रह्म मदीयं प्रकृ-त्याख्यं भूत सूक्ष्ममचिद्वस्तुयत्; तस्मिम् चेतनाख्यं गर्भं संयोजयामि । ततो मत् कृताच्चिदचित् संसर्गात् देवादि स्थावरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्व्वभूतानां सम्भवो भवतीत्यर्थः ॥ ११४ ॥

भाला, शब्द व्यवहार में भी तो देखा जाता है कि 'शरीर' शब्द से देह मात्र ही समझाता है;–आत्म पर्यन्त अर्थ ग्रहण शरीर शब्द का नहीं देखा जाता। नहीं–ऐसा नहीं है, आत्मा के विशेषण रूप में ही, शरीर पदार्थ-संज्ञा लाभ करता है, शरीर–शब्द उसीका निरूपक–परिचायक मात्र। सुतरां, आत्म पर्यन्त अर्थ न मानने से उसको कोई प्रकार का व्यवहार ही नहीं चल सकता। गोत्व, शुक्लत्व–आकृति तथा गुण प्रभृति वाचक शब्द भी इस प्रकार विशेषणभाव से विशेष्य पर्यन्त अर्थ–प्रतीति को कराता है। अतएव, गवादि शब्दों के न्याय देव मनुष्य प्रभृति शब्दों ने भी आत्मा तक को समझाता है। इसी प्रकार से देव मनुष्यादि देहधारी जीव- निवह भी परमात्मा के शरीर स्थानीय, सुतरां जीव बोधक शब्द समूह भी परमात्मा तक को समझाता है। अतएव, स्वयं जड़मय वस्तु समष्टि परब्रह्म के विशेषणभाव में ही वस्तुत्व--लाभ करता है। तभी, परब्रह्म के सहित जगत् का सामानाधिकरण्य--अभेद प्रयोग होता है। (किन्तु, यह प्रयोग उभयके एकत्व--निबन्धन नहीं।) 'वेदार्थ संग्रह' में इस विषय को प्रतिपादन किया गया है।- -'मुक्त पुरुषों ने परब्रह्म को आत्मा करके (आत्म रूप में) प्राप्त होते हैं, और, श्रुति भगवती भी इस भाव को ज्ञापन कर रही हैं, इस सूत्र में स्वयं सूत्रकार भी शरीरात्म -भावरूप तादात्म्य ही को निर्देश करेंगे, वाक्यकार भी कहे हैं–'ब्रह्म को 'आत्मा' करके ही ग्राहण करना'। इसका तत्व ऐसा है। जगत् में पदार्थ तीन प्रकार का है--अचित, चित् तथा परब्रह्म। इनमें से अचित्--भोग्यरूप, चित्–भोक्ता और परब्रह्म -तत् समुदय के ईश्वर-परिचालक रूप। कुछ श्रुतियां इस प्रकार के अचित्, चित् तथा परब्रह्म के स्वरूपगत विभाग को प्रदर्शन कर रहे हैं। यथा--

'माया (धारी) धीश--ब्रह्म इस ही से इस जगत् को सृष्टि करते हैं, इस जगत् में फिर जीव माया से आबद्ध होता है। माया को प्रकृति और मायीको महेश्वर करके जानना'। 'चर-विकार शील पदार्थ सकल प्रधान-प्रकृति स्वरूप, और हर ही अक्षर अमृत स्वरूप। एक--अद्वितीय देव--परमेश्वर वही चर तथा अचर–आत्मा को शासन में रखते हैं'। इस श्रुति में 'अमृताक्षर हरं'–वाक्य से भोक्ता जीवको निर्देश किये गये, क्योंकि, स्वीय-भोग-निमित्त प्रधान को (प्रकृति पर जगत् को) हरण-स्वायत्त्राधीन करता है। तभी भोक्ता को 'हर' कहा जाता है। वही (आप) परमेश्वर सबके कारण तथा देहेन्द्रियाधिपति–आत्म

के भी अधिपति, इनके जनक भी कोई नहीं और अधिपति भी कोई नहीं है'। आप ही प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ का पति और त्रिगुण का ईश्वर'। 'आप ही विश्वपति, आत्मा का ईश्वर नित्य-एकरूप, कल्याणमय और अच्युत'। 'अज दोनों हैं--एक 'ज्ञ' तथा अपर 'अज्ञ' एक-सो प्रभु और दूसरा सो अधीन'। 'जो नित्य का भी नित्य, चेतन का भी चेतन जो एक होते हुये भी बहुविध भोग्यों को विधान करते हैं'। भोक्ता जीव 'भोग्य जगत् तथा तत् प्रेरक ईश्वर को चिन्ता करके उन उभयमें से एक (जीव) स्वादिष्ट कर्म फल को भोग करता है और दूसरा सो भोग नहीं करते हैं केवल साक्षी रूप से उसको दर्शनमात्र करते हैं'। 'जीव अपने से पृथक तथा प्रेरक -ईश्वर को मनमें अनुग्रह से अमृतत्व--लाभ करता है'। स्वीय अनुरूप बहु प्रकार सृष्टि कारिनी, लोहित--शुक्ल-कृष्ण वर्ण,-त्रिगुणात्मिका, जन्म रहित तथा एक प्रकृति को, एक अज सो प्रीति पूर्वक अनुसरण करता रहता है। (संसारीरूप से), द्वितीय अज (मुक्तात्मा) भोग को शेष करके इसको परित्याग करते हैं'। 'जीव परमात्मा के साथ एक ही देह वृक्ष-पर अवस्थित होकर, अनैश्वर्य निवन्धन, मोह ग्रस्त होके शोक दुःखादिकों को भुगतता है'। 'आराधित या प्रीति सम्पन्न (जीव) अपर-ईश्वर को जब दर्शन-शक्त होता है तब वीत--शोक होके उनकी महिमा को प्राप्त होता है'। इत्यादि--स्मृतियों में भी-(पञ्चभूत, मन, बुद्धि तथा) अहंकार--यह अष्टधा विभक्त हमारी प्रकृति, परन्तु यह हमारी अपरा (वहिरंग) प्रकृति। हे महाबाहो, एतद्भिन्न हमारी एक परा प्रकृति, है, वही जीव-स्वरूप और उसी से यह जगत विधृत-रचित हो रहा है'। 'हे कुन्ति नन्दन कल्पक्षय में समस्त भूत ही हमारी प्रकृति में विलीन होता है, तथा कल्पा-रम्भ में, पुनः हम ही वह समस्त भूतों को सृष्टि करता हूँ'। हम प्रकृति की सहायता से प्रकृति-के अधीन कर्म-परतंत्र-हत्-समस्त भूतों को बार बार रचना करता हूं'। हमारी प्रेरणा से, प्रकृति चराचरात्मक--जगत् को प्रसव करती है। हे कुन्ति नन्दन, इसी कारण से यह जगत् चला आ रहा है। प्रकृति तथा पुरुष दोनों को अनादि करके जानना। 'हमारा अभिव्यक्ति स्थान जो महत तथा ब्रह्म उसी में हम सर्व भूतों को गर्भ स्थापन करता हूँ। हे भारत उसीसे सब भूतों की उत्पत्ति होती है'। श्रीभगवान कह रहे हैं- 'मदीय प्रकृति संज्ञक जो, भूत सूक्ष्म रूप जड़ वस्तु, उसीमें हम चेतनात्मक गर्भ संयोजित करता हूँ। हमारा किया हुआ वही चेतना चेतन सम्बन्ध वश, देवता से लेकर स्थावर पर्यन्त चेतना चेतन समन्वित समस्तभूतों की समुत्पत्ति होती रहती है; यही शेष श्लोक का अर्थ है ॥ ११४ ॥

एवं भोक्तृ-भोग्यरूपेणावस्थितयोः सर्व्वावस्थावस्थितयोश्चिदचितोः परम-पुरुष-शरीरतयातन्नियाम्यत्वेन तदपृथक् स्थितिं परमपुरुषस्य चात्मत्वमाहुःकाश्चन श्रुतयः-'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्याअन्तरो, यंपृथिवी न वेद, यस्य पृथिवीशरीरं, यः पृथिवीमन्तरोयमयति' इत्यारभ्य,--'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, यआत्मानमन्तरो यमयति, सतेआत्मान्तर्य्याम्यमृतः'। इति। तथा, 'यः पृथिवीमन्तरेसञ्चरन्, यस्य पृथिवी शरीरं, यं पृथिवी न वेद' इत्यारभ्य--'यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन, यस्य मृत्युः शरीरम् यं मृत्युर्नवेद, एष सर्व्व भूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः' सुबाल० ७। अत्र मृत्यु शब्देन तमः शब्द वाच्यं सूक्ष्मावस्थमचिद्वस्तु अभिधीयते; अस्यामेवोपनिषदि--अव्यक्तम-क्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते' इति वचनात्। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां सर्व्वात्मा' यजुरारण्यक-३ प्रः, ११।२१।

एवं सर्व्वावस्थावस्थित-चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परम पुरुष एव कार्य्यावस्थ--कारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इतीममर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतयः कार्य्यावस्थं कारणावस्थञ्च जगत् स एवेत्याहुः;-सदेव सोम्येदमग्रआसीत् एकमेवा-द्वितीयम्। तदैक्षत-बहुस्यांप्रजायेय'-इति, 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यारभ्य 'सन्मूलाः' सोम्येमाः सर्व्वाःप्रजाः 'सदायतनाःसत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदंसर्व्वम्। तत् सत्यम्। स आत्मा। तत् त्वमसि श्वेत केतो' इति-छान्दो-६।२,१।८,६। तथा 'सोऽकामयत-बहुस्यां प्रजायेय'-इति।'स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्व्वमसृजत'इत्यारभ्य-'सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्'-तैत्ति० ६।२-३। इत्याद्याः।

अत्रापि श्रुत्यन्तरसिद्धश्चिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूपविवेकः स्मारितः। 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'-इति 'तत् सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्, विज्ञानञ्चावि-ज्ञानञ्च, सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्'-छान्दो-६-३-२। इति च। 'अनेन जीवेना-त्मनानुप्रविश्य' इति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं-'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्' 'विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च' इत्यनेनैकार्थ्यादात्म शरीरभावनिबन्धनमिति विज्ञायते।

एवम्भूतमेव नामरूप व्याकरणं तद्धे दं तर्ह्य व्याकृतमासीत, तन्नामरूपाभ्याम्व्या-क्रियत'--वृहदा-३-४--७। इत्यत्राप्युक्तम् अतः कार्य्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूल सूक्ष्म--चिदचिद्वस्तुशरीरः परमपुरुष एवेति कारणात् कार्य्यस्यानन्यत्वेन कारण-विज्ञानेन कार्य्यस्य विज्ञाततया एक विज्ञानेन सर्व्वविज्ञानञ्च समीहितमुपपन्नत-रम्। 'अहमिमास्तिस्रोदेवता अनेन जीवेनातानुप्रविश्य नाम रूपेव्याकरवाणि'-इति, 'तिस्रो देवताः' इति सर्व्वमचिद्वस्तु निर्द्दिश्य तत्र स्वात्मक-जीवानुप्रवेशेन नाम रूप व्याकरण वचनात् सर्व्वेवाचकाः शव्दा अचिज्जीवविशिष्ट परमात्मन एव वाचका इति कारणावस्थ-परमात्मवाचिना शव्देन कार्य्यवाचिनः शव्दस्य सामानाधिकर-ण्यं मुख्यवृत्तम्। अतः स्थूल सूक्ष्म चिदचित् प्रकारकं व्रह्मैव कार्य्यं कारणं चेति व्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्म चिदचिद्वस्तुशरीरं व्रह्मैव कारणमिति।

व्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोव्रह्मणश्च स्वभावासंकरो-ऽप्युपपन्नतरः। यथा-शुक्ल रक्त कृष्णतन्तु-संघातोपादानत्वेऽपि चित्रपटस्य तत्त-तन्तु प्रदेशएव शौक्ल्यादि सम्वन्ध इति कार्य्यावस्थायामपि न सर्व्वत्र वर्णसंकरः, तथाचिदचिदीश्वरसंघातोपादानत्वेऽपि जगतःकार्य्यावस्थायामपि भोक्तृत्व-भोग्य-त्व-नियन्तृत्वाद्यसंकरः। तन्तूनांपृथक् स्थिति योग्यानाम् एवपुरुषेच्छया कदाचित् संहतानां कारणत्वं कार्य्यत्वञ्च। इह तु सर्व्वावस्थावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन चिदचितोरततप्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत् प्रकारः परम पुरुषः सर्व्वदा सर्व्वशव्द वाच्य इति विशेषः। स्वभावभेदस्तदसंकरश्च तत्र चात्र च तुल्यः। एवं च सति, परस्य व्रह्मणः कार्य्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपान्यथाभावभावादविकृतत्वमुपपन्नत म्। स्थूला वस्थस्य नामरूपविभाग-विभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतयावस्थानात् कार्य्यत्वम-प्युपपन्नतरम्; अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्य्यता॥ ११५॥

चेतन जीव समूह भोक्ता, और अचेतन जड़ वर्ग उनके भोग्य, इस प्रकार भोक्तृ भोग्यरूप में अवस्थित, और सर्वावस्था पर एक रूप अवस्थित चित तथा अचित वस्तु समूह जब परम पुरुष भगवान ही के शरीर-तथा उसी हेतु से उनही के द्वारा परिचालित, तब तो उनको छोड़कर-पृथकरूप में अवस्थिति की शक्ति भी उन सब की नहीं है। तभी निम्नोल्लि-

खित श्रुतियां भी परम पुरुष को 'आत्मा' करके निर्देश कर रहे हैं। यथा-'जो पृथिवी में रहते हुये भी पृथिवी से पृथक, जिनको पृथिवी नहीं जानती है। अथ च पृथिवी ही जिनके शरीर, जो अभ्यन्तरस्थ होकर पृथिवी को संयमित कर रहे हैं'। यहाँ से आरम्भ करके- जो आत्मा में रह कर भी उससे पृथक, आत्मा जिनके शरीर, तो भी; आत्मा जिनको नहीं जानता, जो अन्तरंगरूप से आत्मा को परिचालित करते हैं, वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारी आत्मा'-इति। और भी-'जो पृथिवी के अभ्यन्तर में विचरणशील, पृथिवी जिनको नहीं जानती'- इससे लेकर-'जिन्होंने मृत्युके अभ्यन्तर में विचरते हैं, मृत्यु जिनके शरीर, मृत्यु जिनको नहीं जानता है; वही सर्वभूतों के अन्तरात्मा, निष्पाप,अलौकिक, द्युतिमान अद्वितीय नारायण'। यहाँ 'मृत्यु'-शब्द से 'तमः'-शब्द वाच्यभूत सूक्ष्मरूप में अवस्थित अचित् पदार्थ अभिहित भया है। क्योंकि, इसी सुवालोपनिषत्में ही कहा गया है-'अव्यक्त भूत सकल अचर में लीन होता है, पुनः अचर तम में-सूक्ष्मभूत में विलीन होता है'। और भी- 'सर्वभूतों को आत्म स्वरूप भगवान अभ्यन्तरमें प्रवेश पूर्वक जनगण को शासन करते रहतेहैं'।

इसी प्रकार से देखा जाता है कि चेतन अचेतन पदार्थ समूह, चाहे जिस अवस्था में हो, परम पुरुष परमात्मा के शरीर-सिवाय और कुछभी नहीं। सुतरां उन सब को परमात्मा के प्रकार या धर्म रूप ही स्वीकार करना चाहिये। चेतना चेतन मय जगत् चाहे कार्यावस्था में, चाहे कारणावस्थामें हो-परमपुरुष-परमात्मा, निश्चय करके, जगत् रूप में अवस्थान करते हैं- इस तात्पर्य अनुसार कुछ श्रुतियों ने, कार्य तथा कारणावस्थ-जगत् को परम पुरुष करके ही निर्देश कर रहे हैं।-यथा-'हे सोम्य सृष्टि के पूर्व में यह जगत् एक-अद्वितीय-सत् स्वरूप ही रहा', '(आप) इच्छा किये'-'हम बहु होंगे-जन्मेंगे, उन्होने तेज को सृष्टि किये'-यहाँ से लेकर कथित भया-'सत् ब्रह्म ही जायमान समस्त पदार्थों का मूल-(उत्पत्ति के कारण,) आश्रय तथा विलय स्थान। यह समस्त जगत् ही सत् स्वरूप, वही सत्य-तथा वही आत्मा, हे श्वेतकेतो, तुम भी वही आत्म-सरूप'। और भी है-'उन्होंने कामना किये, हम बहु होके जन्मेंगे, उन्होंने तपस्या किये थे, तपस्या के साथ यह-समस्त जगत् को सृष्टि किये थे'-इससे आरम्भ करके-'सत्य स्वरूप ब्रह्म ही सत्य तथा असत्य भये रहे'।-इत्यादि।

अपरापर श्रुतियों में जो, चित्, अचित् तथा परम पुरुष परमेश्वर के स्वरूप-विवेक

समर्थित हुये हैं सोई यह छान्दोग्य और तैत्तिरीय श्रुतियों से स्मरण कराये गये है। यथा- 'हम जीव आत्मारूप से भूतत्रय के अन्तर में प्रविष्ट होकर नाम तथा रूप को प्रकट करेंगे' । इति। और 'उन्होंने उन सब को सृष्टि करके उन्हींमें प्रवेश किये तथा उनमें प्रविष्ट होकर सत् और त्यत् होते भये। विज्ञान तथा अविज्ञान और सत्य तथा अनृत स्वरूप होते भये' । इति। यहां पर-'तन्मध्य में प्रवेश पूर्वक सत् तथा त्यत्-रूप-धारण और विज्ञान तथा अविज्ञान रूप में आत्म-प्रकटन' के उल्लेख से जाना जाता है-'इस जीवरूप से प्रविष्ट होकर इस श्रुति में भी ठीक वही अर्थ उक्त भया है', अतएव समझ लेना चाहिये कि जीव का जो ब्रह्म-भाव अभिहित भया है, जीव तथा ब्रह्म के शरीर शरीरी भाव ही, उसमें मात्र कारणरूप है, न-चेत् उभय श्रुति की एकार्थता नहीं रह जायगी। और, उस समय पर यह जगत् अव्याकृत भाव में-सूक्ष्मावस्था में रहा, अनन्तर वही नामरूप में अभिव्यक्त भया'। इसमें भी वही नाम-रूप में अभिव्यक्ति की बात ही, स्पष्ट करके कही गई है। अतएव, ज्ञातव्य यह है कि, कार्य रूप से या कारणरूपने-स्थल-सूक्ष्म तथा चेतनाचेतन वस्तु समूह, परम पुरुष-परमेश्वर ही के शरीर। कार्य कभी भी कारण से भिन्न नहीं है। तभी, कारण स्वरूप भगवान को जाननेसे ही तत् कार्य-रूप समस्त जगत् भी जाना जा सकता,सुतरां,एक विज्ञान से सर्व विज्ञान-जो अभिलषित, सो भी सम्पूर्ण रूप से उपपन्न या समर्थित होता है। 'अहम् इमा:'-इत्यादि श्रुति 'तिस्रो देवता:' इत्यादि-द्वारा समस्त जड़ पदार्थों को निर्देश करके, उसीसे फिर स्वस्वरूप जीव के अनुप्रवेश से नाम तथा रूप की अभिव्यक्ति किये हैं। इसे समझना चाहिये कि, वाचक या अर्थ बोधक शब्द मात्र ही, चाहे किसी प्रकार से हो, निश्चय करके परमात्मा को समझाता है। अतएव, कारणावस्थापन्न परमात्म-बोधक शब्दों का (तत् प्रभृति.) पदों के साथ, कार्यवस्था बोधक शब्दों का (जीव बोधक 'त्वम्' प्रभृति पदों के) सामानाधिकरण्य या अभेदोक्ति अबाध रूप से उपपन्न होता है। अतएव, समझना चाहिये कि, स्थूल, सूक्ष्म तथा चित् जड़ात्मक समस्त जगत् ही ब्रह्म के प्रकार-धर्म-अवस्था विशेष ब्रह्म स्वयं ही-कार्य कारण स्वरूप और इस जगत् के उपादान कारण रूप से विराज रहे हैं। अतएव, सूक्ष्म ही हो या चेतन ही हो या अचेतन ही हो, सो समस्त ही ब्रह्म के शरीर तथा ब्रह्म ही उन सबके कारण, और कुछ भी कारण नहीं ।

निर्गुण वादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्भवादुपपद्यन्ते । अप हतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोऽविजि घत्सोऽपिपासः'-इति हेय गुणानप्रतिषिध्य,'सत्य कामः सत्य संकल्पः' इति कल्याण गुणान् विदधतीयं श्रुति रेवान्यत्र सामान्येनावगतं गुणनिषेधं हेयगुणविषयं व्यवस्थापयति ॥

ज्ञान स्वरूपं ब्रह्मेतिवादश्च सर्व्वज्ञस्य सर्व्व शक्तेरखिल हेयप्रत्यनीक

(शंका-तवतो-उभय के धर्म उभय में संक्रमित हो शक्ते) समन्वय-परमार्थ दृष्टिसे ब्रह्म जगत के उपादान होते हुये भी प्रकृत पक्ष में संघात या चेतना चेतन समष्टि ही जगत के उपादान; तभी, चेतना चेतन तथा ब्रह्म के बीच में, स्व स्व स्वभाव परस्पर में संक्रमित नहीं होता है। जैसे, नानारं से रंगे हुये वस्त्र शुक्ल कृष्ण तथा रक्त वर्णसूत्र से निर्मित होते हुये भी, वस्त्र का विभिन्न अंश ही में शुक्लादि वर्णो के सम्बन्ध दृष्ट होता है, किन्तु, वस्त्र के सर्वांश में सर्व वर्णो का सक्रमण नहीं होता है। वैसे ही, चेतन अचेतन तथा ईश्वर-एतत समष्टि जगत के उपादान होते हुये भी, जगत् में भोक्तृत्व भोग्यत्व तथा नियन्त्रित्व प्रभृति धर्मों के परस्पर में संक्रमित नहीं होता है-तब भो विशेष इतना ही है-वस्त्र के उपादान-तन्तु समूह पृपक् रहता है-रह शक्ता है, कर्ता के इच्छानुसार समय विशेष पर संहत होता है; अत एव वह तन्तु, समूह कारणावस्था तथा कर्यावस्था उभय भाव में ही अवस्थान करता है। किन्तु, इसमें-चेतन तथा अचेतन वस्तु समूह, चाहे जब जिस अवस्था में हो, सर्वदा ही परमपुरुष के शरीर स्थानीय, सुतरां, उन्ही के (आपही के) धर्म रूप से सत्र सर्वदा अस्तितत्र लाभ करता है, ताते ही, वही चेतना चेतन शरीर-सम्पन्न परम पुरुष-परमात्मा चिरकाल के लिये 'सर्व' शब्द से अभिधान योग्य। लेकिन, 'स्वभाव' स्व स्व धर्मों के प्रभेद तथा उन सबके परस्पर में संमिश्रण न होना, तहाँ तथा यहाँ (तन्तु-पट, चेतना चेतन ब्रह्म में) बराबर है-कुछ भी बिशेष नहीं। इस प्रकार सिद्धान्त के साथ कार्य भूत जगत के अनुप्रवेश में भी ब्रह्म के अविकृत भाव से अवस्थिति सो सम्यक रूप से उपपन्न-संगत-हो शक्ता है। क्योंकि, उस प्रवेश से कुछ भी उनके स्वरूप का अन्यथाभाव या बिकार नहीं घटता (होता) है। और, वह जब, स्थूलावस्थायुक्त तथा नाम-रूप-कृत विभयासम्पन्न,-चेतन तथा अचेतन मय-जगत की आत्मारूप में अवस्थित, तब, तदभिन्न भावसे उनके कार्यावस्था भी सम्यक रूप से संगत है; क्योंकि, अवस्थान्तर प्राप्ति के नाम ही कार्यत्व ॥ ११५ ॥

कल्याण गुणाकरस्य ब्रह्मणः स्वरूपं विज्ञानैक निरूपणीयं स्वप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपञ्चेत्यभ्युपगमादुपपन्नतरः। 'यः सर्व्वज्ञः सर्व्ववित्'। मुण्डः-१-१-६। 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविको ज्ञान बलक्रियाच'। श्वेता-६-८। 'विज्ञातारमरे केनविजानीयात्'-वृहदाः-६-५-१५। इत्यादिका ज्ञातृत्वम् आवेदयन्ति; 'सत्यं ज्ञानम्'-तैत्ति--१--१। इत्यादिकाश्च ज्ञानैकनिरूपणीयतया स्वप्रकाशतया च ज्ञान स्वरूपताम्।

'सोऽकामयत-बहुस्याम्'। तैत्ति-६-२। 'तदैक्षत-बहुस्याम्'। छान्दो-६-२-३ 'तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' वृहदा-३-४-७। इति ब्रह्मैव स्वसंकल्पात् विचित्र स्थिर-चरस्वरूपतया नानाप्रकारमवस्थितमिति तत् प्रत्यनीका ब्रह्मात्मक--वस्तु नानात्वमतत्वमिति तत् प्रतिषिध्यते,--'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति नेह नानास्ति किञ्चन'--कठ--४।१०--११। 'यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरम्पश्यति। यत्रत्वस्य सर्व्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कंपश्येत्, तत् केन कं विजानीयात्'- वृहदा-४--४--१४। इत्यादिना। 'न पुनः बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति सिद्ध' स्वसंकल्पकृतं ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वमपिनिषिध्यते। 'यत्र त्वस्य सर्व्वमात्मैवाभूत्' इति निषेधवाक्यादौ च तत् स्थापितम्। 'सर्व्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्व्वंवेद'-वृहदा--४--४६। 'तस्य ह वाएतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यत् ऋग्वेदो यजुर्व्वेदः'-सुबाल--२-वृहदा-४-४-१०। इत्यादि एवं चिदचिदीश्वराणां स्वरूप भेदं स्वभावभेदञ्च वदन्तीनां कार्य्य कारण भावं कार्य्यकारणयो रनन्यत्वं वदन्तीनां च सर्व्वासां श्रुतीनामविरोधः, चिदचितोः परमात्मनश्च सर्व्वदा शरीरात्मभावम्, शरीरभूतयोः कारण दशायां नाम रूप विभागानर्ह सूक्ष्मदशापत्तिम्, कार्य्यदशायाञ्च तदर्हस्थूलदशापत्तिं वदन्तीभिः श्रुतिभिरेव ज्ञायते, इति ब्रह्माज्ञानवादस्यौपाधिक ब्रह्म-भेदवादस्यान्यस्याप्यपन्यायमूलस्य सकल श्रुति विरुद्धस्य न कथञ्चिदप्यवकाशोदृश्यते। चिदचिदीश्वराणां पृथक् स्वभावतया तत् तत् श्रुति सिद्धानां शरीरात्म भावेन प्रकार--प्रकारितया श्रुतिभिरेव प्रतिपन्नानां श्रुत्यन्तरेण कार्य्यकारणभाव प्रतिपादनं कार्य्य कारणयो रैक्य प्रतिपादनञ्च ह्यवि-

रुद्धमिति सिद्धम् । यथा--आग्नेयादीन् षड्यागानुत्पत्तिवाक्यैः पृथगुत्पन्नान्समुदायानुवादिवाक्यद्वयेन समुदायद्वयत्वमापन्नान् 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्'--कात्यायन श्रौत सू० ४-२।४७ इति अधिकार वाक्यं कामिनः कर्त्तव्यतयाविदधाति; तथा चिदचिदीश्वरान् विविक्तस्वरूप स्वभावान् 'क्षरंप्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशतेदेव एकः'-श्वेता-१-१० । प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः' 'पति विश्वस्यात्मेश्वरम् ; आत्मा नारायणः परः' । नारायण ११-३-४ । इत्यादि वाक्यैः पृथक् प्रतिपाद्य-'यस्य पृथिवी शरीरं, यस्यात्मा शरीरं यस्याव्यक्तं शरीरं, यस्याक्षरं शरीरम्, एष सर्व्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः'-सुवाल ७ । इत्यादिभिर्व्वाक्यैश्चिदचितोः सर्व्वावस्था वस्थितयोः परमात्म शरीरतां परमात्मन स्तदात्मतां च प्रतिपाद्य शरीरभूतपरमात्माभिधायिभिः सद्ब्रह्मात्मादिशब्दैः कारणावस्थः कार्य्यावस्थश्च परमात्मैक एवेति पृथक् प्रतिपन्नं वस्तुत्रितयं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' । 'एतदात्म्यमिदं सर्व्वं', 'सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यं प्रतिपादयति । चिदचिद्वस्तुशरीरिणः परमात्मनः परमात्मशब्देनाभिधानेहि नास्तिविरोधः; यथा मनुष्य पिण्ड शरीरकस्यात्मविशेषस्य 'अयमात्मासुखी' इत्यात्मशब्देनाभिधाने; इत्यलामतिविस्तरेण ॥ ११६ ॥

निर्गुणवाद निरसन--शास्त्रों में जो ब्रह्म को निर्गुण कहा गया, हेय गुणों के असद्भाव निबन्धन सो भी उपपन्न होता है। (आप) 'वह निष्पाप तथा जरा, मरण, शोक, क्षुधा और पिपासारहित' यह श्रुति उनके बारे मे हेय-गुणों का प्रतिषेध करके उनमे सत्यकाम, सत्य-संकल्प प्रभृति कल्याण मय गुणों का विधान करिके स्वयं कहि रहे हैं-यद्यपि ब्रह्म के 'निर्गुणत्ववाद' साधारण-भाव से कहा गया है--सो सत्य ही है, तथापि, उसी से जो, ब्रह्म गत समस्त गुणों के ही अभाव- अभिहित होता है सो नहीं,--परन्तु, जगत् मे जो सब गुण हेय--निकृष्ट करके प्रसिद्ध, केवल उन्हीं सबके प्रत्याख्यान किये गये । (अत एव, निर्गुणत्व बाधक श्रुतियों से ब्रह्म के निर्गुणत्व निर्णीत नहीं होता हैं ।)

ब्रह्म के ज्ञान-रूपता-निरसन--और, जिन श्रुतियां से ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप करके निर्देश किये गये, उसमें भी कारण यह पड़ा है कि, -ब्रह्म स्वाभाविक ही सर्वज्ञ, सर्व शक्ति तथा

मंगलमय-समस्त गुणों के आश्रय शिवायज्ञान के--औरो उपायों से उनके स्वरूप को निर्देश नहीं किया जा शक्ता और, ज्ञान जैसे स्वयं प्रकाशमान, वे भी वैसे ही स्वप्रकाश--इन उभय कारणों से उनको 'ज्ञानस्वरूप' कहा जाता है--किन्तु 'ज्ञान-रूपी' करके नहीं। अतएव ज्ञान स्वरूपत्व -बोधक श्रुतियाँ सो भी विरुद्ध नहीं-वरं, संगत ही है। क्योंकि, 'जो सर्वज्ञ तथा सर्ववेत्ता', 'इनके नाना बिध परा शक्ति तथा सहज--सिद्ध ज्ञानवल और क्रियादिक सुने जाते है'। 'अरे मैत्रेयि, विज्ञाता परमेश्वर को किससे जानोगे'-इत्यादि श्रुतियों ने उनके ज्ञातृत्वहीकोज्ञापनकर रहे हैं--ज्ञान-रूपत्व को नहीं। और, वह सत्य-तथा ज्ञान-स्वरूप' इत्यादि श्रुतियों ने भी, उनके ज्ञानैक-गम्यत्व तथा स्वप्रकाशत्व निवन्धन ही ज्ञानस्वरूपता को निर्देश कर रहे हैं-(किन्तु ज्ञानरूपता निवन्धन नहीं)।

'वे कामना किये थे-हम वहू होंगे,' 'वे आलोचना किये रहे--हम वहू होंगे।' 'वे नाम रूप से अभिव्यक्त होते भये।' इन श्रुतियों से जाना जाता है कि, एक ही ब्रह्म नाना प्रकार के स्थावर--जंगम रूप से अभिव्यक्त होते भये--नानाप्रकार से अवस्थित होते भये, अतएव, तद्विरूद्ध जो अब्रह्म- भाव से बस्तुगत नानात्वयाभेदप्रतीति--सो सत्य नहीं। निम्नोक्त श्रुतियों से यह ब्रह्मात्मक नानात्व ही निषिद्ध हो रहे हैं। यथा—'जो लोक इनमें नानामत देखता है सो परम्परा रूप से मृत्यु को ही प्राप्त होता है।' 'इनमें भेद कुछ भी नहीं है।' 'जव द्वैत के माफिक होता हे, तभी अपर, अपर को देखता है, किन्तु, जब समस्त वस्तु ही साधक के आत्म स्वरूप हो जाता है, तब फिर वह किससे किसको देखेंगे। किससे किसको जानेंगे ?' इत्यादि। (किन्तु) 'हम वहू होंगे' इत्यादि श्रुति--सिद्ध जो, ब्रह्मके स्वेच्छा सम्पादित, नानाविध नामरूप-घटित नानान रूप, उक्त श्रुतियों से जो उसका प्रतिषेध, सो नहीं समझना चाहिये। 'जिस अवस्था मे यह सभी, साधक का आत्म स्वरूप होता है, इत्यादि भेद निषेधक वाक्यों के विचार समय 'जो लोक, आत्मा से भिन्न-सर्ववस्तुवों के अस्तित्व को मानता है, सव वस्तु ही उसको प्रतारित करता है, अर्थात् प्रकृत तत्व को समझने नहीं देता है।' यह जो, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद-यह वही स्वतः सिद्ध महान् परमेश्वर केनि:श्वासस्वरूप--अर्थात् उनके अयत्न प्रसूत।' इत्यादि वाक्यों से भी उक्त सिद्धान्त व्यवस्थापित या समर्थित भया है।

और, चेतन, अचेतन तथा ईश्वर के स्वरूप और कार्य्य कारणों के अभिन्नत्व वोधक जो श्रुतियां हैं, उनके बीच में, यद्यपि आपाततः विरोध प्रतीत होता है-सो सत्य है; तथापि, चेतन अचेतन और परमात्मा में सर्वदा शरीरात्म सम्बन्ध, परमात्मा के शरीर स्थानीय चेतनाचेतन पदार्थों के कारणावस्था में नामरूप विभाग-विहीन सूक्ष्म दशालाभ, और, कार्यावस्था में नाम रूप विभाग योग्य स्थूल दशा प्राप्ति, तत् प्रतिपादक श्रुतियों से ही उस विरोध के परिहार या मीमांसा सिद्ध हो सकती है। अतएव, 'ब्रह्मज्ञान-वाद' ही हो या 'औपाधिक ब्रह्म भेद-वाद' ही हो अथवा और कोई वाद ही हो, सो समस्त ही अयुक्ति मूलक तथा सर्व श्रुति विरुद्ध, सुतरां, उन वादों की कल्पना का सुयोग कोई भी नहीं देखा जाता;- अभिप्राय-चेतन, अचेतन तथा ईश्वर के स्वभाव जो, विभिन्न प्रकार, सो, यह (सिद्धान्त) श्रुति सिद्ध; और, 'ईश्वर ही आत्मा, चेतनाचेतन-समूह उनके शरीर,'-इस प्रकार के धर्म-धर्मी भाव-वोधक श्रुति समूह से भी समर्थित। सुतरां, अपर श्रुति के अनुसार जो, उनके कार्य कारण-भाव प्रतिपादन तथा कार्य कारण के अभेद-निर्देश सो कभी भी विरुद्ध नहीं हो सकते। यही प्रमाणित होता है। आग्नेय प्रभृति छवों याग जैसे, प्रथमतः पृथक् पृथक् उतपत्ति-वाक्यों से (प्रथम विधायक वाक्यों से) पृथक् पृथक् भाव से विहित होते हुये भी, पश्चात् वह याग समष्टि को, दो वाक्यों से दो भागों में विभक्त किये गये। अवशेष, पूर्व प्रक्रान्त वोधक-'दर्श-पूर्णमासाभ्याम्'-दर्श तथा पूर्णमास नामक यागों को करना-इस वाक्य से, उस समुदय याग को कभी-अभिलाषी पुरुषों के वारे में कर्तव्यरूप से विहित किया गया है। ठीक उसी प्रकार से, प्रधान या प्रकृति ही चर, और, हर ही अमृत अक्षर (हों)। 'केवल यह देवता ही उभय को शासन करते हैं, प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ के पति (वही हैं)।' 'विश्व के पति तथा आत्मा के ईश्वर को-।' 'श्री नारायण ही, परमात्मा इत्यादि वाक्यों से चेतन, अचेतन तथा ईश्वर के विभिन्न प्रकार के स्वरूप और स्वभाव को प्रतिपादन करके पश्चात्-पृथिवी जिनके शरीर वही, सर्व भूतों के अन्तरात्मा, सर्वपाप रहित अलौकिक द्योतमान एक नारायण'-इत्यादि वाक्यों से, सर्वावस्थावों में ही, चेतनाचेतन वस्तुओं को परमात्मा के शरीर, तथा, परमात्मा को वही चेतना चेतनात्मक करके प्रतिपादन कर चुके। पूर्व में चेतना चेतन के आत्म-भूत परमात्मा के वोधक-'सत् ब्रह्म तथा आत्मा'-प्रभृति शब्दों से, एक परमात्मा ही के कार्यावस्था तथा कारणावस्थावों के साथ सम्बन्ध को

यत् पुनरिद मुक्तम्, ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेनैवा विद्यानिवृत्तिर्युक्तेति। तद-युक्तम्; बन्धस्य पारमार्थिकत्वेन ज्ञान निवर्त्यत्वाभावात् पुण्यापुण्य रूपकर्म्म निमित्त देवादि शरीर-प्रवेश-तत्प्रयुक्त सुख-दुःखानुभव रूपस्य बन्धस्य मिथ्यात्वं कथमिव शक्यये वक्तुम्। एवं रूपबन्ध--निवृत्तिर्भक्तिरूपापन्नोपासनप्रीतपरमपुरुष प्रसादलभ्येति पूर्व्वमेवोक्तम्। भवदभिमतस्यैक्यज्ञानस्य यथावस्थित वस्तु-विपरीतविषयस्य मिथ्यारूपत्वेन बन्ध विवृद्धिरेव फलम्भवति। 'मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यंहि नैतितद्द्रव्यतां यतः'-श्रीविष्णु पु० '२-१३-२७। इति शास्त्रात 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'-श्रीगीताजी-१५-१७। पृथगात्मानम्प्रेरितारञ्चमत्वा' इति श्वेताश्व १। ६ जीवात्मा विसजातीयस्य तदन्तर्य्यामिणो ब्रह्मणो ज्ञानं परम पुरुषार्थलक्षण-मोक्ष-साधनमित्युपदेशाच्च।

अपि च भवदभिमतस्यापि निवर्त्तकज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वात् तस्य निवर्त्तकान्तरं मृग्यम्। निर्वर्त्तक ज्ञानमिदं स्वविरोधि सर्व्वं भेदजातं विनिवर्त्य क्षणिकत्वात् स्वयमेव विनश्यतीति चेत्; न, तत् स्वरूप तदुत्पत्तिविनाशानां काल्पनिकत्वेन विनाश तत् कल्पना कल्पकरूपाविद्यायानिर्वर्त्त कान्तरमन्वेषणीयम्। तद्विनाशो ब्रह्मस्वरूपमेवेतिचेत्, तथा सति निर्वर्त्तक ज्ञानोत्पत्तिरेव न स्यात्। तद्विनाशेतिष्ठति तदुत्पत्त्यसम्भवात्।

प्रतिपादन से, जिन वस्तु-त्रय के पृथक् पृथक् सत्तायें प्रतिपादित भये हैं,-'हे सोम्य सृष्टि के पूर्व में यह जगत् परब्रह्म स्वरूप ही रहा,' 'यह समस्त ही यही ब्रह्मात्मक' 'यह समस्त ही ब्रह्म-स्वरूप'-इत्यादि वाक्य समूह केवल वही पृथक् रूप से वर्णित वस्तु त्रय को ही एकीकृत भाव में वर्णन किये हैं-मात्र। चेतना चेतन वस्तु सब परमात्मा के शरीर होते हुये भी, परमात्मा शब्द से उनको (आपको) उल्लेख करने में बाधा कुछ भी नहीं, (क्योंकि) कोइ कोइ आत्मा मनुष्य देह धारण पूर्वक तद्विशिष्ट होते हुये भी-'यह आत्मा सुखी' इत्यादि रूप से शरीर विशिष्ट आत्मा को शरीर से पृथक करके, मात्र आत्म--शब्द से उल्लेख करते देखा जाता है। अतएव-अलमति विस्तरेण। ११६ ॥

अपि च, चिन्मात्र ब्रह्मव्यतिरिक्त कृत्स्ननिषेधविषयज्ञानस्य कोऽयं ज्ञाता ? अध्यासरूप इति चेत्, न तस्य निषेध्यतया निर्वर्त्तकज्ञान कर्म्मत्वात् तत् कर्तृत्वानुपपत्तेः। ब्रह्मस्वरूपमेवेति चेत्; ब्रह्मणोनिर्वर्त्तकज्ञानं प्रतिज्ञातृत्वं किं स्वरूपम् ? उतअध्यस्तं ? अध्यस्तं चेत्; अयमध्यासस्तन्मूलाविद्यान्तरञ्च निर्वर्त्तकज्ञानाविषयतयातिष्ठत्येव। निर्वर्त्तकज्ञानान्तराभ्युपगमे तु तस्यापि त्रिरूपत्वात् ज्ञात्रपेक्षयानवस्था स्यात् ब्रह्मस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वे अस्मदीय एव पक्षः परिगृहीतः स्यात्। निर्वर्त्तक ज्ञान स्वरूपं स्वस्य ज्ञाता च ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन स्वनिवर्त्यान्तर्गतम्-इति वचनं 'भूतल व्यतिरिक्तं कृत्स्नं देवदत्तेनच्छिन्नम्, इत्येकस्यामेव च्छेदनक्रियामस्य च्छेत्तुरस्याः च्छेदनक्रियायाश्च च्छेद्यानुप्रवेशवचनवदुपहास्यम्। अध्यस्तोज्ञाता स्वनाश हेतु भूत निर्वर्त्तकज्ञाने स्वयंकर्त्ता च न भवति, स्वनाशस्यापुरुषार्थत्वात्। तन्नाशस्य ब्रह्मस्वरूपत्वाभ्युपगमे भेद-तद्दर्शन तन्मूलाविद्यादीनां कल्पनमेव न स्यात्; इत्यलमनेन दिष्ट-हत मुद्गराभिघातेन ॥ ११७ ॥

तस्मादनादिकर्म्म प्रवाहरूपाज्ञानमूलत्वाद् बन्धस्य तन्निवर्हणमुक्तलक्षणज्ञानादेव। तदुत्पत्तिश्च अहरहरनुष्ठीयमान-परमपुरुषाराधन-वेषात्मयाथात्म्यबुद्धिविशेष संस्कृत वर्णाश्रमोचित कर्म्मलभ्या। तत्र केवल कर्म्मणामल्पास्थिर फलत्वम्, अनभिसंहितफल परम पुरुषाराधनवेषाणां कर्म्मणामुपासनात्मक-ज्ञानोत्पत्ति द्वारेण ब्रह्मयाथात्म्यानुभवरूपानन्तस्थिरफलत्वञ्च कर्म्मस्वरूपज्ञानाद् ऋते न ज्ञायते। केवलाकार परित्याग पूर्वक-यथोक्तस्वरूप कर्म्मोपादानञ्च न सम्भवतीति कर्म्म विचारानन्तरं तत एव हेतोर्ब्रह्मविचारः कर्तव्य इति 'अथातः' इत्युक्तम्॥११८

और जो, ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व ज्ञान ही से अविद्या-निवृत्ति की युक्ति कही गयी सो भी, वस्तुतः युक्ति युक्त नहीं है, कारण-बन्धन जब परमार्थिक-मिथ्या नहीं, तब तो, ऐसे ज्ञान मात्र से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। और, वस्तविक ही, पाप पुण्य मय कर्म बश, जो देवादि शरीरों में प्रवेश तथा उसी के फल से जो, सुख दुःखानुभूति रूप बन्धन सो, मिथ्या-रूप उसको कैसे कही जायगी ? प्रकृत पक्ष में, ऐसी बन्ध-निवृत्ति, मात्र भगवंदाश्रयग्रहण तथा भक्तिपूर्ण उपासना से परितुष्ट-भगवान के अनुग्रह से ही हो सकती है, यह

बात पहिले ही कही गयी है। और, आप (शंकर) के अभिमत एकत्व ज्ञान, जब, अनुभव सिद्ध द्वैतावस्था के वैपरित्य ग्राहक, मिथ्या या असत्य; तब तो, बन्ध निवृत्ति के बदले में विशेष रूप से बन्ध वृद्धि ही हो सकती। क्यों कि शास्त्र में है-'एक वस्तु कभी अपर वस्तुत्व-लाभ नहीं कर सकता।' अतएव, जीव की जो ब्रह्मभावोक्ति सो भी मिथ्या-सत्य नहीं। विशेषतः 'उत्तम पुरुष (जीव से) पृथक्।' 'पृथक् तथा जगत् नियन्ता आत्मा को मनन करके-।' इत्यादि शास्त्रों में, जीवात्मा से भिन्न जातीय तथा उसी का अन्तर्यामी ब्रह्म विषयक ज्ञान को परम पुरुषार्थ-मोक्ष के साधन करके उल्लेख (उपदेश) किये गये हैं।

अपिच, आपके अभिमत जो अज्ञान निवर्तक ज्ञान-(एकत्व ज्ञान), अगर सत्य करके कहा जाय, तो,-सो भी मिथ्या (क्यों कि, बुद्धि विज्ञान मात्र ही जब असत्य), तब फिर, वह निवर्त्तक ज्ञान की निवृत्ति के लिये जो उपायान्तर के अनुसन्धान, सो अवश्यकर्तव्य (नहीं तो वह मिथ्या ज्ञान रह ही जायगा-और उसके रहते हुये मुक्ति कैसे होगी ?) यदि कहा जाय कि, अज्ञान निवर्त्तक यह अभेद ज्ञान, क्षणिक होने के कारण से, स्व-विरोधी समस्त भेद राशि को निवारण करके स्वयं भी विनष्ट हो जाता है (उसके निवारण के लिये फिर उपायान्तर के आवश्यक नहीं होता है।) नहीं यह बात असङ्गत है। क्यों कि, उस निवर्त्तक ज्ञान के स्वरूप, उत्पत्ति और विनाश-यह सभी, जब (आपके मत में) काल्पनिक, तब तो निश्चय-ही उस ज्ञान-विनाश के निमित्त तथा तत् कल्पक अविद्या समुच्छेद के लिये, अपर कोइ निवर्तक पदार्थ के अन्वेषण आवश्यक। पुनः यदि कहिये कि, उक्त अविद्या का विनाश ब्रह्म-स्वरूप ही है (उनसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं) तब तो अविद्या निवर्तक ज्ञान की, आदौ, उत्पत्ति ही हो नही सकती, क्योंकि नित्य ब्रह्म रूपी विनाश वर्तमान रहते हुये, तन्निवर्तक ज्ञान की उत्पत्ति सो सम्भव पर नहीं।

और एक बात-चिन्मात्र ब्रह्म भिन्न निखिल पदार्थों के निषेध-विधायक यो ज्ञान होता है, उसके ज्ञाता कौन है ?-अर्थात् उसकी अनुभव--कर्ता कौन है ? यदि, बुद्धि अथवा अविद्या में चैतन्य का अध्यास को ज्ञाता रूप कहा जाय, तो सो असम्भव है, कारण यह है कि, वही जब निषेध्य या प्रत्याख्यान के विषय तब तो, वह, उस निवर्तक ज्ञान के कर्म के सिवाय, कर्ता नहीं हो सकते। और, जो तो, ब्रह्म-स्वरूप को ही ज्ञान--कर्ता करके स्वीकार किया जाय, तो, उसमें जिज्ञास्य यह है कि, अविद्या--निवर्तक--ज्ञान के सम्बन्ध

में ब्रह्म के जो ज्ञातृत्व, सो क्या उनके स्वरूप अथवा अध्यस्त-रूप ?-(अविद्या-कल्पिती)। जो तो, अध्यस्त हो तब तो यह अध्यास तथा अध्यास के मूलकारण रूप जो, और भी एक अविद्या है सो जब उक्त अविद्या-निवारक ज्ञान के विषयीभूत नहीं है तब तो, वह निवारक ज्ञान समुत्पन्न होने से भी उस अध्यास तथा उसके मूल कारण जो अविद्या सो अक्षुण्ण ही रह जायगी। और, जो तो तत निवारणार्थ और एक निवर्तक ज्ञान की सत्ता को अंगीकार किया जाय, तब भी उस ज्ञान को, ज्ञाता, ज्ञान अथवा ज्ञेय इन तीनों के अन्तभुक्त करना पड़ेगा, सुतरां, उसके ज्ञाता के बारे में प्रश्नोत्तर के साथ अनवस्था दोष आय पड़ेगा। और, ब्रह्म स्वरूप को ही ज्ञाता रूप मानने से तो, हम सबके मत ही में आना पड़ा। ब्रह्म को अविद्या निवर्तक ज्ञान स्वरूप तथा तद्विज्ञाता करके स्वीकार करके, उसी को फिर, पृथक भाव में स्वनिवार्य पदार्थ के अन्तर्गत कहना,-सो ठीक 'भूतल व्यतिरिक्त बाकी समस्त ही देवदत्त ने च्छेदन किये हैं'-इस वाक्योक्त एक ही च्छेदन क्रिया में, एक देवदत्त ही के कर्तृत्व तथा च्छेद्यत्व कथन के न्याय उपहास जनक। प्रकृत पक्ष में, एक ही अध्यस्त वस्तु ज्ञाता भी हो तथा स्वयं ही स्वीय समुच्छेदक भी हो-सो कब भी नहीं हो सकता है। क्यों कि आत्म विनाश किसी का अभीष्ट याने पुरुषार्थ रूप नहीं हो सकता। और, उसी अध्यस्त रूप के विनाशक को ब्रह्म स्वरूप-मानने से भी, जागतिक भेद तथा भेद प्रतीति और उनके मूली भूत अविद्या आदि पदार्थों की कल्पना ही नहीं हो सकती। ख़ैर--अब मरे को मारना फजूल है॥ ११७ ॥

अतएव समझना चाहिये--बन्धन जब, अनादि काल-प्रवृत्त कर्म प्रवाह प्रसूत तब तो, पूर्व कथित ज्ञान ही उसके मात्र-निवारक तथा प्रति दिन परम पुरुष भगवान के आराधना से आत्म विषय में यथायत समुत्पन्न बुद्धि से परिशोधित स्वस्व वर्णाश्रमोचित कर्म से ही ज्ञान-लाभ होता है। कर्म के प्रकृत स्वरूप-परिग्रह के विना नहीं जाना जा सकता है कि, फल वासना-रहित, परम पुरुष भगवान के आराधनात्मक कर्म समूह, सो उपासना मय ज्ञान समुत्पादन पूर्वक ब्रह्म-याथार्थ्यानुभूति-स्वरूप अनन्त तथा स्थिर--अविनश्वर फल को समुत्पादन करता है। क्यों कि, प्रथम ही ज्ञान रहित मात्र कर्मों के अनुष्ठान, सो नहीं हो सकेगा। इसी से, धर्म-कर्म विचार के अनन्तर ब्रह्म विचार करना चाहिये। इसी अभिप्राय से सूत्र में 'अथ' तथा 'अतः' शब्दों के प्रयोग होते भये॥ ११८ ॥

अथ सूत्रार्थ योजनारम्भः

तत्र पूर्व्वपक्षवादीमन्यते, वृद्धव्यवहारादन्यत्र शब्दस्य बोधकत्व शक्त्यवधारणासम्भवात्, व्यवहारस्य च कार्य्य बुद्धि पूर्व्वकत्वेन कार्य्यार्थ एव शब्दस्य प्रामाण्यमिति कार्य्यरूप एववेदार्थः । अतो वेदान्ताः परिनिष्पन्ने परे ब्रह्मणि न प्रमाणभावमनुभवितुमर्हन्ति ।

न च, पुत्रजन्मादिसिद्धवस्तु विषय वाक्येषु हर्षहेतूनां कालत्रयवर्त्तिनामर्थानामानन्त्यात सुलभ-सुखप्रसवादि हर्ष हेत्वर्थान्तरोपनिपात-सम्भावनया च प्रियार्थ प्रतिपत्तिनिमित्त-मुखविकाशादिलिंगेनार्थ विशेषबुद्धिहेतुत्वनिश्चयः; नापिव्युत्पन्नेतरपद-विभक्त्यर्थस्य पदान्तरार्थनिश्चयेन वा प्रकृत्यर्थ निश्चयेन वा शब्दस्य सिद्धिवस्त्वाभिधानशक्तिनिश्चयः; ज्ञात कार्य्याभिधायि-पदसमुदायस्य तदंशविशेष निश्चतरूपत्वात् तस्य ।

न च, सर्पाद्भीतस्य 'नायं सर्प रज्जुरेषा' इति शब्दश्रवणसमनन्तरं भय निवृत्ति दर्शनेन सर्पाभाववुधि हेतुत्व निश्चयः । अत्रापि निश्चेष्टं निर्व्विषम् अचेतनमिदं वस्त्वित्याद्यर्थवोधेषु वहुषु भयनिवृत्ति हेतुषु सत्सु विशेष निश्चयायोगात् । कार्य्य वुद्धि-प्रवृत्ति-व्याप्तिवलेन शब्दस्य प्रवर्त्तकार्थाववोधित्वमवगतमिति सर्व्वपदानां कार्य्यपरत्वेन सर्व्वैः पदैः कार्य्यस्यैव विशिष्टस्य प्रतिपादनात् कार्य्यान्वित-स्वार्थ मात्रे पदशक्ति निश्चयः। इष्ट-साधनताबुद्धिस्तु कार्य्यवुद्धिद्वारेणप्रवृत्ति हेतुर्नस्वरूपेण, अतीतानागत वर्त्त मानेष्टोपाय वुद्धिषु प्रवृत्यनुपलब्धेः । 'इष्टोपायोहि मत् प्रयत्नाद् ऋते न सिध्यति, अतो मत् कृतिसाध्यः' इति वुद्धिर्य्यावत् न जायते, तावन्नप्रर्वते । अतः कार्य्य वुद्धिरेव प्रवृत्ति हेतुरिति प्रवर्त्तकस्यैव शब्दवाच्यतया-कार्य्यस्यैव वेद वेद्यत्वात् परिनिष्पन्नरूप ब्रह्मप्राप्ति लक्षणानन्तस्थिरफलाप्रतिपत्ते:, 'अक्षय्यंहवैचातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ।' आपस्तम्ब-श्रौत-सूत्र-२-१-१- इत्यादिभिः कर्म्मणामेव स्थिरफलत्व प्रतिपादनाच्च कर्म्मफलाल्पास्थिरत्व-ब्रह्मज्ञानफलानन्तस्थिरत्व-ज्ञानहेतुको ब्रह्मविद्यारारम्भो न युक्त इति ।। ११६ ।।

इस विषय पर, पूर्वपक्ष वादी (जैमिनि मत वाले) मानते हैं कि, जो कि, वृद्ध व्यवहार व्यतीत, कभी भी कोई शब्द की अर्थ बोधन शक्ति को अवधारणा नहीं की जा सकती और वह वृद्ध व्यवहार भी, जब कार्य्य बुद्धि–दर्शन के विना, सम्पन्न नहीं हो सकता; अतएव, मात्र कार्य रूप अर्थ हीं में -क्रिया प्रतिपादन ही में शब्दों के प्रामाण्य; -वस्तु मात्र बोधनमें प्रामाण्य नहीं है। सुतरां, क्रिया यज्ञादि कर्मानुष्ठान को प्रतिपादन करना ही वेद के मुख्य अर्थ–सो मानना चाहिये। अतएव, परिनिष्पन्न–स्वतः सिद्ध परब्रह्म प्रतिपादक वेदान्त वाक्य समूह, कब भी प्रामाण्य--लाभ नहीं कर सकते।

और यह भी कह नहीं सकते कि, पूर्व-निष्पन्न--पुत्र–जन्मादि बोधक वाक्य, जब, श्रोता के हर्षोत्पादक होता है; तब, ब्रह्म–बोधक 'वेदान्त' के प्रामाण्य में क्या बाध है ? (क्यों कि) बाधा यह है कि-वहाँ भी पूर्व निष्पन्न पुत्र जन्म ही, जो, हर्षोत्पत्ति के कारण सो नहीं; परन्तु भूत भविष्यति तथा वर्तमान काल वर्ती, हर्षोत्पादक अनन्त, या, असंख्य कारणों में से, शुभलग्न, सुख प्रसव तथा, अपरापर नानान सुख--कर विषयों के सम्भावना वश, और, प्रिय-संघटन--सूचक वक्ता का मुख-प्रसन्नतादिकों के दर्शन से निश्चय, याने अवधारण, किया जाता है कि, तात्कालिक प्रतीति विशेष ही उस प्रकार हर्ष–सम्पादन में हेतु। और, जो सब शब्द अव्युत्पन्न--अर्थात् यौगिकार्थ रहित, उन सब शब्द--गत विभक्ति के अर्थ को समझाने में, सन्निहित पदान्तर के अर्थ·निश्चय किम्वा प्रकृति के (विभक्ति युक्त शब्दों के) अर्थ-निश्चय से निर्णित होता है–उसी निमित्त से, जो, शब्दों की सिद्ध वस्तु-बोधन में, शक्ति को अवधारण किया जा सकता है, सो नहीं; क्यों कि, वहाँ पर प्रसिद्ध कार्य्य–बोधक, जो, समस्त पद सोइ, स्वीय अंश विशेष का (विभक्ति का) अर्थ–निश्चय को कर देता है; (सुतरां, इसमें भी अक्रिया बोधक पदोंके प्रामाण्य नहीं सिद्ध हो सकता)

और, सर्प–भीत व्यक्ति का, जो–'यह सर्प नहीं है-रज्जु है'–इस वाक्य को श्रवण के बाद ही भय–निवृत्ति होते देखा जाता है, सो उसमें भी सर्प–भाव बुद्धि ही भय निवृत्ति के हेतु नहीं है। क्यों कि, वहाँ भी 'यह क्रिया–हीन, निर्विष, अचेतन--जड़ मात्र' इत्यादि बहु विध प्रतीति रूप कारणों के होते हुये में से, भय–निवृत्ति में प्रकृति हेतु कौन है सो निरूपण करना असम्भव है। और, शब्द मात्र ही के जब प्रवृत्ति-बोधक रूप से अर्थ बोध-

अत्राभिधीयते, निखिललोक विदित-शब्दार्थ सम्बन्धावधारण प्रकारमप-
नुद्य सर्व्वशब्दानाम् अलौकिकैकार्थावबोधित्वावधारणं प्रामाणिका न बहु मन्यन्ते।

कता अवधारित है, तब तो कार्य्य विषयक-ज्ञान तथा कार्य विषयक--प्रवृत्ति वटित जो अर्थ-वाचकता--नियम तदनुसार ही समझा जाता है कि समस्त शब्द ही कार्य--पर और समस्त पद ही विशेष--विशेष कार्य--प्रतिपादक। अतएव, क्रिया सम्बद्ध अर्थ--प्रतिपादन ही में समस्त शब्दों की शक्ति--(सामर्थ्य) निश्चित हो रही है। —(क्रिया-सम्बन्ध-विहीन अर्थ वाचन में कोई भी पद की शक्ति नहीं ठहर सकता)। और, इष्ट--साधनता ज्ञान जो प्रवृत्ति के कारण होता है सो भी साक्षात् सम्बन्ध में नहीं--परन्तु क्रिया-बद्धि से होता है। अर्थात् यह हमारे इष्ट-अभिप्रेतार्थ साधन में समर्थ, इस विधि से, जहां कोई भी क्रिया--याने कार्या नुष्ठान की प्रतीति रहती है, तहाँ ही पर लोगों की प्रवृत्ति उपज सकती है न चेत्, केवल इष्ट साधनता--ज्ञान मात्र ही प्रवृत्ति (को) ला नहीं सकती। इसी से, अतीत अनागत तथा वर्तमान (के) जितने इष्ट साधनायें हैं, तद्विषयक ज्ञान के होते हुये भी, प्रवृत्ति में अभाव देखा जाता है। सो, उसमें कारण यह है--'यह अभीष्ट सिद्धि का उपाय, सो हमारे बिना सिद्ध नहीं हो सकता--यह मेरा ही यत्न साध्य, अतएव, इस (विशेष) विषय पर हमारा प्रयत्न प्रयुज्य'--जब तक, ऐसे ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, तब तक, कोई भी उस विषय विषे प्रवृत्त नहिये होता। सुतरां, कर्तव्य बुद्धि ही लोगों की प्रवृत्ति--या--चेष्टा के मात्र कारण। अतएव, लोक--प्रवृत्ति के हेतु भूत अर्थ ही जब, शब्दों के प्रकृत वाच्यार्थ, तब तो वेद के पक्ष में भी (प्रवृत्ति हेतु) वही कार्य ही मात्र प्रतिपाद्य विषय होना चाहिये--हो सकता है। (सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन, उसके विषय नहीं हो सकता। तभी कहना--भी चाहिये कि, स्वत: सिद्ध ब्रह्म--प्राप्ति रूप अनन्त तथा नित्य फल लाभ कब भी, केवल प्रतीति या, ज्ञान द्वारा सिद्ध हो नहीं सकता। विशेषत: 'जिन्हों ने चतुर्मास्य'--नामक यज्ञ करते हैं, उनको अक्षय पुण्य लाभ होता है।'--इत्यादिक श्रुति वाक्य से, कर्म के ही चिर-स्थायी--फल सम्पादन में सामर्थ्य प्रतिपादित भया है। अतएव, कर्म फल का अल्पत्व तथा अस्थिरत्व तथा ब्रह्म ज्ञान फल के अनन्तत्व और नित्यत्व को प्रतिपादनार्थ ब्रह्म विचार के लिये--ब्रह्म विचारात्मक इस (वेदान्त) शास्त्र के--आरम्भ युक्ति सिद्ध नहीं है। ११६॥

एवं किल वालाः शब्दार्थ सम्बन्धमवधारयन्ति, माता पितृप्रभृतिभिः अम्बातातमातुलादीन् शशि-पशु-नर-मृग-पक्षि-सर्पादींश्च 'एनमवेहि, इमं च अवधारय' इत्यभिप्रायेणांगुल्या निर्दिश्यतैस्तैः शब्दैस्तेषुतेषु अर्थेषु बहुशः शिक्षिताः शनैः शनैस्तैस्तैरेव शब्दैः तेषु तेषु अर्थेषु स्वात्मना बुद्ध्युत्पत्तिं दृष्ट्वा शब्दार्थयोः सम्बन्धान्तरादर्शनात् संकेतयितृपुरुषाज्ञानाच्च तेस्वर्थेषु तेषां शब्दानांप्रयोगोबोधकत्व निबन्धन इति निश्चिन्वन्ति। पुनश्च व्युत्पन्नेतर शब्देषु 'अस्य शब्दस्यायमर्थः'इति पूर्व्व वृद्धैः शिक्षिताः सर्व्व शब्दानामर्थमवगम्य परप्रत्यायनाय तत्तदर्थावबोधि-वाक्यजातं प्रयुञ्जते।

प्रकारान्तरेणापि शब्दार्थो सम्बन्धावधारणं सुशकम्-केनचित् पुरुषेण हस्तचेष्टादिना 'पितातै सुखमास्ते' इति देवदत्ताय ज्ञापय' इति प्रेषितः कश्चित् तज्ज्ञापने प्रवृत्तः 'पितातै सुखमास्ते' इति शब्दं प्रयुङ्क्ते। पार्श्वस्थोऽन्योव्युत्पित्सुर्मूकवच्चेष्टा विशेषज्ञः तज्ज्ञापने प्रवृत्तमिमंज्ञात्वानुगतः तज्ज्ञापनाय प्रयुक्तमिमं शब्दं श्रुत्वा 'अयं शब्दस्तदर्थबुद्धिहेतुः' इति निश्चिनोति, इति कार्य्यार्थ एव व्युत्पत्तिरिति निर्बन्धो निर्निबन्धनः। अतोवेदान्ताः परिनिष्पन्नं परं ब्रह्म, तदुपासन श्चापरिमितफलं बोधयन्तीति तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारः कर्त्तव्यः। कार्य्यार्थत्वेऽपि वेदस्य ब्रह्म विचारः कर्त्तव्य एव। कथम्? 'आत्मावा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' बृहदा:-४-४-५। 'सोऽन्वेष्टव्यः, सविजिज्ञासितव्यः' छान्दो-८-७-१। 'विज्ञाय प्रज्ञांकुर्वीत'-बृहदा-६-४-२१। 'दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्, तद्वावविजिज्ञासितव्यम्' छान्दो-८।१।१। 'तत्रापि दहरं गगनं विशोकः, तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्' तैत्ति० नारायण १०।२३। इत्यादिभिः प्रतिपन्नोपासन विषय कार्य्याधिकृतफलत्वेन 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' तैत्तिः आन, १-१। इत्यादिभिर्ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयत इति ब्रह्मस्वरूप-तद्विशेषणानां-दुःखासम्भिन्नदेश विशेष रूप स्वर्गादिवत्, रात्रिसत्रप्रतिष्ठादिवत् अपगोरण-शतयातना-साध्यसाधनभाववच्चकार्य्योपयोगितयैवसिद्धेः।

'गमनीय' इत्यादिष्वपि, वाक्येषु न कार्य्यार्थेव्युत्पत्तिः; भवदभिमतकार्य्यस्य

दुर्निरूपत्वात्। कृतिंभावभावि कृत्युद्देश्यं हिभवत: कार्य्यम्। कृत्युद्देश्यत्वं च कृति-कर्म्मत्वम्। कृतिकर्म्मत्वञ्च कृत्याप्राप्तुमिष्टतमत्वम्। इष्टतमञ्च सुखम् वर्त्तमान दु:खनिवृत्तिर्वा तत्रेष्टसुखार्थिनापुरुषेण स्वप्रयत्नाद् ऋते यदितदसिद्धि: प्रतीता, तत: प्रयत्नेच्छु: प्रवर्त्तते पुरुष:, इति न कचिदपि इच्छा विषयस्य कृत्यधीन सिद्धित्वमन्तरेण कृत्युद्देश्यत्वं नाम किञ्चिदप्युपलभ्यते; इच्छाविषयस्यप्रेरकत्वञ्च प्रयत्नाधीनसिद्धित्वमेव तत एव प्रवृत्ते:। न च पुरुषानुकूलत्वं कृतिउद्देश्यत्वम्' यत: सुखमेवपुरुषानुकूलम्। न च, दु:खनिवृत्ते: पुरुषानुकूलत्वम्। पुरुषानुकूलं सुखं, तत्प्रतिकूलं दु:खमिति सुखदु:खयो: स्वरूपविवेक:। दु:खस्य प्रतिकूलतया तन्निवृत्तिरिष्टा भवति, नानुकूलतया। अनुकूल-प्रतिकूलान्वय विरहे स्वरूपेणा वस्थितिर्हि दु:खनिवृत्ति:। अत: सुखव्यतिरिक्तस्य क्रियादेरनुकूलत्वं न सम्भवति। न च, सुखार्थतया तस्याप्यनुकूलत्वं दु:खात्मकत्वात् तस्य। सुखार्थतयापि तदुपादानेच्छामात्रमेवभवति। न च, कृतिं प्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वम्; भवत्पक्षे शेषित्वस्यानिरूपणात्। न च, परोद्देशप्रवृत्त-कृतिव्याप्त्यर्हत्वं शेषत्वमिति तत्प्रतिसम्बन्धी शेषीत्यव गम्यते; तथासति कृतेरशेषत्वेन तां प्रति तत् साध्यत्वस्य शेषित्वाभावात्। न च, परोद्देश-प्रवृत्त्यर्हतायाः शेषत्वेन पर: शेषी; उद्देश्यत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात, प्रधानस्यापि भृत्योद्देशप्रवृत्त्यर्हत्वदर्शनाच्च। प्रधानस्तु भृत्यपोषेऽपि स्वोद्देशेन प्रवर्त्तत इति चेत्; न, भृत्योऽपि हि प्रधानपोषे स्वोद्देशेनैव प्रवर्त्तते। कार्य्यस्वरूपस्यैवानिरूपणात् कार्य्यं प्रतिसंबन्धी शेष:', 'तत् प्रतिसम्बन्धी शेषी' इत्यप्यसंगतम्।

नापि कृति प्रयोजनत्वं कृत्युद्देश्यत्वम्; पुरुषस्य कृत्यारम्भ प्रयोजनमेवहि-कृतिप्रयोजनम्, सचेच्छाविषय: तस्मादिष्टत्वातिरेकिकृत्युद्देश्यत्वानिरूपणात् कृति-साध्यता कृतिप्रधानत्व रूपं कार्य्यं दुर्निरूपमेव ॥ १२० ॥

ब्रह्मविचार की आवश्यकता प्रतिपादन

इसके उत्तर में कहा जाता है—सर्व साधारण में शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध (वाच्य वाचक भाव) अवधारण के लिये जो प्रणाली परिज्ञात है; सर्वजन विदित वही प्रणाली

परित्याग पूर्वक समस्त शब्द ही के जो एक अलौकिक-अर्थ को अवधारण प्राप्ति रूप फल ही के उल्लेख है, किन्तु उनके स्वरूप तथा तद्गत विशेषण या गुण किम्वा विभूति विशेष के उल्लेख नहीं है-(सो सत्य ही है तथापि-) दुःख-सम्पर्क शून्य स्थान विशेष-यों कहने से, मानों, स्वर्गादिक फल ही की सिद्धि हो रही है, 'रात्रि-सत्र' याग से, जैसे प्रतिष्ठा या यश कामना की सिद्धि होती है, और, अपगोरण-अर्थात् ब्राह्मण को प्रहार करने के निषेधक वाक्य में, जैसे, आवश्यक मत सत यातना (दण्ड) तथा अपगोरण के साध्य-साधन भाव को स्वीकार करना पड़ता है; इसमें भी वैसे ही, कार्य-विशेष में फल-विशेष को होना आवश्यक है। इसी कारण से, उपासना कार्य के उपयुक्त करके ही (जानि के ही) उपासना के फल-स्वरूप 'ब्रह्म के स्वरूप' तथा तद्गत-गुण महिमादि विशेषण समूहों के अस्तित्व सिद्ध होता है-अर्थात् उनके सम्बन्ध को मान लेना चाहिये।

और, 'गाम् आनय'-'गो लावो'-इत्यादि वाक्यों में भी क्रिया-प्रतिपादन ही में शब्दों के शक्ती निरूपित नहीं होती, क्यों कि, वहाँ पर आपके अभिप्रेत-कार्य-पदार्थ, सो किस प्रकार, सो सहज में निरूपण नहीं किया जा सकता। क्यों कि, पुरुष चेष्टा के सद्भावमें जिनके सद्भाव तथा पुरुष-चेष्टा के जो उद्देश्य सोई आपके अभिप्रेत कार्य्य पदार्थ। चेष्टा (कृति) के उद्देश्य अर्थ, चेष्टा का कर्म या विषय, चेष्टा का कर्म अर्थ-चेष्टा से जो (जिसको) विशेष रूप में पाने के लिये अभिलषित, याने, इष्टतम। सुख अथवा उपस्थित दुःख-निवृत्ति ही प्रधानतः इष्ट-तम पदार्थ, उसमें भी फिर सुखाभिलाषी पुरुष, यदि, समझें कि हमारा प्रयत्न-व्यतीत सुख-लाभ नहीं हो सकता, तभी, प्रयत्न में भी उनकी प्रवृत्ति होती है। अतएव, इच्छा के विषयीभूत पदार्थ को प्रयत्नाधीन सिद्ध न होते हुए में कुत्रापि प्रयत्न की इच्छा नहीं देखी जाती है। 'यह अभीष्ट-विषय हमारा प्रयत्नाधीन'-इस प्रकार (के) ज्ञान के बाद जब प्रवृत्ति होती है, तब अभीष्ट विषय को, जो, प्रवर्तक कहा जाता है, सो, उसके अर्थ भी प्रयत्नाधीन-सिद्धि से भिन्न कुछ भी नहीं। और, सुख ही जब पुरुष के लिये मात्र अनुकूल-प्रिय विषय, तब तो, कृति के उद्देश्य को (चेष्टाके विषयको) पुरुष के अनुकूल नहीं कहा जा सकता है। और, दुःख की निवृत्ति भी पुरुष के अनुकूल नहीं है; क्यों कि, जो पुरुष के अनुकूल सोइ सुख, और जो प्रतिकूल वही दुःख रूप। सुख

तथा दुःख के स्वरूप-गत प्रभेद इतना ही मात्र है। प्रतिकूल होने के कारण से ही उसकी निवृत्ति भी सब के अभिप्रेत--होती है-अनुकूल करके नहीं। पुरुष के जो अनुकूल तथा प्रतिकूल तथा प्रतिकूल सम्बन्ध-शून्य रूप में स्वरूपावस्थान उसी की नाम दुःख-निवृत्ति। इसी से, सुखातिरिक्त क्रिया प्रभृति धर्म के अनुकूलता कभी भी सम्भव-पर नहीं होती। और, यों भी कह नहीं सकते-(कि) 'क्रिया जब सुख ही के साधन रूप, तब तो वह भी अनुकूल होना चाहिये।' कारण,-क्रिया सो सहज में दुःख कर-केवल सुख की इच्छा से ही उस क्रियानुष्ठान में भी इच्छा होती।

और, कृतिशेष या, क्रियांग को भी कृति के उद्देश्यय नहीं कहा जा सकता। क्यों कि, आपके मत में शेषित्व जो पदार्थ सो दुर्निरूपणीय। क्यों कि, ऊपर फल के उद्देश्य में आरब्ध कृति या प्रयत्न के व्याप्ति-योग्य अथवा अनुगत विषय को 'शेष' कहने में जो तत् सम्पर्कित विषय सो शेषीहोगी-ऐसा तो नहीं समझा जाता है। कारण,-कृति या प्रयत्न स्वयं ही जब 'शेष'नहीं हो सका,तब, तत् साध्य-विषय, सो तो, किसी तरह से उसकी 'शेषी'-रूप में परिगणित नहीं होगा। और, परोद्देश्य में प्रवृत्ति के योग्य को शेष' कहने से ही जो 'पर' सो शेषी होगी, सो भी नहीं, कारण-उस लक्षणानुसार 'पर' जो वस्तु सो उसके उद्देश्यत्व मात्र ही निरूपित हो सकता--(सुतरां 'पर' को फिर शेषी नहीं कहा जा सकता।) विशेषतः, भृत्य के निमित्त प्रधान को भी, प्रवृत्त होने में योग्यता है (रहती है)। (प्रधान को भृत्य के 'शेष' अधीन नहीं कहा जा सकता) यदि, कहिये कि 'प्रधान' भी जब, भृत्य के परिपोषण में प्रवृत्त होते हैं? सो, उसमें भी उद्देश्य अपना ही होता है? नहीं—तबतो, भृत्य भी अपना उपकार के लिये ही, प्रभु- सेवा में प्रवृत्त होता है? अतएव, प्रधान-भूत कार्य्य ही के, जब, स्वरूप-निरूपण करना असम्भव, तब तो, कार्य के प्रतिसम्बन्धी शेष तथा उसके प्रति सम्बन्धी 'शेषी'-- इस प्रकार के जो निर्देश सो भी असंगत।

और, जो कृति या प्रयत्न के यो प्रयोजन--उद्देश्य, सोई कृत्योद्देश्य'-यह भी अवाच्य है। क्यों कि, पुरुष के कार्य्यारम्भ में जो प्रयोजन, सो तो पुरुष के इच्छा--विषय के सिवाय कुछ भी नहीं,-अतएव, इष्टत्व--भिन्न-'कृत्युद्देश्यत्व', सो निरूपण नहीं किया जा सकता, अतएव कृति-साध्य को भी कार्य-रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता। १२०॥

नियोगस्यापि साक्षादिच्छा विषयभूत सुख दुःख निवृत्तिभ्यामन्यत्वात् तत् साधनतयैवेष्टत्वं कृतिसाध्यत्वञ्च । अत एवहि तस्य क्रियातिरिक्तता; अन्यथाक्रियैव कार्य्यं स्यात् । स्वर्गकामपद-समभिव्याहारानुगुण्येनलिङ्आदि वाच्यं कार्य्यं स्वर्गसाधन मेवेतिक्षणभंगि-कर्मातिरेकि स्थिरं स्वर्गसाधनमपूर्व्वमेव कार्य्यमिति स्वर्गसाधनतोल्लेखेनैव ह्यपूर्व्वं व्युत्पत्ति' । अतः प्रथममनन्यार्थतया प्रतिपन्नस्य कार्य्यस्यानन्यार्थत्वनिर्वहणायापूर्व्वमेवपश्चात् स्वर्गसाधनं भवतीत्युपहास्यम्; स्वर्गकामपदान्वितकार्य्याभिधायिपदेन प्रथममप्यनन्यार्थतानभिधानात्; सुख दुःख निवृत्ति तत् साधनेभ्योऽन्यस्यानन्यार्थस्य कृतिसाध्यताप्रतीत्यनुपपत्तेश्च ।

अपिच, किमिदं नियोगस्य प्रयोजनत्वम् ? सुखवत् नियोगस्याप्यनुकूलत्व मेवेति चेत् ; किं नियोगः सुखं ? सुखमेवह्यनुकूलम् । सुखविशेषवत् नियोगपरपर्य्यायं विलक्षणं सुखान्तरमिति चेत्, किं तत्र प्रमाणमिति वक्तव्यम् । स्वानुभवश्चेत् ; न; विषयविशेषानुभवसुखवत् 'नियोगानुभवसुखमिदम्' इति भवतापिनानुभूयते । शास्त्रेण नियोगस्य पुरुषार्थतयाप्रतिपादनात् पश्चात् तु भोक्ष्यत इति चेत्; किं तन्नियोगस्य पुरुषार्थत्ववाचि शास्त्रम् ? न तावत् लौकिकं वाक्यम् ; तस्य दुःखात्मक क्रियाविषयत्वात्, तेन सुखादि साधन तयैव कृतिसाध्यतामात्र प्रतिपादनात् । नापि नित्यनैमित्तिक शास्त्रम्; तस्यापि तदभिधायित्वं स्वर्गकाम वाक्यस्थापूर्व्वव्युत्पत्तिपूर्व्वकमित्युक्तरीत्या तेनापि सुखादि साधनभूत-कार्य्याभिधानमवर्ज्जनीयम । नियतैहिकफलस्य कर्म्मणोऽनुष्ठितस्य फलत्वेन तदानीमनुभूयमानान्नाद्यारोगतादिव्यतिरेकेण नियोगरूपसुखानुभवानुपलब्धेश्च नियोगः 'सुखम्' इत्यत्र न किञ्चन प्रमाणमुपलभामहे ।

अर्थवादादिष्वपि स्वर्गादिसुख-प्रकारकीर्त्तनवत् नियोगरूपसुखप्रकार कीर्त्तनं भवतापि न दृष्टचरम् । अतो विधिवाक्येष्वपि धात्वर्थस्य कर्त्तृव्यापार साध्यता मात्रं शब्दानुशासनसिद्धमेव लिङादेर्वाच्यमित्यध्यवसीयते । धात्वर्थस्य यागादेरग्न्यादिदेवतान्तर्य्यामि-परम-पुरुष-समाराधन रूपता, समाराधितात् परमपुरुषात् फलसिद्धिश्चेति, 'फलमत उपपत्तेः' ब्र: सु:-३-२-३७ । इत्यत्र प्रतिपा-

दर्यिष्यते अतो वेदान्ताः परिनिष्पन्नं परं ब्रह्मबोधयन्तीति ब्रह्मोपासनफलानन्त्य स्थिरत्वञ्च सिद्धम्। चातुर्म्मास्यादिकर्म्मस्वपि केवलस्य कर्म्मणः क्षयिफलत्वोपदेशा-दक्षयफलश्रवणं 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्'-बृहदा ४। ३। ३। इत्यादिवदापेक्षिकं मन्तव्यम्।

अतः केवलानां कर्म्मणामल्पास्थिरफलत्वात्, ब्रह्मज्ञानस्यानन्तस्थिरफलत्वाच्च तन्निर्णयफलो ब्रह्मविचारारम्भो युक्तइति स्थितम्।

इति श्रीभाष्ये प्रथमं जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम्।

सुख तथा दुःख-निवृत्ति ही साक्षात् सम्बन्ध में इच्छा के विषय होता है, (विधि वाक्य-गत) नियोग, जब, उन सुख तथा दुःख-निवृत्ति से सम्पूर्ण पृथक्, तब, समझना चाहिये कि, सुख तथा दुःख-निवृत्ति के उपाय रूप जानि के ही नियोग-विषय में लोगों की इच्छा होती है, और कृति-साध्यत्व रूप समझता है। इसी से, क्रिया या व्यापार से, वह नियोग धर्म का पार्थक्य रचित होता है। नचेत, क्रिया, तथा कार्य (क्रिया फल) दोनों का एकत्व या अभेद हो सकता। स्वर्ग काम पद के साथ एक योग से अन्वय या सम्बन्ध-वश लिङ् प्रभृत्ति विभक्ति में जो, कार्य समझा जाता है, वही स्वर्ग-साधन रूप। इसी से समझना पड़ता है-क्षण-भंगुर जो यागादि कर्म, उसमें पृथक् तथा दीर्घ-काल स्थायी, स्वर्ग साधन अपूर्व (अदृष्ट-पुण्य-पाप) और कार्य एक ही पदार्थ, सुतरां स्वर्ग साधन रूप में ही अपूर्व शब्द की अर्थ-प्रतीति होती है। अतएव, अपूर्व तथा कार्य जब एक ही पदार्थ, तब तो, उभय के अभिन्नत्व-रक्षार्थ ही, प्रथम में अपूर्व रूप से प्रतीयमान पदार्थ ही पश्चात् (स्वर्गकाम पद के साथ सम्बन्ध के बाद) स्वर्ग-साधन रूप प्रतिपन्न होता है-यह जो सिद्धान्त सो नितान्त ही हास्यास्पद है। क्यों कि, 'स्वर्ग काम' पद के साथ सम्बन्ध कार्य बोधक जो पद सो प्रथम में अनन्यत्व तथा अभिन्नत्व-अर्थ को प्रतिपादन नहीं करता है, कारण-सुख, दुःख-निवृत्ति तथा तदुभय के साधन भिन्न 'अनन्यत्व'-अर्थ, कभी भी 'कृति साध्यता ज्ञान' से उपपन्न नहीं हो सकता।

अपिच, जिज्ञास्य यह है कि, विधि वाक्यस्थ नियोग को जो, प्रयोजन रूप कहा जाता है, सो उसका अभिप्राय क्या है? यदि कहिये कि, सुख के न्याय नियोग की भी

अनुकूलता ही प्रयोजनत्व। भला-सुख ही मात्र अनुकूल पदार्थ, क्या, 'नियोग' उसी का नामान्तर मात्र। अच्छी बात, किन्तु इसके प्रमाण भी कहना चाहिये। पुनः यदि कहिये कि, स्वीय अनुभव ही प्रमाण रूप। नहीं,- विषय विशेष के अनुभव में जैसी सुख की-प्रतीति होती है, वैसे ही, नियोगानुभव करना, सो उसका समादर, प्रमाणाभिज्ञों ने कभी नहीं कर संकेत हैं।

बालकों ने प्रथम प्रथम, शब्द तथा अर्थ सम्बन्ध को इस प्रकार से अवधारण करते हैं, -पिता माता प्रभृति स्वजनगण ने शिक्षा देने के लिये-'इसको जानो-मन में रक्खो'-इत्यादि कहिके, अंगुली-निर्देश से 'अम्बा', 'तात', 'मातुल' प्रभृति को तथा 'शशी', 'पशु', 'मृग', 'नर', 'पक्षी' और 'सर्प' आदिकों को (नाम) उनको शिखलाते हैं। अनन्तर, वे शिक्षित बालक गण, अपने आप क्रम से (रहते रहते), उन शब्दों के प्रयोग द्वारा, पूर्व निर्दिष्ट उन विषयों की प्रतीति से, मानने लगते है कि, उन विशेष विशेष शब्दों के, अपरापर अर्थों के साथ सम्बन्ध जब देख नहीं पड़ता, तथा अन्यार्थ की संकेत कारी भी जब नहीं देख पड़ता, तब तो, उन शब्दों के, निर्दिष्ट विषयों की ही प्रतीति में प्रयोग किये जाते हैं। पुनश्च, व्युत्पन्न-इतर शब्दों में भी 'इस शब्द का यही अर्थ'-इस प्रकार से पूर्व-वृद्ध-शिक्षित भाव में, सब शब्दों के अर्थ को जानि के, औरों के बोध निमित्त, अपने स्वयं भी भिन्न भिन्न अर्थ बोधक वाक्यों को प्रयोग करते हैं।

प्रकारान्तर से भी, शब्दों तथा अर्थों के सम्बन्ध को सहज में ग्रहण किया जा सकता है,-'तुम्हारा पिता सुखी हैं'-इस बात को तुम देवदत्त से कहना-हस्त संचालन के साथ ऐसा कह कर, एक ने और एक को भेजा। प्रेरित व्यक्ति (यथा स्थान पर पहुँच कर) कही 'तुम्हारा पिता सुखी हैं।' जो (आदमी) मूक वत्-संकेत मात्र को समझ सकता अथच शब्दार्थ को जाना चाहता है-ऐसा कोई एक व्यक्ति उस भेजे हुए को अनुगमन किया तथा उस बात को ज्ञापनार्थ पूर्व कथित शब्दों को प्रयोग करते सुनि के स्थिर किये कि, यही शब्द ही आदिष्ट अर्थ-बोध के कारण,। अतएव, 'कार्य-बोधक वाक्य में ही व्युत्पत्ति या शब्दार्थ सम्बन्ध का ग्रहण होना चाहिये'-इस रूप में जो आग्रहातिशय सो निष्कारण या अमूलक क्योंकि हस्त संकेत से भी शब्दार्थ-सम्बन्ध का ग्रहण होता है। अतएव, वेदान्त शास्त्र समूह भी स्वतः सिद्ध परब्रह्म तथा उनके उपासना और उसके अपरिमित फल को प्रतिपादन करने में

अवश्य ही समर्थ है-अर्थात् उस विषय में इस शास्त्र का अप्रमाण्य नहीं हो सकता, अतएव वेदान्तार्थ निर्णय के लिये ब्रह्म विचार सो अवश्यर्तव्य है।

और यदि वेद के कार्य परत्व ही को स्वीकार किया जाय, तब भी ब्रह्म विचार के आवश्यक एकान्त ही है। यदि कहिये कि, काहे को ? तो-उत्तर-'अरे, मैत्रेयि! आत्मा को दर्शन करना, श्रवण करना, मनन करना तथा निदिध्यासन करना।' 'उन्हीं—आत्मा को अनुसन्धान कराना, तथा उन्हीं को जानने की इच्छा करना।' 'उनको विशेष रूप से अवगत होकर तद्विषय में चिन्ता करना,' '(यह जो हृत्पद्म-रूप क्षुद्र गृह) इसके अभ्यन्तर में दहर आकाश है, उसके अभ्यन्तर में जो है उनको अन्वेषण करना और उसीको विशेष करके जानने को इच्छा करना।' 'वहां भी सर्व दुःख वर्जित दहर आकाश है, उसके अभ्यन्तर में जो है उनके उपासना करना'—इत्यादि श्रुति वाक्यों से जो उपासना विहित भयी, 'ब्रह्मवित् पुरुष पर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं'—इत्यादि श्रुतियों में फिर उसी उपासना कार्य्य ही के नियत फल स्वरूप—ब्रह्मप्राप्ति के उल्लेख परिश्रुत हो रहे हैं। (यद्यपि, उल्लिखित उपासना—विधायक वाक्यों में केवल ब्रह्म—में भी, 'यह नियोग सुख'-ऐसा अनुभव तो नहीं किया जाता। फिर कहिये कि, विधि शास्त्रमे, जब उसकी पुरुषार्थता की कर्तव्यता या व्यवस्था की गयी है, तब तो, उसकी सुखात्मकता को भी निश्चय समझना चाहिये। ठीक है वह नियोग की पुरुषार्थता के प्रमाण में शास्त्र क्या है? प्रथमतः-लौकिक वाक्य-सो (तद्बोधक) शास्त्र नहीं, क्योंकि मात्र दुःखबहुल क्रिया-प्रतिपादन ही उसके मात्र विषय; विशेषतः लौकिक वाक्य में केवल सुखसाधन रूप से ही उसकी कर्तव्यता प्रतिपादित-भयी है सुखात्मक रूप से नहीं) द्वितीयतः वैदिक-प्रमाण भी नहीं है। क्योंकि, उसके भी केवल स्वर्गसाधन रूप से कार्य का प्रतिपादन किया गया है-(याग जनित अपूर्व रूप)। और, नित्य नैमित्तिक क्रिया विधायक शास्त्र में भी, उसकी सुखात्मकता प्रतिपादित नहीं भयी है। कारण—'स्वर्गकामः यजेत' इत्यादि वाक्यों में जो, अपूर्व में-अदृष्ट पुण्यादिअर्थ में शक्ति कल्पना, तदनुसार ही, नित्य नैमित्तिक वाक्यों के उस प्रकार का अर्थ बोधकत्व कल्पित होता है, सुतरां, उसमें भी, जो कर्मानुष्ठान में सुखादि साधनतारूप में ही कार्य प्रतिपादन-सुख रूप नहीं-सो अस्वीकार

नहीं किया जाता-जिस कर्म का फल यहीं सुनिश्चित-उसका अनुष्ठान से तत् फल रूप में प्रतीयमान-भोगही अन्नादि के प्राचूर्य तथा निरोगतादिक फलों के सिवाय तत कालमें नियोग जनित स्वतन्त्र कोइ सुख की उपलब्धि भी नहीं होती। अतएव, विधि वाक्य स्थित नियोग ही, जो, सुख स्वरूप—यह अप्रमाणिक बात है।

और विधि को स्तुति पर—अर्थ वादादि वाक्यों में भी, स्वर्गादि सुख को विशेषण रूप में उल्लेख देखा जाता है, तद्रूप-नियोग सुख के विशेषण रूप से समुल्लेख तो भी, इतः पूर्व में कभी नहीं देखा गया है। अतएव 'यजेत' प्रभृति विधि वाक्यों में भी, शब्द शास्त्र के नियम-सिद्ध, जो 'यज' प्रभृति धातुवों का कर्तृ व्यापार साध्यता-यही अर्थ ही विधिगत लिङ् प्रभृति के वाच्यार्थ तद्व्यतिरिक्त कोई भी अर्थ नहीं है।—यही जानी जाती है। अग्नि प्रभृति देवता की तथा अन्तर्यामी परमपुरुष भगवान के आराधना तथा आराधित भगवान से फल लाभ-यही 'यज' प्रभृति धातुवों के अर्थ-यागादि शब्द वाच्य। 'इन्ही से क्रिया फल सम्पन्न होता है'-इसी सूत्र में, यही सिद्धान्त प्रतिपादित होगा। अतएव, वेदान्त शास्त्र समूह जब परिनिष्पन्न (स्वतः सिद्ध) ब्रह्म-प्रतिपादित कर रहे हैं, तब तो, उनके अनन्त, स्थिरतर फलदान की शक्ती अनुमित—हो रही है। और चातुर्मास्यादि याग के स्थान पर भी बात यह है कि,-(शास्त्र ही जब ज्ञान सम्बन्ध रहित-) मात्र कर्म फल को ('क्षय शील') कहिके उपदेश किये हैं, तब तो, समझना चाहिये कि, 'वायु तथा अन्तरिक्ष यह दोनों अमृत'-इसमें 'अमृतत्व'-अर्थ जैसे आपेक्षिक-नित्य नहीं'।

अतएव, जिस हेतु से ज्ञान सम्बन्ध रहित कर्म का फल अल्प तथा अस्थिर पक्षान्तर में ब्रह्मज्ञान के फल अनन्त-स्थिर, तब तो उस ब्रह्म ज्ञान के स्वरूप रूपणार्थं ब्रह्म-विचार करने की आवश्यकता व्यवस्थापित भयी।

श्री श्री भाष्यानुवादे प्रथम अधिकरण समाप्तम्।

तात्पर्य्य,--'अधिकरण'--मीमांसाशास्त्रोक्त एक प्रकार सिद्धान्त प्रणाली। प्रत्येक अधिकरण में पाँच अवयव होते हैं। यथा—

विषयःसंशय श्चैव विचारो निर्णयस्तथा।
प्रयोजनेन सहित मेतत्स्यादंगपञ्चकम् ॥ अर्थात्

(१) विषय-विचारार्ह वाक्य या वाक्यार्थ, (२) संशय-विषयों पर अनुकूल तथा प्रतिकूल चिन्ता, (३) विचार,--सिद्धान्त के पूर्व पक्ष उत्थापन (४) निर्णय--प्रकृत सिद्धान्त स्थापन, (५) प्रयोजन--सिद्धान्त के फल या उद्देश्य।

यह प्रथम अधिकरण के विचार्य्य विषय--'ब्रह्म मीमांसा'। संशय--ब्रह्म मीमांसा को आरम्भ करना--सो कर्तव्य है या नहीं ?। विचार--स्वत: सिद्ध वस्तु बोधन में जब शब्दों के सामर्थ्य नहीं है, तब तो ब्रह्म--बोधक वेदान्त के भी प्रामाण्य नहीं है। निर्णय--नहीं--स्वत: सिद्ध वस्तु बोधन में भी शब्दों के सामर्थ्य निश्चय है, अतएव, ब्रह्म बोधक--वेदान्त के भी प्रामाण्य है ही। प्रयोजन--अतएव, ब्रह्म मीमांसा शास्त्र को आरम्भ करना उचित ही है,--मोक्ष लाभ ही विशिष्ट फल।

इसी प्रकार से इस शास्त्र के प्रत्येक अधिकरण ही में उल्लिखित पांच प्रकार के अवयवों की योजना करनी चाहिये।— श्री श्री शुभमिति--भाद्र शुक्ला तृतीया। ४-२६-४६